❀ श्रीगुरुदवाय नमः ❀

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम्

श्रीवनमालिप्रार्थनाशतकम्

श्रीराधारमणशतकम्

श्रीसख्य-सुधाकरः

मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथंचम् ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम् ।।
मित्रभाव से मो शरण, आवै जो नर कोय ।
त्यागूँ नहिं कौनिहु दशा, दोषवन्त हू होय ।।

महाकवि : श्रीवनमालिदासशास्त्री

श्रीकृष्णानन्द स्वर्गाश्रम
वृन्दावन

।। सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम् ।।

श्रीगुरुदेवाय नमः
श्रीराम-कृष्णौ विजयेतेतमाम्
श्रीमन्माध्व-गौडेश्वरौ विजयेतेतमाम्

श्रीसख्य-सुधाकरः

रचयिता—
निखिल-शास्त्र-पारावाराऽवारपारीण-सख्याधताराऽष्टोत्तरशत-
स्वामि-श्रीकृष्णानन्ददासजी-महाराजानां शिष्यः श्रीगोपाल-
चम्पू-श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू-श्रीपद्यावली-श्रीभक्तिग्रन्थ-
माला-श्रीस्तवरत्ननिधि-प्रभृतिप्राचीन-ग्रन्थानां
टीकाकारः काव्य-वेदान्ततीर्थो घटिका-
शतको महाकविः

श्रीवनमालिदासशास्त्री

स एव अनुवादकः संशोधकः प्रकाशकश्च

निछावर

वि० स० 2073 नवम्बर 2016

॥ सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम् ॥

ग्रन्थकार को धन्यवाद

यह "श्रीसख्य-सुधाकर" ग्रन्थ, लीला-पुरुषोत्तम, भक्त-वाञ्छाकल्पतरु व्रजविहारी श्रीरामकृष्णसख्य-प्रणयविह्वलित भक्तगणचकोरार्थ, तद्विरहो-द्दीपक, प्रेमोन्मादक, विविधच्छन्दावलिलक्षण-लक्षित, अष्टोत्तरद्विशत-श्लोकात्मक प्रेममय-संगीत है; तथा महाकवि की श्रीहरिप्रणय-विह्वलता, परमदैन्यता, सुधा-मधुर-भाषिता, सख्यरस-रसिकता एवं विषयगन्ध-अरोचकता का अनुपम भावोद्गार है।

किंच अखण्ड सौन्दर्यसागर छटा-छलकित, सख्यरसोन्माद विकसित मुखारविन्द श्रीव्रजराजकुमार के साथ खेलनार्थ अनूठा मोहिनीमन्त्र है।

किं बहुना, मुझ अल्पज्ञ की दृष्टिकोण से जो कुछ भी प्रशंसा की जाय, वह भी, सहस्रांशुदीपक निदर्शनवत् न्यून ही है।

प्रेमी-पाठक चकोरगण ही इस प्रेमाकर सुधाकर का नयन-पात्रन सों पान कर स्वयं ही समझ जायेंगे। 'अस्तु' श्रीकृष्णविरह संतप्त मेरे हृदय में श्रीसद्गुरु-चरणकमलोपसत्ति प्रारम्भकाल में ही, एतादृश सुधाकर के अवलोकन की महती उत्कण्ठा थी, वह चिराशा, चिरञ्जीव मेरे लघु भ्राता श्रीवनमालिदास शास्त्री (का० वे० तीर्थ) ने आज हमें उसका प्रदर्शन कराकर पूर्ण कर दी, इससे हमें परम सन्तुष्टता है।

अतः इन्हें सहर्ष आशीर्वादपूर्वक धन्यवाद देते हैं कि, इनकी यह प्रेमकृति, अजर अमर रहे और फिर भी ये, हमें अपनी ऐसी ही अनुपम कृतियों से सदैव सन्तुष्ट करते रहें।

श्रीरामहरिदास शास्त्री वेदान्ताचार्य
रमणरेती, वृन्दावन

१५-६-१९५० ई. स.

ग्रन्थकार की प्रशस्ति

लेखक—कुँवर श्रीहरिश्चन्द्रदेव वर्मा "चातक"

'सख्य-सुधाकर' के दर्शन कर, शीतल हृदय हुआ मेरा।
'भक्तनाम-मालिका' पहन कर, मिटा भेद मेरा तेरा॥
'श्रीवनमालिदास' बन पहले, पुनः सखा का पद पाया।
भव से तप्त-प्राणियों के हित, 'सख्य-सुधाकर' प्रगटाया॥

श्रीगुरुदेवाय नमः

श्रीराम-कृष्णौ विजयेतेतमाम्

श्रीमन्माध्व-गौडेश्वरौ विजयेतेतमाम्

उपोद्घातः

सख्यसुधाकरनामा, ग्रन्थोऽयं विरचितो येन ।
अस्योपोद्घातोऽपि, प्रमाणैर्विलिख्यते तेन ॥

सख्य-रस वह रस है कि, जो, अनेक भावरूप प्रसूनपुञ्ज में व्याप्त है, यह अनन्त श्यामसुन्दररूप स्वातीमेघ का वह शारदीय बिन्दु है कि, जो कहीं कर्पूर, कहीं मुक्ता और कहीं गोरोचन आदि विभिन्न नामरूपों से शृङ्गारादि नाना रसों के मिष, अपनी समुज्ज्वल कीर्तिकौमुदी का प्रसार कर रहा है । बिना सख्य अर्थात् मैत्री के, प्रेम की स्थिति ही नहीं । यह वह अपूर्व आकर्षण है कि, जो, दो भिन्न-भिन्न आत्माओं को एक कर देता है, यह वह दिव्यअमोघ मन्त्र है कि, जो, स्त्री-पुरुष सदृश दो विजातीय योनियों का भेद मिटाकर, प्रेम के अमर लोक में, उनके सम्बन्ध को स्थायित्व प्रदान करता है, यह वह अलौकिक शक्ति है कि, जिसके प्रभाव से समस्त दिव्यादिव्य-लोक अवस्थित हैं, अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि विराजमान है, यह वह दिव्य-अमृत है कि, जो, गृह-जीवन, जानपदजीवन, राष्ट्रजीवन एवं विश्वजीवन को जीवन प्रदान करता है । यदि इसकी शक्ति तिरोहित हो जाय तो, संसार में द्वेष, कलह, छल, अविश्वास, हिंसा एवं अशान्ति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाय, लोकानुबन्ध ही छिन्न-भिन्न हो जाय, अपिच सृष्टि ही नष्ट हो जाय । सख्य-रस वह ईश्वरीय तत्त्व है कि, जिसका ऐक्य बन्धु तथा संघ सहचर है । इसी हेतु वेद-भगवान् उसे रस-रूपेण निरूपण करते हैं, यथा—**"रसो वै सः, ब्रह्मैव रसः", "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"** ।

अतएव यही वह अलौकिक चमत्कृत पदार्थ है कि, जो, संसार में प्रेम नाम से प्रसिद्ध है । अस्तु, वस्तुतस्तु यही मूल-रस, आदि-रस अथवा रसराज है । जो किसी ने शृङ्गार, किसी ने करुण को, जैसे महाकवि भवभूति ने—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्, भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-,नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ।।

तथा किसी ने अद्भुत को प्रधान वा रसराज माना है, यथा—

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।।
तस्माददभुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।"

सो सख्यातिरिक्त नव रसों में जानना चाहिये, यही वेदोदित सिद्धान्त है। जीव, ईश्वर का समलिङ्ग, समाकार, अंशत्वेन सहज सखा हैं। प्रत्येक जीव के अन्तरात्मा में इस दिव्य-रस की धवल-धारा बह रही है। यह वह ईश्वरीय सम्बन्ध है कि, जो, निर्विकल्प, अर्थात् बिना कल्पना अथवा भावना के स्वतःसिद्ध हैं। यह वह नैसर्गिक भाव है कि, जिसमें कृत्रिमता की आवश्यकता नहीं। उसी आत्म-स्वरूप परिज्ञान को, वैदिक परिभाषा में सख्य-रस कहते हैं। उसके अधिष्ठातृदेव सच्चिदानन्दकन्द परमपुरुष, परमात्मा, परब्रह्म श्रीहरि ही हैं।

अब जीव-ईश्वर के नित्य सख्य सम्बन्ध को, वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता, पुराण, इतिहासादि द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।।

(ऋग्वेद २।३।१७ मं० ५)

जीव और ईश्वररूप दो पक्षी, एक ही शरीररूप वृक्ष में रहते हैं। वे दोनों, समान गुणवाले आपस में सखा (मित्र) हैं, उन दोनों में से एक, जीवरूपी पक्षी तो, इस शरीररूप वृक्ष के शुभ-अशुभ कर्मफलों को स्वादिष्ट समझकर भोग करता है। दूसरा ईश्वररूप पक्षी, इस वृक्ष के कर्मफलों को न भोगता हुआ, परम प्रकाशमानरूप से विराजमान रहता है। ऋग्वेद में, अपने नित्य-सखा परमेश्वर का बुलाना भी लिखा है—

मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे (ऋ० १।७।१२।५)

अर्थात् उस अनन्त बलवाले परमात्मा को हम सखा होने के लिये बुलाते हैं—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानसानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।।

(यजुर्वेद अ० ३२ मं० १०)

वह श्रीहरि हमारे बन्धु, अर्थात् भ्राता हैं, वह हमारे पिता और वही हमारे विधाता, अर्थात् नियामक एवंच समस्त विश्व के ज्ञाता हैं, उनके तृतीय, अर्थात् दिव्यधाम में (त्रिपाद-विभूति के सर्वोत्कृष्ट पद में) अमृत मानस, अर्थात् मुक्त हुए दिव्यजीव प्राप्त होते हैं—

त्वं नः सोम ! विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः, न रिष्यते त्वावतः सखा ।

(ऋ० अष्टक ७ अ० ७ वर्ग १२)

हे सोम ! (कान्तिमान्) हे राजन् ! (स्वयं प्रकाशमान्) श्रीहरे ! आप, पापी और दुष्टों से हमारी रक्षा करें । आपका सखा कभी नष्ट नहीं होता है । सामरहस्य में यह श्रुति भी आई है कि—**"अंशाश्चैते यस्य नित्यं सखायः"**, अर्थात् ये सब जीव, ईश्वर के अंश एवं नित्य सखा हैं ।

अथर्ववेद की पिप्पलीय शाखा में तो यहाँतक लिखा है कि—**"ॐ क्वचित्समये सनकादयः शेषं प्रति जग्मुः । कथं नु भगवन् पुरुषं वेदज्ञा भक्त्या पश्यन्ति प्राप्नुवन्ति तेन सह क्रीडन्ति । स होवाच सख्यरसेनैव । श्रुत्वा पुनरूचुः भगवन् क्व स रसः प्राकृतोऽप्राकृतो वा । स होवाच अप्राकृतः प्रकृतिपरश्च सख्यस्यैव बहूनि पर्यायनामानि सन्ति । विश्वासः श्रद्धा । श्रद्धाविश्वासप्रकृतिः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । तद्ब्रह्म सख्यरसात्मकः । रसो वै सः । यस्य दास्यरसो वै पादः यस्य शान्तरसो वै शिरः । वात्सल्यः प्राणः । शृङ्गारो बाहू । सख्यरस आत्मा । इत्यथर्वणवेदीय-पिप्पलीय-शाखायां सख्योपनिषत् ।"**

भावार्थ यह है कि, किसी समय सनकादिक, शेषजी के पास गये और उनसे पूछा कि, हे भगवन् ! वेदज्ञ-लोग पुरुषोत्तम को किस प्रकार देखते हैं, प्राप्त करते हैं और साथ ही क्रीड़ा करते हैं ? शेषजी ने कहा कि, सख्य रस से ही । सनकादिक, शेषजी का ऐसा उत्तर सुनकर फिर बोले कि, भगवन् ! वह रस कौन-सा है, प्राकृत अथवा अप्राकृत (दिव्य) है । शेषजी ने कहा कि, वह रस, अप्राकृत, अर्थात् प्रकृति से परे है, ऐसे सख्य के ही बहुत से पर्यायवाचक नाम हैं, यथा—विश्वास, श्रद्धा, श्रद्धाविश्वासप्रकृति । सत्य-ज्ञानरूप जो अनन्त ब्रह्म है, वह, सख्य रसात्मक है । वह रस, श्रीहरि ही हैं । जिनका दास्य-रस पाद है, शान्त-रस सिर है, वात्सल्य-रस प्राण है, शृङ्गार-रस बाहु और सख्य-रस आत्मा है । ब्रह्मसूत्र में भी लिखा है कि—**"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च"**, अर्थात् जिन भोगों को ईश्वर भोगता है, उन्हीं को उसके नित्यसखा जीव भी भोग सकते हैं । श्रीगीताजी में भी भगवान् ने कहा है कि—**"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।" "समानो धर्मो**

यस्य स सद्धर्मः सखा तस्य भावं सख्यमित्यर्थः", अर्थात् इस ज्ञान का आश्रय लेकर, भक्तलोग मेरे सख्यभाव को प्राप्त हो गये। श्रीमद्भागवत (७-७-३८) में श्रीप्रह्लादजी ने भी यही कहा है कि—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-, रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां, सामान्यतः किं विषयोपपादनैः॥

हे असुरबालको! श्रीहरि की उपासना में कौन-सा बड़ा भारी परिश्रम है? क्योंकि वह, अपने हृदय में आकाश के समान विद्यमान है, वह, अपनो आत्मा है और प्राणिमात्र का सखा है। तब उसको छोड़कर, सामान्यतः विषयों के बटोरने में क्या लाभ है? इस श्लोक में **'देहिनां'** इस बहुवचन के कहने से, प्राणीमात्र के नित्य सख्य-सम्बन्ध का ही प्रतिपादन किया है। एकादश स्कन्ध में भिक्षु वाक्य भी इस प्रकार का है कि— **"हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे"** परमप्रकाशमय, चिन्मय, मेरा सखा, वह परमात्मा, सब कुछ देखता है। चतुर्थ स्कन्ध में भी श्रीनारदजी के वाक्य से भी यही भाव द्योतित होता है कि, **"तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान्"** उस पुरञ्जनी के चितापर बैठनेपर पूर्व का कोई आत्मवान् ब्राह्मण सखा आया। यहाँपर भी **"पूर्वतर"** पद से जीव-ईश्वर का अनादि सख्य-सम्बन्ध प्रकाशित होता है। उसी पुरञ्जनोपाख्यान में, अन्तकाल में स्त्री में मन होने से स्त्री हुए पुरञ्जन के प्रति कहे हुए भगवद् वाक्य भी यही प्रतिपादन करते हैं कि—

"जानासि किं सखायं मां, येनाग्रे विचचर्थ ह।
अपि स्मरसि चात्मान-, मविज्ञातसखं सखे!॥"

हे सखे! हमको, क्या तुम अपना सखा जानते हो, जिसके साथ पहले विचरे थे, और क्या 'अविज्ञात' नामक जिसका सखा है वह मैं हूँ, ऐसा तुम अपने को भी जानते हो? यहाँपर स्त्री रूप में विद्यमान पुरञ्जन के प्रति भगवान् ने "सखे" यह पुरुष का सम्बोधन देकर, जीव का नित्य पुरुषत्व स्थापित किया है, स्त्री रूप की प्राप्ति तो कल्पनापर निर्भर है। आगे भी कहा है कि—**"हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ"** हे आर्य बन्धुवर! हम और तुम दोनों मानस-सरोवर के रहनेवाले हंस हैं, दोनों जन, सखा हैं और षष्ठ स्कन्ध में भगवत्प्रार्थना करते हुए दक्षप्रजापति ने भी कहा है कि—(भा० ६।४।२४)

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः, सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन्।
गुणो यथा गुणिनोऽव्यक्तदृष्टेस्तस्मै महेशाय नमस्करोमि॥

जैसे रूप आदि विषय, अपने को प्रकाशित करनेवाले इन्द्रिय आदिक के प्रकाशकत्व को नहीं जानते हैं, वैसे ही इस शरीर में निवास करनेवाला सखा-जीव, वहाँपर ही निवास करनेवाले अपने सखा ईश्वर के अन्तःकरण-प्रेरणा करना इत्यादि सखाभाव को नहीं जानता है, उसी महेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीगोस्वामीजी भी कहते हैं कि—

चौपाई—राम प्राणप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥

इत्यादि प्रमाणों से जीव ईश्वर का, स्वाभाविक नित्यसख्य सम्बन्ध जाना जाता है, इसी सख्य सम्बन्ध के ज्ञान से संसार की निवृत्ति होती है। श्रुति भी कहती है कि--

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(तृतीय मुण्डक, खण्ड १ मं० ३)

जिस समय यह जीव, ईश्वर का दर्शन करता है, तब विद्वान्, पुण्य और पापों को छोड़कर, प्रकृति से बने हुए इस देह और प्रकृति के सम्बन्ध से रहित होकर, परम समता (मित्रता) को प्राप्त होता है। उस परमात्मा का वर्ण, स्वर्ण के समान मनोहर है, तथा वह, जगत् का कर्ता एवं ब्रह्मा का भी जनक है। यदि कहीं जीव का शक्ति शब्द से वर्णन हो तो वहाँ सामर्थ्य अर्थ समझना चाहिये; क्योंकि जीव भी जगत् की उत्पत्ति में भगवान् का सामर्थ्य रूप है। इसके बिना भी जगत् की रचना नहीं हो सकती। शब्द के स्त्री लिङ्ग होने से वाच्य, स्त्री पदार्थ नहीं होता। जैसे दार और देवता शब्दों का वाच्य, पुरुष और स्त्री नहीं होता है। किञ्च **"एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म"** इत्यादिक जीव-ईश्वर का अभेद प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी सभी, सख्य सम्बन्ध में ही संघटित हो जाती हैं। इसी अभेद का प्रतिपादन करते हुए बालमीकीय में श्रीरामजी ने कहा है कि **"प्रियः प्राणसमो वश्यो भ्राता चापि सखा च मे। सौमित्रिर्मम विदितं प्रधानमित्रम्। अहमप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते"** लक्ष्मण कुमार हमारे प्राणसम प्रिय हैं; सदा वशवर्ती, हमारे भ्राता तथा सखा हैं, तथा सुमित्रानन्दन हमारे प्रसिद्ध मित्र हैं। लक्ष्मणजी से यह भी कहा है कि—हे लक्ष्मण! यदि भरत का अप्रिय करोगे तो, तुमने हमारा ही अप्रिय किया ऐसा जानना, अर्थात् द्वैताऽद्वैत प्रतिपादक समस्त श्रुतियों की एक वाक्यता भी सख्य सम्बन्ध में ही संघटित

हो जाती है। श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी के साथ अपना सर्वथा अभेद दिखाते हुए कहा है कि—

एतेन चात्यद्‍भुतदर्शनानि, शरैर्जनस्थानकृतालयानि।
चमुर्दशान्यात्मवरायुधानि, रक्षःसहस्राणि निसूदितानि॥

इन्हीं श्रीलक्ष्मणजी ने अद्भुत दर्शनवाले, जनस्थान में निवास करनेवाले, अपने श्रेष्ठ-श्रेष्ठ आयुध धारण करनेवाले, चौदह हजार राक्षसों को तनिक देर में बाणों से मार गिराया। यदि कोई कहे कि, यदि जीव का नित्यसख्य सम्बन्ध है तो वह भूल कैसे गया? इसका यह समाधान है कि, माया से मोहित होनेपर जीब को इसका विस्मरण हो गया है, जैसे कोई गले में पहनी हुई मणिमयी माला को यदि भूल जाय तो, दूसरी जगह ढूँढता है, श्रुति भगवती भी इसी बात का प्रतिपादन करती है कि, "**समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः**" **मुण्डकोपनिषद्**। और मित्र-भाव से भजन करनेवाले व्रजवासियों की प्रशंसा करते हुए एवं उन्हीं की चरणरज की आकांक्षा करते हुए, श्रीब्रह्माजी ने भी कहा है कि— (भा० १०।१४।३२)

"अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥"

और जो व्यक्ति, मित्रभाव से श्रीहरि का भजन करता है, वह, चाहे कितना भी दोषी पहले हो चुका हो, परन्तु श्रीहरि, उसका कभी भी त्याग नहीं करते, इसी तात्पर्य को श्रीरामजी ने विभीषण-शरणागति में व्यक्त कर दिखाया है, यथा—

"मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्॥"

श्रीसीताजी ने भी इसी अर्थ की अभिव्यक्ति करते हुए, रावण के प्रति कहा है कि, "**तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि**" हे रावण! यदि तू जीना चाहता है तो, श्रीराघवेन्द्रसरकार से मित्रता करले। विशेष क्या कहें? सख्य-रस का महान् उत्कर्ष दिखाते हुए, लङ्का में सुवेल पर्वतपर मित्रों की गोष्ठी में विराजमान श्रीरामजी ने तो, सुग्रीव के प्रति यहाँतक कह दिया कि, "**त्वयि किञ्चित्समापन्ने किं कार्यं मम सीतया**" हे मित्र सुग्रीव! यदि तुमपर किञ्चित् भी आपत्ति आजाती तो, मुझे, सीता से क्या प्रयोजन रह जाता? इस प्रसंग का विस्तारपूर्वक वर्णन तो पाठकगण सख्य-सुधाकर के १७८ के श्लोक की व्याख्या में देख लें। और जिस प्रकार एक ही सुवर्ण

का गोला अग्नि में गला के ढाँचे में ढाल दो तो वैसा ही हो जाता है, इसी प्रकार एक ही सख्य-रस, विविध शृङ्गार, वात्सल्यादि-रसरूप में परिणत है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए **"सख्यसिन्धुचन्द्रोदय"** कर्ता सख्य-पथ-प्रदर्शक-भास्कर श्रीरामजी के नित्य-सहचर निखिल-शास्त्र-पारावार-पारदृश्वा स्वामि श्रीअवधशरणजी महाराज ने भी कहा है कि—

"यथा चैकं स्वर्णं निखिलवलयाद्याभरणतां,
द्रुतं वह्नौ पातात् परिणमति दिग्व्योमसदृशम्।
तथैवैकं सख्यं विविधरसरूपे परिणतं,
क्रमाद् भेदो ह्येषां व्यपदिशति नैमित्तिकतया॥"

अतएव सख्य-रस में ही सब रसों का अन्तर्भाव भी हो सकता है। अब सख्य-रस में ही सब रसों का समावेश वाल्मीकीय रामायणद्वारा ही दिखलाते हैं—यथा-**सख्ये वात्सल्यम्**—

"मया पार्श्वे सधनुषा, गुप्तस्य तव राघव!।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं, कृतान्तस्येव तिष्ठतः॥" इति
"अनुगच्छति काकुत्स्थं, भ्रातरं पालयन् वने।
यं दृष्ट्वा राघवो नैव, वृत्तमार्यमनुस्मरेत्॥" इति

श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि, हे राघव! मैं, धनुष लेकर आपके समीप में जब रक्षा करूँगा तब, काल के समान खड़े हुए मेरे सामने, कौन अपना पराक्रम दिखा सकेगा? श्रीजानकीजी का हनुमान्‌जी के प्रति वचन है कि—हे पवनतनय! जो लक्ष्मण, अपने भाई राघवेन्द्रजी की रक्षा करते हुए वन में पीछे-पीछे आये और जिनको देखकर श्रीरामजी ने अपने पिता का भी स्मरण नहीं किया। **यथा सख्ये दास्यम्**—

"भवाँस्तु सह वैदेह्या, विहरस्व यथासुखम्।
अहं सर्वं करिष्यामि, जाग्रतः स्वपतश्च ते॥" इति
"अहं श्रीरामचन्द्रस्य, सखा दासोऽस्मि राक्षस!॥" इति

अब सख्य-रस में दास्य का समावेश दिखाते हैं। बन में पीछे-पीछे जानेवाले लक्ष्मणजी कहते हैं कि, हे राघव! आप, श्रीवैदेहीजी के सहित सुखपूर्वक विहार करें। मैं, जागते और सोते हुए, आपकी सब प्रकार की सेवा करूँगा। श्रीसुग्रीवजी ने कहा है कि, हे रावण! मैं, श्रीरामचन्द्रजी का सखा और दास भी हूँ। इससे सख्य-रस में दास्य-रस भी आ गया।

"अनुजस्त्वेष मे भ्राता, शीलवान् प्रियदर्शनः।
श्रीमानकृतदारश्च, लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥

अपूर्वी-भार्यया चार्थी, तरुणः प्रियदर्शनः।
अनुरूपस्य ते भर्ता, रूपस्याऽस्य भविष्यति ॥"

ततो लक्ष्मणवचनं यथा—

"कथं दासस्य मे दासी, भार्या भवितु मिच्छसि।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि !, भार्या भव यवीयसी ॥"

इति सख्ये हास्यम्। श्रीरामजी ने शूर्पणखा से कहा कि—ये हमारे छोटे भैया हैं, बड़े शीलवान् और प्रिय-दर्शन हैं, ये, अपूर्व अर्थात् अद्भुत भार्या चाहते हैं और नवकिशोर हैं, तुम्हारे अनुरूप भर्ता हैं। लक्ष्मणजी ने शूर्पणखा से कहा कि—अरी बावरी ! तू, मुझ दास की दासी क्यों होना चाहती है ? देख, हमारे बड़े भाई श्रीरामजी की यदि तू भार्या बन जायगी तो, छोटी महारानी तो भी कहाएगी। यहाँपर सख्य में हास्य-रस है।

"कथं दाशरथौ, भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं, जीवितुं वा सुखानि वा ॥"

इति सख्ये करुणः। श्रीलक्ष्मणजी निषादराज के प्रति बोले कि, श्रीजानकीजी के सहित श्रीरामजी को भूमीपर सोते हुए देखकर, मुझको निद्रा कैसे आ सकती है ? अपने जीवन तथा सुख की प्राप्ति की इच्छा भी मैं नहीं कर सकता। इस वचन से सख्य-रस में करुण-रस आ गया।

"दास्यास्ते कृपणाया मे सखे ! दर्शय सन्निधिम्" इति,
"मत्तः प्रियतरो नित्यं भ्राता रामस्य लक्ष्मणः।"

—इति शुद्धश्रृङ्गारे सख्यम्। तथा च दूरबन्धुर्गतोहमिति कालिदासोक्तेः श्रृङ्गारे सख्यम्। श्यामसुन्दर-विरह-परायणा श्रीराधिकाजी कहती हैं कि, हे सखे ! तुम, मुझ दीन अपनी दासी को शीघ्र ही दर्शन देने की अनुकम्पा करें। श्रीरामविरहार्ता श्रीजानकीजी भी अंजनी-नन्दन से कहती हैं कि, श्रीरामजी को छोटे भाई लक्ष्मणजी मुझसे भी अत्यन्त प्रिय हैं। इन दोनों उक्तियों से शुद्धश्रृङ्गार में सख्य-रस ही प्रधान है और "मेरा प्यारा सखा बहुत दूर है" ऐसे नायिका के प्रति, नायक के वचनों का कथन करवाते हुए, महाकवि कालिदासजी ने भी श्रृङ्गार में सख्य की प्रधानता दिखाई है। श्रृङ्गार की अपेक्षा, सख्य की अधिकता का वर्णन करती हुई तारा कहती है कि—

"रुमां मां कपिराज्यं च, धनधान्यवसूनि च।
रामप्रियार्थं सुग्रीव-, स्त्यजेदिति मतिर्मम ॥"

श्रीसुग्रीवजी, श्रीरामजी को प्रसन्न करने के लिये, रुमा को, मुझको किष्किन्धा के राज्य को, धन-धान्य प्रभृति को सहर्ष त्याग सकते हैं, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। श्रीराधाजी भी सख्य-रस में ही प्रतिक्षण संकोच रहित सुखानुभव का अनुमान करती हुई, सुबल सखा के प्रति कहती हैं कि—

"अपि गुरुपुरस्त्वं दोस्तम्भौ प्रसार्य निरर्गलं,
वितुलपुलकौ धन्यः स्वैरी परिष्वजसे हरिम्।
प्रणयति तव स्कन्धे चाऽसौ भुजं भुजगोपमं,
क्व सुबल! पुरा सिद्धक्षेत्रे चकर्थ कियत्तपः॥"

हे सुबल! तुम धन्य हो, क्योंकि असंकुचित भाव से गुरुजनों के सामने भी विपुल-पुलकशाली दोनों भुजाओं को फैलाकर, अपनी इच्छापूर्वक श्रीकृष्ण का आलिङ्गन करते हो, और श्रीकृष्ण भी तुम्हारे स्कंधपर सर्प-सदृश दोनों भुजाओं को स्थापित करते हैं। अतएव तुम यह बतलाओ कि, तुमने पहले किस सिद्धक्षेत्र में कितनी तपस्या की है, जिससे कि तुमको यह सौभाग्य मिला है? मित्रों में, भगवान् का कितना अनन्य प्रेम है, श्रीराघवेन्द्र वचन से दिखाते हैं, यथा—

"धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण!।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिश्रृणोमि ते॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चाऽपि मानद!।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत्कुरुतां शिखी॥"

श्रीलक्ष्मण के प्रति श्रीरामजी बोले कि, हे मित्र लक्ष्मण! मैं, तुमसे प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि, धर्म, अर्थ, काम, पृथिवी आदि सबको ,मैं, आप सबके लिये ही चाहता हूँ। हे मानद! भरत, शत्रुघ्न और तुमको छोड़कर, यदि कोई भी सुख मुझे प्राप्त होता हो तो, उस सुख को, अग्नि भस्म कर दे, अर्थात् मित्रों के बिना, मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। श्रीकृष्णचन्द्र का मित्रों से कैसा प्रेम है, उसको उनके ही श्रीमुखवचन से दिखाते हैं, यथा—

"सहचरनिकुरम्बं भ्रातरार्य! प्रविष्टं
द्रुतमघजठरान्तः कोटरे प्रेक्षमाणः।
स्खलदशिशिरवाष्पक्षालितक्षामगण्डः
क्षणमहमवसीदन् शून्यचित्तस्तदाऽऽसम्।"

अर्थात् श्रीबलरामजी से श्रीकृष्णजी बोले कि, हे दादा भैया! सहचरगणों को जब मैंने शीघ्र ही अघासुर के उदररूप कोटर (खोंतर) के भीतर पहुँचे हुए देखा, तब मेरे दोनों नेत्रों से गरम-गरम आँसुओं की

धारा निकल कर, मेरे कपोलों को धोती हुई, कपोलों को क्षीण करने लगी, और उस क्षण में, मैं इतना दुखी हुआ कि, मुझे जगत् शून्य प्रतीत होने लगा ।

अब सखाओं का श्रीकृष्ण में कैसा प्रेम है उसको दिखाते हैं, यथा—

"त्वं नः प्रोज्झ्य कठोर ! यामुनतटे कस्मादकस्माद् गतो
दिष्ट्या दृष्टिमितोऽसि हन्त निविडाश्लेषैः सखीन् प्रीणय ।
ब्रूमः सत्यमदर्शने तव मनाक् का धेनवः के वयं
किं गोष्ठं किमभीष्टमित्यचिरतः सर्वं विपर्यस्यति ॥"

अर्थात् श्रीदामा, कृष्ण से बोले कि, हे कठोर ! तुम, हमको यमुना के तट पै छोड़कर अकस्मात् क्यों चले गये ? यह बड़े सौभाग्य का विषय है कि, फिर तुमने आकर दर्शन दिया । जो हुआ सो हुआ । अब हम सब सखाओं को, इस समय भुजाओं में भरके, दृढ़ आलिङ्गनद्वारा सन्तुष्ट कर दो । हे सखे ! हम सत्य कहते हैं कि, यदि तुम्हारा अल्पकाल भी दर्शन नहीं होता है तो, क्या धेनुगण, क्या हम, क्या गोष्ठ और क्या अभीष्ट, यह सब, विपरीत ही हो जाते हैं, अर्थात् आपके दर्शन के बिना, हम सबको कुछ भी अच्छा नहीं लगता ।

मित्र, चार प्रकार के होते हैं—सुहृद्, सखा, प्रियसखा, प्रियनर्म-सखा ।

१—सुहृद् उनको कहते हैं कि, जिनका सख्य, किञ्चित् वात्सल्य लिये हुए होता है, एवं वे, श्रीकृष्ण की अपेक्षा अवस्था में कुछ बड़े होते हैं, और शस्त्र धारणकर, दुष्टों से, श्रीकृष्ण की रक्षा करने में तत्पर रहते हैं ।

२—सखा उनको कहते हैं कि, जो, अवस्था में श्रीकृष्ण से कुछ छोटे हैं, और जिनमें दास्य-प्रीति का लेश वर्तमान है ।

३—प्रियसखा उनको कहते हैं कि, जो, श्रीकृष्ण की तुल्य अवस्था के हैं, और केवल सखा-भाव को ही धारण करते हैं ।

४—प्रियनर्म-सखा उनको कहते हैं कि, जो, श्रीकृष्ण का श्रीराधिकाजी से संयोग कराकर, शृङ्गार-रस के सहायक हैं । इन चारों प्रकार के सखाओं के नाम, रूप, गुण, लीला और श्रीकृष्ण-विषयक प्रेम आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन तो, हमारे श्रीगुरुदेवद्वारा रचित—"श्रीराम-कृष्ण लीलामृत" ग्रन्थ के प्राक्कथन में सुन्दरतापूर्वक विद्यमान है । विज्ञजन उसी में से देखलें । क्योंकि, हमारे उपोद्घात का बहुत विस्तीर्ण रूप हो जायगा ।

अस्तु, पूर्व-पूर्व महापुरुष भी सख्य-भाव से ही, श्रीहरि की प्राप्ति कर गये, **यथा—रहस्य-रामायणे श्रीराम-वाक्यम्—**

"वसिष्ठो गौतमोऽत्रिश्च विश्वामित्रोऽथ नारदः ।
शुकः पराशरश्चैव ब्रह्मपुत्राः सहस्रशः ।।
सख्य-भावेन मां प्राप्ता अगस्त्याद्या महर्षयः ।।" इति ।।

"चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः" "सख्यं तदा कर्तुमियेष ताभ्याम्" "दासोऽहं कौशलेन्द्रस्य" इत्यादि भागवतीय वाल्मीकीय वचनों से श्रीहनुमान्जी का भी दास्यमिश्रित सख्य-भाव था । लोमशसंहिता में तो श्रीरामजी ने यहाँतक कह दिया है कि—

"यथैव तरुबीजस्थो महास्कन्धः प्रशाखवान् ।
तथैव सख्यबीजस्थः शृङ्गारादिरसोऽखिलः ।।

शृङ्गाररूपो ह्यहमेक एव, परात्परः सर्वशरण्यतास्पदः ।
उभौ च बाहू परिकीर्तितौ मे, सखा सखी चोत्तमवेषधारिणौ ।।
दासश्च पादः परिकीर्तितो मे, शान्तः शिरश्चैव वदन्ति वेदाः ।
वात्सल्यप्राणो हृदयं मनश्च, तथापि सख्यः परतः परात्मा ।।
सख्यात्परो नैव रसः परात्परो, वेदेषु सर्वेषु न निश्चितं मुने ! ।
येनैव चैक्यं मम प्राप्य जीवः. सुमोदते ब्रह्मपदे मनोहरे ।।"

तात्पर्य यह है कि, जैसे पीपल के छोटे-से बीज में, बड़ा भारी वृक्ष अन्तर्हित है, इसी प्रकार सख्य-रस में, शृङ्गारादि सम्पूर्ण-रस हैं, और यह निश्चित सिद्धान्त है कि, सख्य से श्रेष्ठ और कोई रस नहीं है। क्योंकि, जिसमें भगवान् के साथ अभिन्न व्यवहार होता है । वस्तुतः, सख्य और शृङ्गार की तो एकता ही है, यथा—

तत्रैव—**"सख्यशृङ्गारयोरैक्यं तत्त्वतो विद्धि वै मुने ! ।"**

श्रीरूप गोस्वामीजी ने तो "श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु" में, यहाँतक कह दिया है कि—

"प्रेयानेव भवेत्प्रेयानतः सर्वरसेष्वयम् ।
सख्यसम्पृक्तहृदयैः सद्भिरेवाऽनुबुध्यते ।।
द्वयोरप्येकजातीयभावमाधुर्यभागसौ ।
प्रेयान् कामपि पुष्णाति रसश्चित्तचमत्कृतिम् ।।"

सकल रसों के बीच में सख्य-रस ही प्रियतम-रस है, सख्य-रस-विशिष्ट महापुरुष ही इसका अनुभव कर सकते हैं, और श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण

के सहचर, इनका एक जातीय मधुर भावरूप सख्य-रस, उपासक के चित्त में, किसी एक अनिर्वचनीय चमत्कार को पुष्ट करता है।

"प्रीते च वत्सले चापि कृष्णतद्भक्तयोः पुनः।
द्वयोरन्योन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत् ॥"

और शृङ्गार तथा वात्सल्य-रस में, श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण का भक्त, इन दोनों का परस्पर का भाव, भिन्न जाति का है।

इस प्रकार सख्य-भाव की विशेषता का यथाशक्ति यथामति दिग्दर्शन-मात्र वर्णन किया है। विशेषरूप से तो वेद, पुराण, इतिहासादि में वर्णन है। और सर्वशास्त्र प्रतिपादित, विज्ञजन विवेचित भी यह रसराज, यदि हठवश ईर्षायुक्त अल्पज्ञजनों की समझ में नहीं आता है तो, क्या ज्वराक्रान्त पुरुष को, परम मधुर दुग्ध यदि मीठा नहीं लगता है तो, उसकी मधुरता की भाँति, इसकी विशेषता का परिज्ञान क्या विज्ञजनों से भी दूर रह जायगा? भक्त को तो चाहिये कि, अपने भावानुसारी श्रीकृष्ण का स्मरण करे, और श्रीकृष्ण के अतिशय प्यारे श्रीबलराम आदिकों का, एवं अपने चाहने लायक भाव का स्मरण करता हुआ, और अपने भाव की कथाओं में निमग्न होता हुआ, शरीरद्वारा अथवा मनद्वारा, व्रज (श्रीवृन्दावन) में वास करे।

इस "सख्य-सुधाकर" से सख्य-रस के रसिक चकोरों को, अपनी भावना की वृद्धि के लिये, महती सुविधा हो जायगी। क्योंकि, "सख्य-भाव-वाले साधकों को, अपने सखा श्रीहरि से किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये", इस पथ का प्रदर्शक, आजतक, इतना बृहद् ग्रन्थ कोई भी उपलब्ध नहीं हुआ होगा। और सब रसों के तो, संस्कृत और प्राकृत-भाषा में, पूर्वाचार्यों के बहुत से ग्रन्थ विद्यमान हैं। यदि इस ग्रन्थ से एक भी सखा प्रसन्न हो गया तो, मेरे सनातन-सखा श्रीहरि भी, मुझसे प्रसन्न हो जायेंगे, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। इस ग्रन्थ को मैंने, ग्रन्थ बनाने की दृष्टि से बैठकर नहीं बनाया है, किन्तु सख्य-भाव में भरकर, चलते-फिरते ही, मेरे सखा की इच्छानुसार, जिस छन्द में, जो वाक्य निबद्ध होकर, मेरे मुख से निकलते रहे हैं, मैं उनको लिखता रहा। बस, उन्हीं का समूह रूप यह ग्रन्थ बन गया, तथा श्रीहरि की कृपा से पूर्ण होकर, आप सब के करकमलोंतक पहुँच गया। सख्य-रस के भावुकों की तो यह वस्तु ही है, परंच तत्त्व विचार से, ईश्वरनिष्ठ विद्वान्मात्र के लिये भी, यह, उपयोगी हो सकता है। यह ग्रन्थ, पहले वि० सं० २००७ में प्रकाशित हुआ था। यह, उसकी द्वितीयावृत्ति है।

आशा है कि, विद्वत्समाज में यह समादरणीय हो। विद्वज्जनों से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि, यदि इस ग्रन्थ में मनुष्यमात्र सुलभ प्रमाद दोषवश कहीं त्रुटियाँ भी रह गई हों तो, सख्य-सम्बन्ध से अपना ही ग्रन्थ समझकर सुधार लें, क्योंकि मित्र की त्रुटियों का मित्र ही समाधान किया करते हैं। **तथाहि—**

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवेदेव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥" इति

श्रीकृष्णानन्द स्वर्गाश्रम
रेलवे फाटक के पास, **वृन्दावन**
(मथुरा) उत्तर प्रदेश
दि० १५-१-७६

निवेदयति विनीतो—
बनमालिदासः

सख्यभाव का उत्कर्ष, सवैयाओं में

लेखक—ग्रन्थकार के सहृदय-मित्र कविवर श्रीराघवदासजी महाराज

(१)

गाय चराय फिरे पुर साँझ, सखा सँग श्याम हिये हरसैं।
'राघव' वेनु धुनी सुनी कै, सुर फूलन की बरसा बरसैं॥
खेलत खेल चलैं मग में, लखि कै ब्रज की वनिता सरसैं।
'हा विधि ! श्याम-सखा न कियो मोहिं', यों कहिकै सखियाँ तरसैं॥

(२)

प्रात लखी नँदनन्दन को, तव ते अब साँझ समै दरसैं।
साँवरो रूप विलोके बिना, पल बीतैं मनो विधि को वरसैं॥
खेलत, खात, सोवै सँग ग्वालन, कैसे कै जाय मिलौं उरसैं।
'हा विधि ! श्याम-सखा न कियो मोहिं', यों कहिकै सखियाँ तरसैं॥

(३)

खेलत खेल सखान सों श्याम, चुभे चित जाय सबै तिय के।
सोचैं उपाय मिलै न कछू तो, मनैमन भाव करैं पिय के॥
कैसी करौं कहँ जाय कहौं केहि, जा विधि ते सुख हो जिय के।
'राघव' मैं यदि श्याम-सखा, बनि जाउँ तो दाह मिटैं हिय के॥

(४)

एक कहै सुनुरी ! हम तो अब, काहू के कान कछू न कहौंगी।
'राघव' बात चढ़ी चित सो करि, और न काहू की सीख गहौंगी ।।
सुन्दर श्याम सुजान बिना, नित कौ दुख दाह कहाँ लों सहौंगी।
भावै सबै सो करौ पै सखी !, हम तो अब श्याम-सखा ह्वै रहौंगी ।।

(५)

नारि सिंगार उतार दै भार, इन्हें कबहूँ सपने न चहौंगी।
कुण्डल कान किरीट दै शीश, कछौं कछनी कर वेनु गहौंगी ।।
लै लकुटी कसि फेंट पीताम्बर, गाय चरावन रूप लहौंगी।
'राघव' त्याग करौं सबको, अब तो हम श्याम-सखा ह्वै रहौंगी ।।

(६)

ग्वालन बालन में मिलि कै, शुचि सुन्दर श्याम सुजान लहौंगी।
गोली कभी चकडोरी कभी, कभी चील झपाट खेलौं उमहौंगी ।।
खेलत में भरि अंक गोपाल को, प्रेम के वारिधि बीच बहौंगी।
'राघव' है सुखसार यही जग, याते हौं श्याम-सखा ह्वै रहौंगी ।।

(७)

जाके लिये सब देववधू, घर वास चहैं नन्दरायिनि के।
जा लखिबे के लिये अति ही, चित चाट चढ़ी चौवायिनि के ।।
जाके लिये सब गोपसुता, पग पूजती गौरि गुसाईनि के।
'राघव' सोई सखान को जूठो ले, खात फिरै संग गाईनि के ।।

(८)

जेहि नाच को देखि के किन्नरनारि, कला निज फीकी सी जानि लजावैं।
जेहि गान कला लखि के सुर गन्धर्व, 'राघव' सीखिवे को ललचावैं ।।
जिस नेक धुनी पै लट्टू ह्वै सबै, व्रज की वनिता कुलकानि गँवावैं।
सोई नाचिवो गाईवो वेणु बजाइवो, श्याम को ग्वारिया डाटि सिखावैं ।।

(९)

वेद पुराण थके गुण गावत, 'राघव' जाहि को पार न पावैं।
ज्ञानी जिसे परब्रह्म कहैं, जिसे दास सुरेश सुरेश बतावैं ।।
गोपवधू जेहि नन्द को जानि के, मानि पती विनती हू सुनावैं।
सोई लै जूठिन खात सखान को, ताहि पै ग्वारिया गाय घिरावैं ।।

श्री १०८ श्री स्वा० कृष्णानन्ददास जी महाराज
कीर्त्तन मण्डलेश्वर के इष्टदेव
'श्रीकृष्ण-बलदेव'।

श्री गीतादि अनेक ग्रन्थों के भाष्यकार,
श्री १०८ श्री पं० प्रवर, कीर्त्तन मण्डलेश्वर स्वा०
श्री कृष्णानन्ददास जी महाराज 'अनिकेत'।

श्रीमन्माध्व-गौडेश्वर-सम्प्रदाय-प्रचारक–

'श्रीगोपालचम्पू' 'श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू' 'श्रीपद्यावली' 'श्रीभक्तिग्रन्थमाला'
'श्रीस्तवरत्ननिधि' आदि अनेक ग्रन्थों के टीकाकार एवं 'श्रीकृष्णानन्द-
महाकाव्य' 'श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य' 'श्रीसख्य-सुधाकर'
'श्रीभक्तनाम-मालिका' 'श्रीवनमालिप्रार्थना-शतक'
'श्रीराधारमण-शतक' आदि अनेक ग्रन्थों
के रचियता–

सख्य-रस उपासक—

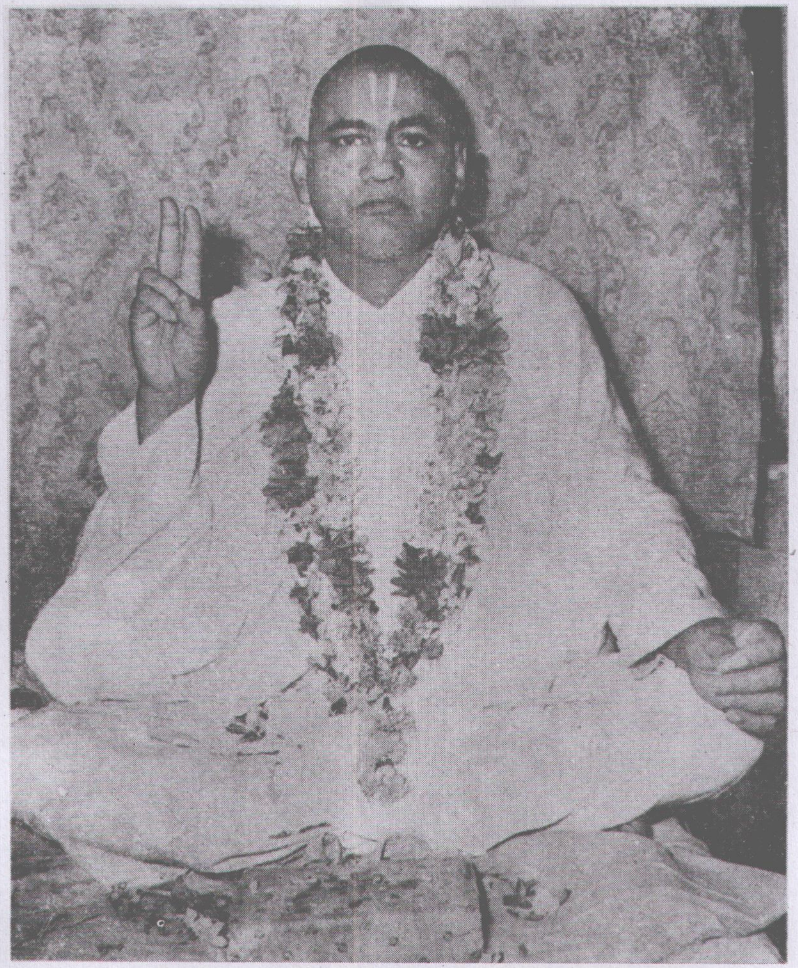

महाकवि श्रीवनमालिदासशास्त्री जी महाराज (वृन्दावन)

श्रीमते मध्वाचार्याय नमः
श्रीराम-कृष्णौ विजयेतेतमाम्
श्रीगौर-नित्यानन्दौ जयतः

श्रीसख्य-सुधाकरः

श्रीलरामानुजाचार्य ! श्रीमध्वाचार्यवर्य हे ।
श्रीलनिम्बार्क ! हे श्रीमन् विष्णुस्वामिन् ! नमोऽस्तु ते ॥१॥

"श्रीसख्य-सुधाकर-चन्द्रिका"

देवभाषाऽनभिज्ञैस्तु, दुर्ज्ञेयोऽयं सुधाकरः ।
इति मत्वा मूलकर्त्रा, हिन्दीभाषाऽपि लिख्यते ॥

हे श्रीरामानुजाचार्य ! हे श्रीमध्वाचार्य ! हे श्रीनिम्बार्काचार्य ! हे श्रीविष्णुस्वामिन् ! आपके श्रीचरणों में मेरा नमस्कार है ॥१॥

पूर्वाचार्य-नमस्कारात्मकं मंगलमाचरय्म, आचार्यकृपां विना न किमपि लभ्यमतः प्रथममाचार्येभ्य एव स्वाभीष्टं प्रार्थयते मन्दाक्रान्ताछन्दसा । तल्लक्षणं, यथा—"मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसहयैर्मोभनौ तौ गयुग्मम् ।"

हे आचार्याः ! कुरुत मयि दीने कृपालेशमात्रं
तेनैवाऽहं प्रकृतिकुटिलो दुर्मतिः स्यां कृतार्थः ।
युष्माकं कौ कुटिलजनतातारणायाऽवतारः
श्रीमद्भिर्वा कुटिलमनुजः प्राप्स्यते नैव मादृक् ॥२॥

पूर्वाचार्य नमस्कारात्मक मंगलाचरण करके, आचार्यों की कृपा के बिना कुछ भी लाभ नहीं हो सकता, इसलिये पहले, पूर्वाचार्यों से ही अपने अभीष्ट की प्रार्थना करते हैं । हे आचार्यो ! आप सब, मुझ दीनपर लेशमात्र ही कृपा कर दीजिये । क्योंकि, स्वभाव से कुटिल मैं दुर्मति उसी से कृतार्थ हो जाऊँगा । आप सब का अवतार भी, भूमिपर कुटिल-जनता के उद्धार के लिये ही है । श्रीमानों को, मेरे जैसा कुटिल-मनुष्य भी, नहीं मिलेगा ॥२॥

"एतादृश-काव्यकरणे न मे काऽपि योग्यता" इति स्वाभिमानं निरस्यति शिखरिणीछन्दसा। "रसै रुद्रै श्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" इति तल्लक्षणात्—

न विद्वत्तालेशो यदपि मयि सत्काव्यविधये
तथाऽपीशं गायन् हरिजनगुरून् भक्तिमपि च।
तरिष्यामीत्येवं स्वमनसि समाधाय सततं
प्रवृत्तोऽहं किञ्चिद् गदितुमिति जानन्तु सुधियः ॥३॥

यद्यपि सुन्दर काव्य बनाने की योग्यता का लेश भी मुझ में नहीं है, तो भी, भक्ति, भक्त, भगवन्त, गुरु का गायन करता हुआ, संसार-सागर से पार हो जाऊँगा। अपने मन में बारंबार इस प्रकार का समाधान करके, मैं, कुछ कहने को प्रवृत्त हुआ हूँ, बुद्धिमान्-जन ऐसा ही जानें ॥३॥

आचार्य-कृपां प्रार्थ्य स्वगुरून् प्रार्थयते वसन्ततिलकावृत्तेन, तल्लक्षणं यथा— "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति।

लोपं विलोक्यभुवि सख्यरसस्य तस्य, संचारणाय हरिणा कलकण्ठनामा।
संप्रेषितो य इह तं व्यतरज्जनेभ्य-, स्तं श्रीगुरुं स्वकमहं शरणं व्रजामि ॥४॥

श्रीहरि ने, भूतलपर अपने सख्य-भाव का लोप होते देखकर, उसके प्रचार के लिये, अपने 'कलकण्ठ'-नामक सखा को भूतलपर भेजा। उसी सख्य-भाव का जिन्होंने वितरण किया, मैं, उन्हीं अपने श्रीगुरुजी की शरण में जाता हूँ ॥४॥

पुनरपि रूपान्तरेण तमेवाभ्यर्थयते शार्दूलविक्रीडितेन लक्षणं यथा—"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" इति।

भूमौ स्वस्य विलोक्य लोपमधिकं विस्तारितुं स्वं पुनः
सख्याख्यो रस एव विग्रहमितः साक्षान्मतस्त्वं मम।
नोचेत्को निगमागमोपनिषदां तत्त्वस्वरूपं रसं
सख्याख्यं प्रकटीकरोतु नितरां लुप्तिङ्गतं भूतले ॥५॥

भूमिपर अपना अधिक लोप देखकर, पुनः उसी अपने स्वरूप का विस्तार करने के लिये, 'सख्य'-नामक जो रस है, वह, मूर्तिमान् होकर, साक्षात् आपके ही रूप में प्रगट हुआ है, यह मेरा अभिमत-सिद्धान्त है, अर्थात् आप, साक्षात् सख्य-रस रूप ही हैं, अन्यथा वेद, पुराण, उपनिषद्-आदिकों का तत्त्वस्वरूप जो सख्य-रस है, उसको कौन प्रगट करता? जो कि भूतलपर बिल्कुल लुप्त-सा हुआ जा रहा था ॥५॥

पुनरपि शार्दूलविक्रीडितचतुष्केण स्वगुरुमेव स्तौति—

हे आचार्य-शिरोमणे ! तव कृपादृष्ट्यैव जीवोऽधमः
शक्तः पारमपारसृष्टिजलधेर्यातुं विनैव श्रमम् ।
सा दृष्टिर्मयि वर्ततां तव सदा सेवाविहीनेऽपि ते
ये त्वां सन्ततमर्चयन्ति विधिना तेषां नृणां का कथा ? ।।६।।

हे श्रीगुरुवर्य ! आपकी कृपादृष्टि से, अतिशय अधम-जीव भी, अपार संसार से बिना ही श्रम के, पार जा सकता है । वही कृपादृष्टि, आपकी सेवा से हीन, मुझ दीनपर भी सदैव बनी रहनी चाहिये । हे प्रभो ! जो लोग विधिपूर्वक निरन्तर आपका पूजन करते हैं, वे, पार हो जायेंगे, इस विषय में तो फिर कहना ही क्या है ? ।।६।।

धन्यो मेऽद्य स पूर्वपुण्यविटपी यच्छाययाऽहं सुखी
दिव्यं येन फलं प्रदत्तममरप्रार्थ्यं भवद्दर्शनम् ।
पूर्णा मेऽद्य मनोरथाश्च सकला ये ये धृता मानसे
हे आचार्य ! तदर्थमेव बहुधा भ्रान्तं मया भूतले ।।७।।

हे श्रीगुरुदेव ! देखो, मेरा प्राचीन-पुण्यरूपी जो वृक्ष है, वह, आज धन्य हो गया है । जिसकी छाया से मैं सुखी हूँ, क्योंकि, जिसने देवजन-दुर्लभ आपका दर्शनरूप दिव्यफल अनायास प्रदान किया । और जो-जो मनोरथ मेरे मन में थे, वे सब के सब, आज पूर्ण हो गये । मैं, उन्हीं की पूर्ति के लिये, पृथ्वीपर बहुत प्रकार से घूमता रहा ।।७।।

काठिन्येन तवाऽऽप्तिरद्य घटिता संसेविते शङ्करे
वाञ्छा यादृशदेशिकस्य समभूत् तादृक् त्वमाप्तो मया ।
सच्छास्त्राणि सनैगमानि हृदये कञ्जानि वाप्यामिव
नित्यं यस्य लसन्ति तस्य तव को मादृक् गुणान् कीर्तयेत् ।।८।।

श्रीशंकरजी की सेवा करनेपर बड़ी कठिनता से आज आपकी प्राप्ति हुई है । जैसे गुरुजी की इच्छा थी, वैसे ही आप, मुझको मिल गये । जिनके हृदय में, वेद पुराणादि सब शास्त्र, सरोवर में कमलों के समान नित्य ही खिले रहते हैं, ऐसे आपके गुणों को यथार्थरूप से, मुझ जैसा पामर, कैसे कह सकता है ? ।।८।।

हे श्रीदेशिकवर्य ! वर्यचरित ! प्रज्ञावधे ! ज्ञावधे !
मिथ्यादृष्टिमहीध्रपक्षभिदुराऽशान्ताय शान्तिप्रद ! ।
मादृक्पामरजीवभीषणपशोर्मोक्षाय दीक्षागुरो !
मां दुष्टप्रवरं समुद्धर विभो ! संसारवारां निधेः ।।९।।

हे श्रीगुरुवर्य ! आपका चरित्र, बहुत ही सुन्दर है ! आप, प्रज्ञा (बुद्धि) की अवधि हैं ! और ज्ञान तथा ज्ञानियों की भी अवधि हैं ! और नास्तिकता-रूपी पहाड़ के पक्ष छेदन करने के विषय में तो आप, वज्र के ही समान हो ! और अशान्त-पुरुषों को भी शान्ति प्रदान करनेवाले हो ! और मेरे जैसे पामर-जीव ही भयङ्कर पशुतुल्य हैं, उनकी मोक्ष के लिये तो आप बद्ध-परिकर हैं ! हे विभो ! मुझ दुष्टप्रवर का भी संसार-सागर से उद्धार कर दीजिये ॥९॥

वसन्ततिलकावृत्तेन पुनरपि स्वगुरुमेव स्तौति—

मां रक्ष रक्ष करुणामय दीनबन्धो !, बन्धो मम प्रवरया कृपयाऽपनेयः ।
नेयः सतां पथि जनोयमनाथनाथाऽ-, नाथाय देहि निजमत्र पदावलम्बम् ॥१०॥

फिर भी श्रीगुरुजी की स्तुति करते हैं—हे करुणामय ! दीनबन्धो ! मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो । अपनी महती-कृपा से मेरा संसारी-बन्धन दूर कीजिये । इस अपने जनको, सज्जनों के मार्ग में डाल दीजिये । हे अनाथों के नाथ ! श्रीगुरुदेव ! अपने श्रीचरणों का सहारा, इस अनाथ को भी दे दीजिये ॥१०॥

पुनरपि पुष्पिताग्रावृत्तद्वयेन तमेव स्तौति तल्लक्षणं यथा—"अयुजिनयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा"

गुणगणगणनां विधातुमीश-, स्तव किमु दीनजनोऽयमेकजिह्वः ।
सुरतरुतलमेत्य किं दरिद्र-, मतिरवगच्छति तं यथावदीश ! ॥११॥

गुरुवर ! विधुरे भवाटवीतो, मयि हतमेधसि सा कृपा विधेया ।
निरवधि ययका पदाब्जयोस्ते, मम रतिरस्तु च रामकृष्णपादे ॥१२॥

फिर भी दो श्लोकों से अपने श्रीगुरुदेवजी की स्तुति करते हैं—हे सर्वसमर्थ श्रीगुरुदेव ! देखो, एक जिह्वावाला यह दीनजन, आपके गुणों की गणना कर सकता है क्या ? अर्थात् नहीं । क्योंकि, दरिद्र-बुद्धिवाला मनुष्य, कल्पवृक्ष के नीचे जाकर भी उसके स्वरूप को, यथार्थरूप से जान लेता है क्या ? अर्थात् नहीं ॥११॥ हे गुरुवर ! संसाररूपी वन में, अनादिकाल से भ्रमण करने से महान् दुखित, अतएव मन्द-बुद्धिवाले मुझ दीनपर, वह कृपा कर दीजिये कि, जिससे आपके दोनों चरणकमलों में एवं चिरसुहृद् श्रीराम-कृष्ण के श्रीचरणों में मेरी निरन्तर अटल प्रीति बनी रहे ॥१२॥

पुनरपि द्रुतविलम्बितेन "द्रुतविलम्बितमाह नभौभरौ" इति लक्षणलक्षितेन तमेव स्तौति—

मम तु हे गुरुदेव ! पदाब्जयोः, प्रतिदिनं तव चेयमिहार्थना ।
तव पदाब्जयुगं प्रविहाय नो, मम मनोऽलिरुपैतु बहिः क्वचित् ।।१३।।

हे श्रीगुरुदेव ! आपके श्रीचरणारविन्दों में मेरी तो प्रतिदिन यही प्रार्थना है कि, मेरा मनरूपी भ्रमर, आपके दोनों चरणकमलों को छोड़कर, अन्य बाह्यविषयों में कहीं भी न जाय ।।१३।।

पुनरपि स्वगुरुमेव स्तौति शिखरिणी-युगलेन—

अधर्मे मे चेतः क्वचिदपि कदाचिद् व्रजतु नो
सदा श्रीरामश्रीहरिचरणपद्मेषु रमताम् ।
तथा तद्गाथां गायत इह हि मे यातु जननं
स्पृहैषा पूर्णा स्यान्मम तव कृपातो गुरुमणे ! ।।१४।।
इदानीं कार्या हे गुरुवर ! कृपालो ! मयि कृपा
यथा कुर्यां कार्यं जगति विमलं तेऽपि सुखदम् ।
तथ चान्ते चेतो भजतु मम कृष्णं बलयुतं
तथाऽवाप्तिः श्रीमत्पदकमलयुग्मस्य भवतु ।।१५।।

हे श्रीगुरुवर्य ! आपकी कृपा से मेरी यह इच्छा पूर्ण होनी चाहिये कि, मेरा चित्त, कभी भी अधर्म में न जाय, सदा श्रीराम-कृष्ण के चरणारविन्दों में ही रमता रहे । और मेरा जीवन, श्रीराम-कृष्ण के गुण-गान करते हुए ही व्यतीत हो जाय ।।१४।। हे कृपालो श्रीगुरुदेव ! अब मुझपर ऐसी कृपा करो जिससे कि, मैं, जगत् में विमल और आपको सुख-दायी ही कार्य करूँ । और अन्तिम में मेरा चित्त, श्रीराम-कृष्ण का भजन करे, और मेरे लिये आपके श्रीचरणकमल-युगल की प्राप्ति हो जाय ।।१५।।

अथ कदाचित् हरिभक्ति-प्रचारणायाऽऽज्ञप्तः स्वस्मिंश्च तत्प्रचारणाऽयोग्यता-मालक्ष्य स्वगुरुमेव शिखरिणी छन्दसा प्रार्थयते—

कृपायाः संचारा नहि कथमपारा गुरुवरा !
भवद्भिर्दीनेऽस्मिन् हरिभजनविस्तारयितरि ।
विधीयन्ते हं हो नहि तदतिरेकेण किमपि
विधातुं दीनोऽयं जगति हि समर्थः प्रभवति ।।१६।।

ग्रन्थकार के लिये कभी श्रीगुरुदेव ने हरिभक्ति प्रचार की आज्ञा दी थी, उसकी योग्यता अपने में न देखकर, श्रीगुरुजी से प्रार्थना करते हैं कि, हे श्रीगुरुवर्य ! हरिभजन विस्तार करने की इच्छावाले इस दीन-जनपर अपार-कृपा के संचार क्यों नहीं करते हो ? आपकी कृपा के बिना तो यह दीनजन, जगत् में कुछ भी नहीं कर सकता है ।।१६।।

यद्यप्यस्य कवेर्गुरोर्नाम श्रीकृष्णानन्ददासस्वामीति जगति प्रसिद्धं, तन्नाम्नो नाऽत्र निर्देशः कृतस्तथाऽपि नित्यलीलायां प्रविष्टस्य यन्नाम तन्निर्देशपूर्वकं पुनरपि स्वगुरूनभ्यर्थयते, तोटक-वृत्तेन "वद तोटकमब्धिसकारयुतम्" इति तल्लक्षणाद् यद्यपि—आत्मनाम गुरोर्नाम नामाऽतिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्जेष्ठाऽपत्यकलत्रयोरित्युक्त्या गुरु-नामोच्चारणे दोषस्तथाऽपि लेखने दोषाऽभवात् केवल-नामग्रहण-निषेधाच्च—

कलकण्ठ ! सखे ! गुरुदेवमणे !, भवताऽपि कृपा क्रियते न कथम् ।
मयि दीनजने तव भक्तिधने, मम कोस्त्यधुना भवता च विना ।।१७।।

यद्यपि इस कवि के श्रीगुरुजी का नाम, संसार में, "श्रीस्वामी कृष्णानन्ददासजी महाराज" ऐसा प्रसिद्ध है। उस नाम का यहाँ निर्देश नहीं किया है। तथापि नित्यलीला में प्रविष्ट होनेपर जो नाम है, उसी के निर्देशपूर्वक फिर भी अपने श्रीगुरुजी की स्तुति करते हैं। यद्यपि, स्मृति में ऐसा कहा है कि, जो, अपना कल्याण चाहे, वह, अपना नाम और श्रीगुरुजी का नाम, अत्यन्त कृपण का नाम, और बड़े पुत्र का तथा अपनी स्त्री का नाम न ले, तथापि लिखने में दोष नहीं है। और मनुस्मृति में केवल-नाम ग्रहण का ही निषेध किया है, अतः कुछ विशेषण लगाकर, नाम लिया जा सकता है।

हे श्रीकलकण्ठ सखे ! श्रीगुरुदेवमणे ! मुझ दीनपर, आप भी कृपा क्यों नहीं करते हो ? और अब इस संसार में, आपके बिना मेरा कौन है ? क्योंकि मुझे तो अब, केवल आपकी भक्तिरूपी धन का ही सहारा है ।।१७।।

"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति लक्षण-लक्षितेन श्लोकेन पुनरपि तमेवाऽभ्यर्थयते—

शुभार्थनैषा तव पादपद्मयो-, र्ममाऽस्ति हे देशिकवर्य साम्प्रतम् ।
प्रपूरणीया मयि चेत्कृपास्ति ते, दुरात्मनीत्थं वनमालिदासके ।।१८।।

हे श्रीआचार्यवर्य ! मेरी तो आपके श्रीपादपद्मों में यही शुभ प्रार्थना है। यदि मुझ दुरात्मा वनमालिदासपर आपकी कृपा है तो पूर्ण कर दीजिये ।।१८।।

एवं स्वगुरूनभ्यर्थ्य "अहं भक्त-पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज !। साधुभिर्ग्रस्त-हृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।।" इति दुर्वाससं प्रति भगवदुक्तेर्भक्तकृपयैव हरिर्लभ्य इति ज्ञात्वा हरिभक्तानभ्यर्थयते शिखरिणी-छन्दसा—

हरेर्भक्ता ये सन्त्यपि च भवितारः समभवन्
समस्ताँस्तान्नत्वा लघुमतिरहं प्रार्थय इदम् ।

तथा भक्ता ! यूयं कुरुत रतिहीने मयि कृपां
यथाऽक्ष्णोः पन्थानं हरिरटतु रामेण सहितः ।।१९।।

इस प्रकार अपने श्रीगुरुजी की प्रार्थना करके, अब, "मैं, भक्तों के ही आधीन हूँ । अतः हे दुर्वासा ! मैं, अस्वतन्त्र-सा हूँ । मैं, भक्तों का प्यारा हूँ, अतः सज्जन-भक्तों ने मेरा हृदय छीन लिया है" दुर्वासा के प्रति भगवान् की ऐसी उक्ति होने के कारण, भक्तों की कृपा से ही, भगवान् की प्राप्ति सुलभ है, ऐसा जानकर, भक्तों की ही प्रार्थना करते हैं कि—हरि के जो भक्त इस समय हैं, और जो होंगे, और जो हो चुके हैं, उन सबको प्रणाम करके, तुच्छ-बुद्धिवाला मैं, यही प्रार्थना करता हूँ कि, हे सब भक्तो ! प्रीति-हीन मुझ दीनपर ऐसी कृपा कर दो कि, जिससे मेरे नेत्रों के सामने, श्रीबलदेवजी के सहित श्रीकृष्णचन्द्र आजाँय ।।१९।।

भक्तानभ्यर्थ्य श्रीचैतन्यकृपयैव प्रेमप्राप्तिरित्याकलय्य स्वभजनविभजनप्रेम-प्रदानायावतीर्णं श्रीकृष्णचैतन्यनामानां साक्षाद् भगवन्तं प्रार्थयते शार्दूलविक्रीडितेन—

हा गौराङ्ग ! दयानिधे ! गुणनिधे ! हा प्रेमसम्पन्निधे !
हा सौन्दर्यनिधे ! क्षमाजलनिधे ! वात्सल्यवारां निधे ! ।
हे गाम्भीर्यनिधे ! सुधैर्यजलधे ! हे भक्तवाञ्छानिधे !
दीनोद्धारपरावतार ! भगवन् ! दीने मयि प्रीयताम् ।।२०।।

भक्तों की प्रार्थना करके, श्रीचैतन्यमहाप्रभु की कृपा से ही, प्रेम की प्राप्ति होती है, ऐसा विचार कर, अपने भजन का विभाग करने के लिये, एवं प्रेम का दान देने के लिये, नवद्वीप में अवतीर्ण हुए साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी की प्रार्थना करते हैं—

हा गौराङ्गमहाप्रभो ! आप, दया के निधि हो ! गुणों के निधि हो ! प्रेमरूपी सम्पत्ति के निधि हो ! सौन्दर्य के निधि हो ! क्षमा के समुद्र हो ! भक्तों की इच्छा पूर्ण करनेवाले हो ! गम्भीरता के खजाने हो ! वात्सल्य के निधि हो ! धैर्य के सागर हो ! और दीनजनों के उद्धार के लिये ही आपका अवतार है ! अतएव हे भगवन् ! मुझ दीनपर भी प्रसन्न हो जाइये ।।२०।।

श्रीबलरामावतारं श्रीनित्यानन्द-प्रभुमधुना प्रार्थयते पूर्वोक्तवृत्तेन—

नित्यानन्दमहाप्रभो ! पतितजीवोद्धारचिन्तापर !
हे निष्कैतव-सौहृद ! स्वजनसंघ-प्रेमदानाकुल ! ।
दुष्टाचारनिमग्नमाधवजगन्नाथद्विजोद्धारक !
मां दुष्टप्रवरं समुद्धर हरे ! संसारवारां निधेः ।।२१।।

श्रीबलदेवजी के अवतार श्रीनित्यानन्द-महाप्रभु की प्रार्थना करते हैं कि—हे श्रीनित्यानन्द-महाप्रभो ! आप, सदैव पतितजीवों के उद्धार के लिये चिन्तित रहते हैं ! आप, जीवमात्र के निष्कपट मित्र हैं ! और अपने जनों के लिये प्रेम दान करने में व्यग्र हो ! और दुष्टाचार-परायण 'माधव', 'जगन्नाथ'-नामक दो ब्राह्मणों का उद्धार करनेवाले हो ! हे हरे ! मुझ दुष्ट-प्रवर का भी संसार-सागर से उद्धार कर दीजिये ।।२१।।

महाप्रभोरवतारकारिणमद्वैताचार्यमधुना प्रार्थयते शिखरिण्या—

गभीरैर्हुङ्कारैः प्रणयपुटितैर्यस्य सहसा
स गोलोकाऽधीशोऽतरदवनिपृष्ठेंऽशसहितः ।
गुणानन्याँस्तस्य प्रणिगदतु को वा बुधजनः
स मेऽद्वैताचार्यो वितरतु मुदा प्रेमलहरीम् ।।२२।।

अब, श्रीमहाप्रभुजी के अवतार करानेवाले श्रीअद्वैताचार्यजी की प्रार्थना करते हैं—जिनके प्रेम से भरे हुए गम्भीर हुङ्कारों से, गोलोकाधिपति श्रीकृष्णचन्द्र भी, पार्षदों के सहित नवद्वीप में, श्रीकृष्णचैतन्य रूप से अवतीर्ण हो गये, आचार्यवर्य उन्हीं श्रीअद्वैत के, अन्य गुणों का गायन, कौन-सा बुद्धिमान कर सकता है ? वे ही श्रीअद्वैताचार्य, हर्षपूर्वक मेरे लिये भी प्रेम की लहरी का समर्पण करें ।।२२।।

अधुना श्रीचैतन्यप्रियपार्षदान् षड्गोस्वामिनः स्तौति क्रमशः पृथक् पृथक् छन्दोभिस्तत्र प्रथमं श्रीमद्रूपगोस्वामिनं स्तौति शिखरिणीशार्दूलविक्रीडितवृत्ताभ्याम्—

सुराचार्यं यं वै प्रणिगदति यत्काव्यरचना
तथा राधाकृष्णोज्ज्वलरसपरीपाक इति यम् ।
प्रशंसन्तः सन्तः क्षणमपि विरामं न दधते
स रूपो गोस्वामी किरतु मयि प्रेमामृतकणम् ।।२३।।
वैशिष्ट्यं बहु किं वदाम इह भो श्रीरूप-गोस्वामिनो
वैराग्यं विभवे त्रिविष्टपभवे भक्तिर्यशोदाभवे ।
जिह्वामञ्चमुरीकरोति सततं विद्याऽनवद्या नटी
प्रेमाऽम्भोधिसमुद्धृतोज्ज्वलमणेः किं किं लोकोत्तरम् ।।२४।।

अब, श्रीचैतन्यमहाप्रभु के प्रियपार्षद, छः गोस्वामियों की स्तुति, क्रमशः पृथक्-पृथक् छन्दों से करते हैं। उनमें पहले दो श्लोकों से श्रीरूप गोस्वामी की स्तुति करते हैं—जिनकी काव्य-रचना ही, जिनको बृहस्पति बतला रही है, तथा सन्तलोग जिनकी "राधाकृष्ण के उज्ज्वल-रस का परीपाकस्वरूप ही श्रीरूप गोस्वामी हैं" ऐसा कहकर प्रतिक्षण प्रशंसा

करते रहते हैं, वही श्रीरूप गोस्वामी, मुझपर, प्रेम की कणिका की वृष्टि कर दें ।।२३।। हे भाइयो ! श्रीरूप गोस्वामीजी की विशिष्टता बहुत करके क्या कहें कि,—जिनका वैराग्य, ब्रह्मलोकपर्यन्त के वैभवों-से था और श्रीयशोदानन्दन में जिनकी अविरल-भक्ति थी, और जिनकी जिह्वारूपी शय्यापर, चतुर्दश-विद्यारूपी सुन्दर नटी, सदैव विराजमान रहती थी, और जिन्होंने प्रेमरूपी समुद्र से, 'उज्ज्वल-नीलमणि' निकाली, उनका क्या-क्या लोकोत्तर नहीं है, अर्थात् जिन्होंने 'उज्ज्वल-नीलमणि', 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'लघुभागवतामृत' आदि बहुत-से विशिष्ट ग्रन्थ बनाये, उनका सभी कार्य लोकोत्तर है ।।२४।।

श्रीमत्सनातनगोस्वामिनमधुना स्तौति आर्या-द्रुतविलम्बितवृत्ताभ्याम्—आर्या लक्षणन्तु "यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या" इति

जयति सनातन-नामा, भागवतामृतं येन निरमायि ।
यत्सकृदप्यास्वाद्य, संसारे नहि जनो रमते ।।२५।।

कथमहं करवाणि तव स्तवं, गुणगणाँस्तव वेद्मि न मूढधीः ।
तव यशस्तु तनोति महीतले, विपुलगूढरहस्य-विघाटनम् ।।२६।।

अब, श्रीसनातन गोस्वामीजो की स्तुति करते हैं—उन सनातन गोस्वामीजी की जय हो कि, जिन्होंने 'बृहद्भागवतामृत'-नामक ग्रन्थ का निर्माण किया । जिसका एकबार भी आस्वादन करके, मनुष्यों का मन, संसार में नहीं रमता है ।।२५।। हे सनातनजी ! आपके गुणों से अनभिज्ञ मूढ़-बुद्धिवाला मैं, आपकी स्तुति कैसे करूँ ? आपका यश तो, बहुत-से गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करना ही, भूमिपर फैला रहा है ।।२६।।

श्रीमज्जीव-गोस्वामिनं स्तौति शिखरिणीद्रुतविलम्बिताऽऽर्यावृत्तैः—

महाऽज्ञानेनान्धान् व्रजपतिसुतप्रेमरहितान्
विनिर्जित्योवाच प्रणयसरणिं नास्तिकजनान् ।
सुषट्-सन्दर्भादीन् य इह विदधे ग्रन्थनिवहान्
स जीवो गोस्वामी किरतु मयि प्रेमामृतकणम् ।।२७।।

यदि भवानुदितो न भवेद् रवि-,र्नवनवैः किल भक्ति-मरीचिभिः ।
क इह रूपमुखादिमहात्मनां, भवति पुस्तकपद्मविकाशकः ।।२८।।

इन्द्रतिरस्कृतिरोषा-,दन्तर्धानं गतोऽपि यः पूर्वम् ।
पुनरपि प्रादुरभूदिव, जीवः स जीवस्य रूपेण ।।२९।।

अब, श्रीजीव गोस्वामीजी की स्तुति करते हैं—जिन्होंने, महाअज्ञान से अन्धे और व्रजराजकुमार के प्रेम से रहित नास्तिकजनों को जीतकर, प्रेम का रास्ता दिखलाया, और जिन्होंने, 'षट्-सन्दर्भ' आदि बड़े-बड़े बहुत-से ग्रन्थ बनाये, वे ही श्रीजीव गोस्वामी, मुझ दीनपर, प्रेमामृत कण की वर्षा कर दें ।।२७।। हे श्रीजीव गोस्वामिन् ! यदि आपरूपी सूर्य, नई-नई भक्तिरूपी किरणों के सहित, उदय नहीं होता तो, श्रीरूप गोस्वामी प्रभृति महात्माओं के पुस्तकरूपी कमलों को कौन खिलाता ? अर्थात् यदि श्रीजीव गोस्वामीजी का प्रादुर्भाव नहीं होता तो, श्रीरूप गोस्वामी आदि महापुरुषों के ग्रन्थों के गूढ़-तात्पर्य को कौन बताता ? ।।२८।। जो बृहस्पतिजी, सत्ययुग में, स्वर्ग की सभा में इन्द्रद्वारा तिरस्कृत होने से रुष्ट होकर अन्तर्धान हो गये थे, मानो वे ही बृहस्पतिजी फिर कलियुग में, श्रीजीव गोस्वामीजी के रूप से प्रगट हुए हैं। इस कथा का सारा विवरण, श्रीभागवत से जानना चाहिये ।।२९।।

ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-पराकाष्ठां प्राप्तौ श्रीमद्रघुनाथभट्ट-रघुनाथदासौ प्रार्थयते शार्दूलविक्रीडित-युगलेन—

श्रीचैतन्यकृपार्णवस्य कृपया संसारसौख्यं जहौ
यो वृन्दावनमेत्य सादरमपाच्छ्रीकृष्णलीलामृतम् ।
निष्णातः खलु सर्वशास्त्रनिवहे पादाब्जभृङ्गो हरे-
स्तं श्रीमद्रघुनाथभट्टमनिशं प्रेमाप्तये प्रार्थये ।।३०।।

सद्देशाधिपतां विहाय विषवच्चैतन्यनिर्देशतो
यो वृन्दावनमेत्य वृत्तिमदधाद् वैराग्यसीमास्पृशाम् ।
राधामाधवभक्तिरागरसिको नाऽवेच्च रात्रिन्दिवं
तं श्रीमद्रघुनाथदासमनिशं प्रेमाप्तये प्रार्थये ।।३१।।

अब, ज्ञान-वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए श्रीरघुनाथ भट्ट एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी की प्रार्थना करते हैं—करुणा-वरुणालय श्रीचैतन्यदेव की अहैतुकी कृपा से, जिन्होंने सांसारिक-सुख को त्याग दिया, और जिन्होंने श्रीवृन्दावन आकर, सादर श्रीकृष्णलीलामृतस्वरूप श्रीभागवतजी का पान किया, एवं जो, सब शास्त्रों में पारंगत थे, एवं श्रीहरि के पदारविन्द-मकरन्द के जो भृङ्ग थे, मैं, उन्हीं श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामीजी की प्रार्थना, प्रेम की प्राप्ति के लिये करता हूँ ।।३०।। श्रीचैतन्यदेव के निर्देश से, जिन्होंने बंगदेश के आधिपत्य को विष के समान त्यागकर, श्रीवृन्दावन में आकर, वैराग्य की सीमा को स्पर्श करनेवालों की वृत्ति धारण करली, और जिनको श्रीराधामाधव के भजन में तल्लीन रहने के कारण, रात-दिन

का भी ध्यान नहीं रहता था, मैं, उन्हीं श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी की प्रार्थना, प्रेम की प्राप्ति के लिये करता हूँ ।।३१।।

शालग्रामशिलाकृतराधारमणाविर्भावं श्रीगोपालभट्टगोस्वामिनमधुना प्रार्थयते मालिनीवृत्तेन तल्लक्षणं यथा—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" इति वृत्तारत्नाकरे—

प्रणयगुणनिबद्धो यस्य साक्षात्स राधा-
रमण इह तु शालग्रामतश्चाविरासीत् ।
सकलगुणगरिष्ठः सर्वशास्त्रार्थनिष्ठो
वितरतु स हि मह्यं प्रेम गोपालभट्टः ।।३२।।

अब, जिन्होंने शालग्रामजी से ही श्रीराधारमणजी को प्रगट कर लिया था, उन्हीं श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी की प्रार्थना करते हैं—जिनकी प्रेमरूपी डोरी में बँधकर, साक्षात् श्रीराधारमणजी भी शालग्राम की शिला से प्रगट हो गये थे, और जो, सब गुणों से गौरवान्वित हैं, एवं जो, सब शास्त्रों के तात्पर्य को जानते थे, वे ही श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी, मेरे लिये प्रेम का वितरण करें। जो कोई महानुभाव, श्रीगोपालभट्टजी का सम्पूर्ण चरित्र जानना चाहें, तो वे, मेरेद्वारा विरचित "श्रीराधारमणाविर्भाव-शतक" को देख लें ।।३२।।

अधुना श्रीवृन्दावन-महिमाविर्भाव-भावुकं श्रीचैतन्यतन्यमान-कृपाविर्भूत-भक्त्य-विरक्ति विरक्तिं च शुष्कवैराग्ये प्राप्तं श्रीप्रबोधानन्दसरस्वतीं प्रार्थयते शिखरिण्या—

हृदि प्रादुर्भूतं प्रभुवरशचीसूनुकृपया
य आनन्दे मग्नः शतशतकरूपेण विमलम् ।
जगाद श्रीवृन्दा-विपिनमहिमानं सुविपुलं
प्रबोधानन्दः सोऽर्पयतु कृपया प्रेमकणिकाम् ।।३३।।

जिन्होंने, प्रभुवर शचीपुत्र श्रीचैतन्यदेव की कृपा से हृदय में प्रगट हुई 'श्रीवृन्दावन की महिमा को, आनन्द में निमग्न होकर, सौ-शतकों के रूप में, विमलता और विस्तारपूर्वक लिखा, वे ही श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीजी, कृपा करके, मेरे लिये भी प्रेम की कणिका का दान दें ।।३३।।

अधुना श्रीकृष्णचैतन्य-पदाङ्गुष्ठपानादाविर्भूतकवित्वशक्ति श्रीकविकर्णपूरं स्तौति—"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः" इति लक्षणाढ्येन वृत्तेन—

काव्यैः सुधास्यन्दिभिरात्मनो यः, कर्णौ सदा पूरयते जनानाम् ।
श्रीकृष्णचैतन्यसमर्पिताख्य-, स्तं कर्णपूरं कविमानतोऽस्मि ।।३४।।

अब, उन श्रीकवि-कर्णपूरजी की स्तुति करते हैं कि, जिनको श्रीचैतन्यमहाप्रभु के पदाङ्गुष्ठ-पान से, बाल्यावस्था में ही, अद्भुत कविता-शक्ति का लाभ हुआ था, एवं जिन्होंने, "श्रीआनन्द-वृन्दावन-चम्पू" आदि बहुत-से चमत्कारयुक्त ग्रन्थ बनाये, तथा जो, अमृत की वर्षा करनेवाले अपने काव्यों के द्वारा, भक्तजनों के कानों को सदैव पूर्ण करते हैं, अतएव श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने, जिनका सार्थक "कविकर्णपूर" ऐसा नाम रख दिया, मैं, उन्हीं कविवर्य को शतशः प्रणाम करता हूँ ।।३४।।

भक्तेः सकलसिद्धान्त-ज्ञातारं, अतएव श्रीगोविन्दलीलामृत-श्रीचैतन्यचरितामृत-कर्तारं, कविराजराजं श्रीकृष्णदासं स्तौति—"यदन्तरोदीरित-लक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" इति लक्षण-लक्षिताभ्यामुपजातिभ्याम्—

श्रीकृष्णदासं कविराजराजं, नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपादम् ।
न यस्य जिह्वा हरिभक्तिहीनां, मनागपि स्वां कवितां ततान ।।३५।।
जयत्यसौ श्रीकविराजराजः, श्रीकृष्णदासः कमनीयवृत्तः ।
गोविन्दलीलामृतकेन सार्धं, चैतन्यलीलामृतमाततान ।।३६।।

भक्ति के समस्त सिद्धान्त के ज्ञाता, श्रीकृष्णदास कविराज की स्तुति करते हुए, दो श्लोकों के द्वारा कहते हैं कि, मैं उन श्रीकृष्णदासजी को बारंबार नमस्कार करता हूँ कि, जो कविराजराज थे, एवं जिनके श्रीचरण, भक्तमात्र के नमस्कार करने योग्य हैं, तथा जिनकी जिह्वा, श्रीहरि की भक्ति से रहित अपनी कविता का किंचिद् भी विस्तार नहीं करती थी, अर्थात् जो, भक्तिप्रधान कविता ही बनाते थे; अतः कविराजराज उन श्रीकृष्णदासजी महाराज की सदैव जय-जयकार हो कि, जिनका चरित्र परममनोहर था, और जिन्होंने, अष्टकालीनलीला-प्रतिपादक 'श्रीगोविन्द-लीलामृत' महाकाव्य के साथ-साथ, वैष्णवसिद्धान्तमात्र-प्रतिपादक 'श्रीचैतन्यचरितामृत'-नामक ग्रन्थरत्न की रचना कर दी ।।३५-३६।।

एवं कतिपय-गौरभक्तेभ्यः पृथक् पृथक् प्रेमाणमभ्यर्थ्य समस्तेभ्य एव गौर-भक्तवृन्देभ्यः सकाशात् हरिप्राप्तिं याचते कुलकेन,-तल्लक्षणं तु "द्वाभ्यां युग्ममिति प्राहुस्त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्" इति—तत्र चतुर्थः श्लोकः "मो मो गो गो विद्युन्माला" इति लक्षणलक्षितः—

अयि सनातन ! हा प्रियरूप हे, सुरघुनाथयुगप्रियजीव हे ।
सुहरिभक्तिविलासविलासक !, अयि गदाधरपण्डित-पण्डित ! ।।३७।।
हे श्रीकेशवभारतीश्वरपुरीवर्यौ च विद्यानिधे !
हे श्रीनाथ ! मुकुन्द ! राम ! हरिदास ! श्रीनृसिंहार्य हे ! ।

हे श्रीवास ! सुसार्वभौम ! जगदानन्द ! प्रतापार्य हे
हे दामोदर ! शंकर ! प्रियवरश्रीकान्त ! हे श्रीपते ! ।।३८।।

है वक्रेश्वर ! चन्दनेश्वर ! मुरारे ! श्रीस्वरूपार्य हे
हे शुक्लाम्बर ! विश्वनाथ ! बलदेव ! श्रीलगोविन्द हे ।
हे गोपालगुरो ! हि दासकविराज ! श्रीशिवानन्द हे
हे श्रीमत्कविकर्णपूर ! नकुल ! श्रीविश्वरूपार्य हे ।।३९।।

गोपीनाथाचार्य ! ब्रह्मानन्द ! श्रीमत्काशीमिश्र ! ।
गङ्गादास ! श्रीमद्रामानन्द ! श्रीमद्वाणीनाथ ! ।।४०।।

आचार्यरत्न ! प्रभुवासुदेवा,-ऽऽचार्या ! अये श्रीयुतलोकनाथ ! ।
अन्ये च ये गौरहरेः सुभक्ता, भूता भविष्यन्ति च वर्तमानाः ।।४१।।

तान् सर्वानहमर्थये प्रतिपदं चैतन्यपादाश्रितान्
हे पूज्याः ! कुरुताऽल्पमल्पमपि कारुण्यामृताऽऽसेचनम् ।
येन श्रीहरिप्राप्तिरूपलतिका शुष्काऽङ्कुराद्यन्विता
भूयात्स्यान्नहि वाऽन्यजन्मनि शुभा मत्तो भवत्प्रार्थना ।।४२।।

भावार्थः—हे पूज्याः ! मयि किञ्चित् किञ्चिदपि-कारुण्यामृतसेचनं करुणामृत-वृष्टिं कुरुत, मयि कृपां कुरुतेति भावः । तेन किं स्यादित्यत आह—येनेति, येन-करुणामृत-सेचनेन । अनन्त-वासना-रूपदावदग्धा, श्रीहरि-प्राप्तिरूपलतिका-अंकुरादिभिः-पत्रपुष्प-फलादिभिर्युक्ता भूयात्-भवतु । अर्थात् वासना हि भगवत्प्राप्तौ बाधिका तस्याश्च क्षयो महत्कृपां विना न सम्भवति—अतः श्रीमद्भिरस्मिन्नेव जन्मनि मयि कृपा कार्येति भावः । श्रीहरेः प्राप्तिर्मह्यं भवत्विति यावत् । ननु शनैः शनैर्भजन-करणेनाऽस्माकं कृपा भविष्यत्येव, अस्मिन्नेव जन्मनि कृपा-प्राप्तौ कथं ते आग्रह इत्यत्र आह—अन्यस्मिन् जन्मनि मत्तः—अस्मत् सकाशात्, शुभा-कल्याणकारिणी, भवत्प्रार्थना स्यात् न वा स्यात् । स्यादेवेति तु न निश्चितं, कुत इत्यत्रोच्यते अन्यस्मिञ्जन्मनि अहं प्राप्तमनुष्यजन्मा एव भवेयमिति न निश्चितं-मानुषदेह-प्राप्ति-दुर्लभतायाः सर्वशास्त्रकीर्तितत्वात् । यदि कथं-चित्पुण्यलेशतस्तत्प्राप्तावपि भारतभूमौ जन्मनो दुर्लभत्वात्, प्राप्यापि तत्र जन्म श्रीवृन्दा-वनप्राप्तिर्मह्यं-स्यान्न वा, तत्प्राप्तावपि युष्मत्प्रार्थनार्थं मयि योग्यता स्यान्न वा, सत्यामपि योग्यतायां-श्रीमच्चरणयोर्मम प्रेमा स्यान्न वा, इत्यादि कारणकलापाद् भीते मयि तु अस्मिन्नेव जन्मनि कृपा कार्येति भावः ।

इस प्रकार, कुछ गौरभक्तों से अलग-अलग प्रार्थना करके, सभी गौर-भक्तवृन्दों से हरिप्राप्ति की मांग करते हैं—हे पूजनीय ! श्रीगौरचन्द्र के भक्तो ! मुझ दीनपर थोड़ी-थोड़ी ही करुणामृत की वृष्टि करदो । जिससे कि,

अनन्त वासनारूप दावानल से जली हुई भगवत्प्राप्तिरूप लता, अंकुर-पत्र-पुष्प-फलादिकों से युक्त हो जाय, अर्थात् वासना ही भगवत्प्राप्ति में बाधक है, उसका नाश, महापुरुषों की कृपा बिना नहीं हो सकता। अतः आप सबको, मुझपर इसी जन्म में कृपा करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि, श्रीहरि की प्राप्ति, मुझको हो जाय। यदि कहो कि, धीरे-धीरे भजन करने से, हमारी कृपा हो ही जायगी। इसी जन्म में कृपाप्राप्ति के विषय में, तुम्हारा आग्रह क्यों है ? तहाँ कहते हैं कि, दूसरे जन्म में, मुझ से कल्याणकारिणी आपकी प्रार्थना हो या न हो, हो ही जाय यह तो निश्चित नहीं; क्योंकि, दूसरे जन्म में, मुझको मनुष्य का ही जन्म मिलेगा यह तो निश्चय नहीं। क्योंकि, मनुष्य-देहप्राप्ति की दुर्लभता, सब शास्त्रों में कही गई है। किसी प्रकार यदि पुण्यलेश से उसकी प्राप्ति भी हो गई तो, भारतभूमि में जन्म दुर्लभ है। यदि भारतभूमिपर जन्म भी हो गया तो, मुझे, श्रीवृन्दावन की प्राप्ति हो न हो। यदि किसी महत्पुण्य से उसकी प्राप्ति भी हो गई तो, मुझ में, आपकी प्रार्थना करने की योग्यता हो न हो। यदि किसी प्रकार से योग्यता भी हो गई तो, आपके श्रीचरणों में मेरा प्रेम हो न हो, अर्थात् पूर्वोक्त कारणसमूहों से डरे हुए, मुझपर तो, इसी जन्म में कृपा कर दीजिये ॥३७-४२॥

एवं निखिलभक्तानभ्यर्थ्य "न साधयति मां योगो न सांख्यंधर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथाभक्तिर्ममोर्जिता ॥ भक्त्याहमेकया ग्राह्यः इति, भक्त्यात्वनन्या शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ इत्यादि भगवदुक्तेः। भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुष इत्यादि श्रुतेश्च-भक्त्यैव भगवत्प्राप्तिरित्याकलय्य नन्दनन्दन-पदारविन्दोर्मम गाढाभक्तिरस्त्वित्याकाँक्षति रथोद्धता छन्दसा तल्लक्षणं तु "रान्नराविह रथोद्धता लगौ" इति—

नन्दनन्दनपदारविन्दयोर्भक्तिरस्तु किल मेऽनपायिनी।
आश्रितैव मनुजस्य सर्वदा शं तनोति हरिपाददायिनी ॥४३॥

इस प्रकार सब भक्तों की प्रार्थना करके, अब "हे उद्धव ! मुझे, भक्ति, जैसे वश में करती है, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग आदि भी, वश में नहीं कर पाते। और मैं, केवल भक्ति के द्वारा ही पकड़ा जाता हूँ, और हे अर्जुन ! जैसा रूप, तूने, मेरा अब देखा है, वैसा तो अनन्य भक्ति से ही देखा जा सकता है, जाना जा सकता है" इत्यादि भगवान् की उक्ति से, और भक्ति ही, ईश्वर को प्राप्त कराती है; भक्ति ही, ईश्वर का दर्शन कराती है, भगवान् भी भक्ति के ही वश में हैं, ऐसा श्रुतियों में कहा है, अतः भक्ति से ही, भगवान् की प्राप्ति होती है", ऐसा जानकर,

भगवच्चरणारविन्दों में अनपायिनी-भक्ति की याञ्चा करते हैं, यथा—व्रजराजकुमार श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों में, मेरी अविनाशिनी-भक्ति हो जाय। क्योंकि जो भक्ति, आश्रय लेनेमात्र से, जीवमात्र का कल्याण कर देती है, और जो, श्रीहरि के चरणों की प्राप्ति कराती है ।।४३।।

स्वशरणभूतां भगवत्स्थानाधिष्ठात्रीं वृन्दादेवीमधुनार्थयते शार्दूलविक्रीडितेन—

हे वृन्दे ! तव धामसेवनपराः प्रापुर्नके वा परं
एवं चिन्तयता मया तव पदाम्भोजद्वयी स्वीकृता ।
प्रीतिर्यद्यपि नास्ति मे त्वयि मनाक् तर्ह्यप्यभीष्टं फलं
मातर्दैयमरं न यान्ति जननी-दृष्टौ शिशोर्मन्तवः ।।४४।।

अब अपनी रक्षक, कवित्वशक्ति-प्रदायिनी भगवत्स्थान श्रीवृन्दावन की अधिष्ठात्री, श्रीवृन्दादेवी की प्रार्थना करते हैं—"हे श्रीवृन्दे ! आपके धाम, श्रीवृन्दावन में बास करनेवाला कौन-सा व्यक्ति, श्रीकृष्णचन्द्र को प्राप्त नहीं कर पाया ?" ऐसा विचारकर ही, मैंने, आपके पदारविन्दयुगल की शरण ली है। यद्यपि आप में, मेरी किञ्चिद् भी प्रीति नहीं है, तो भी मेरे अभीष्ट फलस्वरूप मेरे सखा, श्रीकृष्ण से मुझे मिला दीजिये। हे जननि ! देखो, माता की दृष्टि में, बालकों के अपराध नहीं आते हैं ।।४४।।

"श्रीयमुनातटे नित्यं हरिर्विहरति, अतो यमुनाऽपि तद्दर्शनं कारयितुं शक्ता" इति यमुनामेवाऽर्थयते शिखरिणीद्वयेन—

तवोपान्ते मित्रैरपि च बलदेवेन सहितो
मुकुन्दो नित्यं क्रीडति जलविहारं च कुरुते ।
अतो नीचैर्याचे हलधरमुरारीक्षणसुखं
यथा स्यान्मे चेतस्युपदिश दिशं तां रविसुते ! ।।४५।।

किमायाता कालः स इह जनने मे हतविधे-
र्यदाऽऽयातः कृष्णो मधुमधुरवाङ् निर्झरजलैः ।
श्रुतेर्मार्गं सिञ्चन् करकमलयुग्मेन सहसा
मदङ्गं स्वाङ्गे हा व्रततिमिव वृक्षो गमयिता ।।४६।।

"श्रीयमुनाजी के किनारे, श्रीहरि नित्य विहार करते हैं, अतः श्रीयमुनाजी भी उनका दर्शन करा सकती हैं" इस कारण, श्रीयमुनाजी से प्रार्थना है कि, हे श्रीयमुनाजी ! आपके पास सखामंडल एवं श्रीबलदेवजी के सहित श्रीकृष्णचन्द्र, नित्य क्रीडा एवं जलविहार करते हैं; अतः नत-मस्तक होकर, आप से भिक्षा माँगता हूँ कि, मुझे, वह रास्ता बतलाइये कि,

जिससे मेरे चित्त में, श्रीराम-कृष्ण के दर्शनों का सुख प्राप्त हो जाय ॥४५॥ हे श्रीयमुनाजी ! क्या, मन्द-भाग्यवाले मेरे इस जन्म में, वह समय भी आवेगा ? जिसमें कि, श्रीकृष्णचन्द्र आकर, मधु से भी मीठी अपनी वाणी-रूपी जल से, मेरे कानों को तृप्त करते हुए, मुझ से भुज भरकर उस प्रकार मिलेंगे कि, जिस प्रकार वृक्ष, लता से मिलता है ॥४६॥

अन्तरङ्गकार्यकर्तृ-सम्मतिं विना यथा राज्ञः समीपगमनमतीवदुर्लभं तद्वद्भगवतोऽपीत्याकलय्यान्तरङ्गान् प्रार्थयते तत्रादौ श्रीमन्नन्दं शिखरिणीद्वयकेन—

अये नन्द ! श्रीमन्नयि मम पितः ! कृष्णजनक !
कथं बालोऽहं ते गुणपटलगानं नु करवै ।
न वेदा यस्याऽन्तं ययुरनुदिनं गायनपराः
स कृष्णस्ते पुत्रो भवति मुनिदेवाऽञ्चितपदः ॥४७॥

मदीयेयं याञ्चा पदकमलयोस्ते मम पितः !
यथा श्रीकृष्णं त्वं प्रतिदिनमहो लाडयसि माम् ।
तथा बालं बालोचितवचन-कघ्राणविधिना
तथाऽऽदानेनाऽङ्के करवदन-चुम्बादिविधिना ॥४८॥

"जैसे अन्तरङ्ग कार्यकर्ताओं की सम्मति के बिना, राजा के पास जाना अत्यन्त दुर्लभ है, वैसे ही भगवान् के निकट भी जाना कठिन है" ऐसा विचारकर, अब अन्तरङ्ग-परिकर की प्रार्थना करते हैं—पहले दो श्लोकों से श्रीनन्दबाबा की प्रार्थना करते हैं—हे मेरे पिता ! श्रीकृष्णचन्द्र-जनक ! श्रीमन् नन्दजी ! मैं, एक छोटा-सा अबोध-बालक, आपके गुणगणों का गायन कैसे करूँ ? क्योंकि, चारों वेद भी, प्रतिदिन जिसका गायन करते हुए, पार नहीं पाते हैं, और ऋषि-मुनि-देवता भी जिसके चरणों की वन्दना करते रहते हैं, वही श्रीकृष्णचन्द्र, आपके पुत्ररूप से विद्यमान हैं ॥४७॥ हे पिताजी ! मेरी तो आपके श्रीचरणों में, केवल यही प्रार्थना है कि, जैसे आप, प्रतिदिन श्रीकृष्णचन्द्र का बालोचित वचनों से, मस्तक सूँघने से, तथा गोदी में लेकर हस्त-मुखचुम्बनादि द्वारा, प्यार करते हो, वैसे ही मुझपर भी, श्रीकृष्णचन्द्र के साथ ही गोद में लेकर प्यार कीजिये ॥४८॥

श्रीकृष्ण-जननीं श्रीयशोदामधुनार्थयते शिखरिणीभ्याम्—

यशोदे ! हे मातस्तव गुणगणान् कस्तु गणयेत्
स मूर्खत्वं गच्छेत् तव गुणगणान् यस्तु गणयेत् ।

सहस्राऽऽस्यो नान्तं व्रजति हि गुणान् यस्य गणयन्
गुणागारः कृष्णः स तु भवति यस्यास्तव वशे ।।४९।।
मदीयं हे मातः ! पदकमलयोः प्रार्थनमिदं
मयि प्रीता त्वं चेन्मम खलु सखायं तव सुतम् ।
ममाक्ष्णोः पन्थानं गमय गमय क्रीडतु तदा
न मात्रा मन्यन्ते कथमपि शिशोर्मन्तव इह ।।५०।।

अब श्रीकृष्ण-जननी श्रीयशोदाजी की प्रार्थना करते हैं—हे मातः श्रीयशोदे ! आपके गुणगणों को कौन गिन सकता है ? जो, आपके गुणों को गिनना चाहता है, वह मूर्ख है । क्योंकि शेषजी भी, जिनके गुणों को हजारों मुखों से गिनते हुए भी, आजतक भी पार नहीं पाते । गुणों के आगार, वही श्रीकृष्णचन्द्र, आपके वश में हैं ।।४९।। हे श्रीमाताजी ! मेरी तो आपके श्रीचरणों में यही प्रार्थना है कि, यदि आप, मुझपर प्रसन्न हैं तो, मेरे मित्र, आपके पुत्र, श्रीकृष्णचन्द्र को, मेरे सामने शीघ्र ही भेज दीजिये, वे, मेरे साथ खेलें, यदि मुझको अपराधी भी समझो तो भी, माता तो, बालकों के अपराधों का ध्यान नहीं रखती ।।५०।।

श्रीरोहिणीमधुनाऽर्थयते शिखरिणी-वृत्तद्वयेन—

गुणानामन्तं तेऽञ्चतु क इह हे रोहिणि ! वद
अनन्तो यस्यास्ते जननि ! स हि पुत्रत्वमगमत् ।
गुणैराकृष्टात्मा हरिरपि स यस्य ह्यनुजता-
मलञ्चक्रे चक्रेऽसुरकुलमु चक्रेण चकितम् ।।५१।।

भावार्थः—हे जननि रोहिणि ! त्वमेव वद कथय ते-तव गुणानामन्तम्, कः-अञ्चतु-गच्छतु नकोऽपीत्यर्थः । कुत इत्यत आह यस्या अनन्तगुणगणविशिष्टायास्ते-सः-अनन्तः-शेषः पुत्रत्वमगमत्-पुत्रो जात इति भावः कोऽसौ अनन्त-इत्याकांक्षायामाह यस्य अनन्तस्य गुणैराकृष्टात्मा-आकृष्टचितः स-हरिरपि अनुजताम्-कनिष्ठभ्रातृताम् अलंचक्रे शोभयामास । स्वीचकारेति यावत् । कोऽसौ हरिरित्यत आह यो हरिः चक्रेण असुरकुलं दैत्यनिवहं चकितम् भीतम् चक्रे—

"दरितश्चकितो भीतस्त्रस्तो भीरुश्च कातर इति हलायुधः ।
अतो मादृक् को वा कुमतिस्ते-महिमानं ब्रूयादिति भावः ।।"

सदा वृन्दारण्ये विहरति च कृष्णेन सखिभि-
र्दधद् वेणुं शृङ्गं लकुटमपि नीलाम्बरमपि ।
स्वकान्त्या यस्तन्तन्यत इव शरन्मेघपटलीं
अनन्तं तं मातर्गमय गमयाऽक्ष्णोर्मम पदम् ।।५२।।

हे जननि श्रीरोहिणि ! आप ही कहिये कि, आपके गुणों का पार कौन पा सकता है ? क्योंकि, अनन्त गुणोंवाली आपके, अनन्त भगवान् श्रीशेषजी साक्षात् पुत्ररूप में अवतीर्ण हुए हैं, वे अनन्त कौन से हैं ? तहाँ कहते हैं कि, जिनके गुणों से आकृष्ट चित्त होकर, श्रीहरि भी, छोटे भाई बने हैं। वे हरि कौन से हैं ? तहाँ कहते हैं कि, जिन्होंने अपने सुदर्शन-चक्र द्वारा सम्पूर्ण दैत्यों को डरा दिया। अतः मेरे जैसा कौन कुमति, आपकी महिमा का यथार्थरूप से वर्णन कर सकता है ? ।।५१।। हे श्रीमाता रोहिणीजी ! मेरी तो आपके श्रीचरणों में यही प्रार्थना है कि, आप, उन्हीं अपने पुत्र बलदेवजी को, मेरे नेत्रों के सामने भेज दो कि, जो, सदैव श्रीवृन्दावन में, श्रीकृष्णचन्द्र एवं सखामण्डल के सहित विहार किया करते हैं, एवं जो, नीलाम्बर, वंशी और श्रृङ्ग को धारण किया करते हैं, और जो, अपने श्रीअङ्ग की गौरकान्ति के द्वारा, शरत्कालीन मेघोंका-सा विस्तार करते रहते हैं ।।५२।।

भगवत आह्लादिनीं शक्ति श्रीराधिकामधुनार्थयते-शिखरिणी-वृत्तद्वयेन—

प्रबोधानन्दाद्यैर्य इह कलितस्ते तु महिमा
न तं वक्तुं शक्तो भवति कुमतिर्मद्विधजनः ।
जनोऽयं यं राधे ! तव प्रियहरिं यत्नततिभि-
र्न यायाद् यायाद् वै तव च कृपया तु श्रुतमिति ।।५३।।

अतस्त्वां संयाचे पदकमलयोस्ते निपतितः
सुमन्त्रं तं राधे ! वशयति हरिं येन भवती ।
कृपां कृत्वा मह्यं दिशतु ननु येनाऽहमपि तं
मुदा दृष्ट्वा यायामपि सफलतां स्वस्य जनुषः ।।५४।।

अब, भगवान् की आह्लादिनीशक्ति श्रीराधिकाजी की स्तुति करते हैं—हे श्रीराधे ! श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती प्रभृतियों ने, जो आपकी महिमा का वर्णन किया है, उस प्रकार तो, आपकी महिमा का वर्णन, मेरे जैसा कुबुद्धि-जन, कैसे कर सकता है ? परन्तु मैंने सुना है कि, जीव, अपने सैंकड़ों यतनों से भी, हरि को प्राप्त नहीं कर सकता; आपकी कृपालेश से ही प्राप्त कर सकता है ।।५३।। अतः आपके पदकमलों में गिरकर, मैं प्रार्थना करता हूँ कि, हे श्रीराधिके ! आप, जिस मन्त्र से श्रीहरि को वश में करती हो, कृपा करके मुझे भी, उसका उपदेश कर दीजिये कि, जिससे मैं भी, अपने प्यारे सखा को देखकर, मनुष्य-जन्म की सफलता का लाभ कर लूँ ।।५४।।

श्रीराधाया अन्तरङ्ग-परिजनानधुनार्थयते शिखरिण्या—

विशाखे ! हे चित्रे ! अयि ललितिके ! चम्पकलते !
हरीक्षासौभाग्यं ह्यनुभवथ यूयं प्रतिपदम् ।
अतः किञ्चिद् देयं सपदि कृपया मह्यमपि तत्
अयोग्येऽपीशाद्या बहव इह दृष्टाः कृतकृपाः ।।५५।।

भावार्थः—हे ललितिके-अत्र स्वार्थेकः हे विशाखे ! हे चित्रे ! हे चम्पकलते ! यूयम् प्रतिपदम्-पदं पदं प्रति-इति प्रतिपदम् हरीक्षासौभाग्यम्-ईक्षणमीक्षा दर्शनम्-हरेरीक्षा तदेव सौभाग्यम्-हि इति निश्चयेनाऽनुभवथ । हरिदर्शनमनुक्षणं कुरुथेति भावः । अतस्तद्-हरीक्षासौभाग्यं कृपया मह्यमपि किञ्चिद् देयम् । न मे तत्र कापि योग्यतेति भावः । ननु त्वमयोग्योऽसि-अतः कथमस्माकं कृपा त्वयि स्यादिति चेत्तत्राह-अयोग्येऽपीत्यादि—यथा वैजनाम्नि किराते नित्यं गण्डूषाम्बुनि प्रेक्षिणि प्रसीदन् शिवस्तस्मै महान्तं वरं ददौ तन्नाम्ना च स्वख्यातिमवाप । यथा च स्तेयाय शिवालयं प्रविष्ठोऽर्थ-दर्शनार्थमुत्तेजितदीपस्तेन प्रसन्नः शिवस्तस्मै कुबेरान्तं वरं ददौ । इति भुवि-ईशाद्या देवा अपि-महाशीला दृष्टाः किमुत यूयमिति वक्तव्यम् ।।५५।।

हे ललिते ! हे विशाखे ! हे चित्रे ! हे चम्पकलते ! आप सब, श्रीकृष्णदर्शन के सौभाग्य को प्रतिक्षण अनुभव करती हो, अतः कृपा करके, उस सौभाग्य का किञ्चित् अंश, मुझको भी प्रदान कर दीजिये । यदि कहो कि, तुम, उस सौभाग्य के अधिकारी नहीं हो, तहाँ कहते हैं कि, श्रीमहादेवजी ने तो अपने ऊपर नित्य मुख से निकले हुये जल को डालनेवाले 'वैज'-नामक किरातपर प्रसन्न हो, बड़ा भारी बरदान दे दिया, और उसके नाम से प्रसिद्ध हो गये, अर्थात् शिव के प्रसन्न होनेपर, किरात बोला कि, मेरे नाम के सहित आपका नाम प्रसिद्ध हो जाय--शिवजी बोले—तथाऽस्तु । तभी से श्रीशिवजी का नाम "वैजनाथ" ऐसा विख्यात हो गया । और एक समय कोई पुरुष, शिवालय में चोरी करने को घुसा, उसने धन देखने के लिये दीपक जोड़ा, शिवजी उसी से प्रसन्न हो गये, और उसको कुबेरका-सा धनी बना दिया । इस प्रकार भूमिपर श्रीशिव प्रभृति देवता भी, दयालु एवं आशुतोष देखे जाते हैं, फिर आप सब का तो कहना ही क्या है ? ।।५५।।

श्रीकृष्णस्याऽन्तरङ्ग-वयस्यान् प्रार्थयते शिखरिण्या—

सुदामन् ! श्रीदामन् ! सुबल ! वसुदामन्नयि सखे !
विना श्रीमद्भिः क्रीडति किमपि भुङ्क्ते नहि हरिः ।
सखायं स्वं चातः स्वयमपि कुरुध्वं जनमिमं
वचो युष्माकं श्रीहरिरपि न हेलिस्यति मनाक् ।।५६।।

अयमस्माभिः सख्येनाऽङ्गीकृत इत्यादि-रूपं युष्माकं वचो मनागीषदपि श्रीकृष्णो न तिरस्करिष्यति । अतो यूयं स्वातन्त्र्येणाऽङ्गीकुरुतेति भावः ॥५६॥

हे सखे सुदामन् ! श्रीदामन् ! सुबल ! वसुदामन् ! देखो भैया !, श्रीकृष्णचन्द्र, बिना आप सब के, न क्रीड़ा करते हैं, न भोजन ही । अतः आप सब, इस दीनजन को, स्वयं ही अपने सखामण्डल में सम्मिलित कर लें । "यह जन, हम सबने सखा बना लिया है" ऐसे आपके वचनों को, श्रीहरि भी, तिरस्कृत नहीं कर सकते । अतः आप सब, स्वतन्त्रता से मुझे अङ्गीकार कर लें ॥५६॥

एवं श्रीकृष्ण—सखानभ्यर्थ्य श्रीकृष्णस्यापि पूजनीयं श्रीमद्गोवर्धनमधुना प्रार्थयते शिखरिणीवृत्त-द्वयेन—

विधीन्द्राद्यैर्देवैरपि च मुनिभिः पूजितपदो
हरिर्यस्तेन त्वं बलभिदभिमानं दलयता ।
अपूजिष्ठास्ते कः कथय महिमानं निगदतु
अतस्ते यातोऽहं शरणमपि गोवर्धनगिरे ! ॥५७॥

भावार्थः—हे श्रीगोवर्धनगिरे ! यो हरिः श्रीकृष्णो ब्रह्मेन्द्र-प्रभृतिभिर्देवैः किञ्च नारदादिमुनिभिश्च पूजितौ पादौ यस्य स एवं भूतस्तेन हरिणा त्वं अपूजिष्ठाः-पूजितः । किं कुर्वता इत्याकाँक्षायामाह बलेत्यादि-बलं भिनत्तीति बलभिद्-इन्द्रः बलदैत्यहन्ता तस्याभिमानमहङ्कारं दलयता—खण्डयता अतस्त्वमेव कथय ते तव महिमानं को वा मादृशो निगदतु—न कोऽपीत्यर्थः । अतः—हरिरपि ते प्रसादमाकाँक्षति, तत्कृपाऽपि त्वदायत्तैवेतिहेतोरहं ते शरणं यातः प्राप्तोऽस्मि, अतो ममापि मनोरथं पूरयेति भावः ॥५७॥

किमाकाँक्षसि इति चेत्तत्राह—

मभैषा विज्ञप्तिः पदकमलयोस्ते गिरिमणे !
तवोपान्ते क्रीडां रचयति तथा चारयति गाः ।
सदा गोपैः साकं तव प्रियविधानाय यतते
तमेवाऽद्याऽस्माकं नयनपदवीं प्रेषय हरिम् ॥५८॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के सखाओं की प्रार्थना करके, अब श्रीकृष्ण के भी पूजनीय श्रीगोवर्धन पर्वत की प्रार्थना करते हैं—हे श्रीगोवर्धनजी ! इन्द्र का अभिमान दूर करने के लिये, ब्रह्मा आदि देवता एवं श्रीनारद-प्रभृति मुनिजन भी, जिनकी चरण पूजा करते हैं, उन्हीं श्रीहरि ने आपका पूजन किया है । अतः आप ही कहिये ! क्या आपकी महिमा को, मेरे जैसा पामर

व्यक्ति भी कह सकता है ? कदापि नहीं । मैंने तो, आपकी शरण इसीलिये ली है कि, श्रीहरि भी आपकी कृपा चाहते हैं, उनकी कृपा भी आपके ही आधीन है । अतः मेरा भी मनोरथ पूर्ण कर दीजिये ।।५७।। तुम क्या चाहते हो ? तहाँ कहते हैं कि, हे पर्वतश्रेष्ठ श्रीगोवर्धनजी ! मेरी तो, आपके श्रीचरणों में यही विज्ञप्ति है कि, जो श्रीहरि, आपके पास क्रीड़ा किया करते हैं एवं गैया चराया करते हैं, और सदैव सब गोपों के सहित आपकी प्रसन्नता का ही प्रयत्न किया करते हैं, उन्हीं प्रिय-सखा श्रीहरि को, मेरे नेत्ररूपी मार्ग में भेज दीजिये ।।५८।।

"एवं सत्यामपि सर्वप्रार्थनया हरिप्राप्ति-योग्यतायां तथाऽपि मित्रभाववतां कृते मित्रभावेन श्रीकृष्णसंयोगस्तु श्रीबलदेवाधीन एव" इति बृहद्भागवतामृते गोप-कुमारचरिते श्रीसनातनगोस्वामिभिरपि प्रतिपादितमतोऽधुना श्रीकृष्णात् प्राक् श्रीबल-देवमेवाऽभ्यर्थयितुमुपक्रमते तोटक-छन्दोभिर्लक्षणं तूक्तम्—

बलदेव ! दयालुशिरोमणितां, प्रथितोऽपि महापतिते मयि ताम् ।
यदि नो प्रकटीकुरुषे विपुलां, कथयिष्यति तर्हि नु कः सफलाम् ।।५९।।
सफलीकरणाय दयालुशिरो,-मणितां बलदेव ! हि प्रेषयतात् ।
व्रजराजसुतं सखिभिः सहितं, त्वरितं मम लोचनयुग्मपथम् ।।६०।।
किमहं करवाणि तवाऽतिप्रियं, बल ! येन कृतेन भवान् मुदितः ।
नवनीतहरं लकुटादिधरं, मम नेत्रपथं खलु प्रापयिता ।।६१।।

इस प्रकार सब की प्रार्थना से श्रीहरि-प्राप्ति की योग्यता होनेपर भी, मित्रभाववालों को तो, मित्रभाव से श्रीहरि का संयोग, श्रीबलदेवजी के ही आधीन है । इस बात का प्रतिपादन, श्रीसनातन गोस्वामीजी ने भी 'बृहद्भागवतामृत' में गोपकुमार-चरित्र में किया है । अतः श्रीकृष्ण से पहले, श्रीबलदेवजी को प्रार्थना करते हैं । हे श्रीबलदेवजी ! आप, दयालुओं के शिरोमणि प्रसिद्ध होते हुए भी, यदि उस आपकी दयालु-शिरोमणिता को, महापतित मुझपर, विशेष रूप से प्रगट नहीं करते हो तो, उसको सफल ही कौन कहेगा ? ।।५९।। हे श्रीबलभद्रजी ! उस दयालुता को सफल करने के लिये, श्रीव्रजराजकुमार कृष्णचन्द्र को, सखामण्डल के सहित, शीघ्र ही मेरे दोनों नेत्रों के मार्ग में भेज दीजिये ।।६०।। हे श्रीबलदेवजी ! मैं, आपका ऐसा क्या प्रिय कार्य करूँ कि, जिससे आप प्रसन्न होकर, मेरे नेत्रों के सामने लकुट वंशी धारण किये हुए, माखन-चोर कन्हाई को निश्चय ही भेजोगे ।।६१।।

वसन्ततिलका-वृत्तेन पुनरपि तमेवाऽर्थयते—

हा राम ! हा मम सखे ! अयि कृष्णप्रेष्ठ !
हा देवदेव ! बलदेव ! मुदा मयि त्वम् ।
सस्नेहवारिसहिते तु कदाऽक्षिणी हे
निक्षिप्य मां च सहसा सुखयिष्यसीह ।।६२।।

हा राम ! हा मेरे प्यारे सखे ! आप, श्रीकृष्ण के बहुत प्यारे हो, हा देवदेव श्रीबलदेव जू ! ऐसा दिन कब आवेगा कि, जिस दिन प्रसन्नतापूर्वक स्नेहजल से भरी हुई दृष्टि को मुझपर डालकर, मुझे सुखी करोगे ।।६२।।

एवं क्रमघटनया सर्वानेव श्रीकृष्णपरीवारानभ्यर्थ्य साक्षात् श्रीकृष्णमेवाधुनाऽभ्यर्थयते वसन्ततिलकावृत्तेन—

हा कृष्णचन्द्र ! मम प्राण ! सखे ! दयालो !
नेत्राटवीं मम समाव्रज शीघ्रमेव ।
दृष्ट्वा तदैव चरणौ भवतः सखे ! हे
तापं त्वहं विरहजं लघु नाशयिष्ये ।।६३।।

हा मेरे प्राणप्यारे श्रीकृष्णचन्द्र ! हा दयालो सखे ! आप शीघ्र ही मेरे नेत्रों के सामने आ जावो । हे सखे ! मैं तभी आपके श्रीचरणों का दर्शन कर, आपके विरह से जनित ताप को दूर करूँगा ।।६३।।

पुनरप्यर्थयते शिखरिणी-चतुष्केण—

सखे श्रीकृष्ण ! त्वं मयि कथमहो नैव दयसे
दया चेत्ते भ्रातस्तदपि सविधं नैव नयसे ।
अहं पापीयाँश्चेत्तदपि विमलं नैव कुरुषे
यथार्थां स्वामाख्यां मयि कथमहो नैव कुरुषे ।।६४।।

हे सखे श्रीकृष्ण ! तुम, मुझ दीनपर दया क्यों नहीं करते हो ? हे भ्रातः ! यदि तुम्हारी दया है तो मुझको अपने पास ही क्यों नहीं ले जाते हो ? यदि मैं पापी हूँ, तो तुम, विमल क्यों नहीं करते हो ? और दुःखों से दूरकर आनन्द का प्रदान करनेवाले अपने श्रीकृष्ण नाम को मेरे ऊपर यथार्थ क्यों नहीं करते हो ? ।।६४।।

दयालो ! श्रीकृष्ण ! व्रजपसुत ! गोवर्धनधर !
दयालुत्वेन त्वं यदपि प्रथितः शास्त्रनिवहे ।
तथाप्येतत्तेऽहं तदवधि न हे तात ! गणये
यदा पर्यन्तं त्वं मयि न दयसे दीनजनके ।।६५।।

हे दयालो श्रीकृष्ण ! हे श्रीव्रजराजकुमार ! हे श्रीगोवर्धन धारण करनेवाले ! यद्यपि आप, शास्त्रों में दयालु-शिरोमणिरूप से प्रसिद्ध हैं, तथापि मैं तो, आपकी उस दयालुता को तबतक नहीं गिनता कि, जबतक आप, मुझ दीनपर दया नहीं करते ।।६५।।

गजस्यार्थे त्यक्तं गरुडमय-संवाहनमहो
कृते श्रीद्रौपद्या अहह ! पदकैर्धावितमलम् ।
दृगम्भोभिः प्रक्षालनमपि सुदाम्नः पदकयो-
र्मदर्थे श्रीकृष्ण ! स्वपिषि ननु कस्मिन् गिरिबिले ।।६६।।

हे श्रीकृष्णचन्द्र ! ग्राह से गजेन्द्र की रक्षा करने के लिये तो, आपने अपने वाहनरूप श्रीगरुड़जी को भी छोड़ दिया था, और श्रीद्रौपदी की रक्षा करने के लिये तो, आपको श्रीचरणों से द्वारिका जाकर दौड़ना पड़ा था, और अपने मित्रवर्य श्रीसुदामाजी के पदकमलों को भी आपने, अपने नेत्रों के जल से ही धोया था । अब हे हरे ! आप ही कहिये कि, मेरे लिये कौन-से पर्वत की गुफा में जाकर सोये हो ? ।।६६।।

मया शास्त्रे शास्त्रे श्रुतमिदमलं कृष्णविषये
यदा भक्तः कश्चित् तमतिप्रणयेनाऽऽह्वयति चेत् ।
तदा कृष्णः शीघ्रं व्रजति सविधे तस्य महतो
मदर्थे किं कर्णौ सपदि पिहितौ तेन हरिणा ।।६७।।

मैंने, प्रत्येक शास्त्र में, श्रीकृष्णचन्द्र के विषय में, ऐसा सुना है कि, जब कोई भी भक्त, उन्हें प्रेम से बुलाता है तो, वे शीघ्र ही, उस भक्त के पास पहुँच जाते हैं; परन्तु न जाने, मेरे लिये उन्हीं दयालु श्रीहरि ने, अपने कानों को क्यों बन्द कर लिया है ? ।।६७।।

ननु त्वं तु केवलं काव्यं करोषि, न तु मे दर्शनमिच्छसि-तत्राह वसन्ततिलका-चतुष्केण—

काव्यं करोमि नहि तात ! यशोऽभिवृद्ध्यै
जानाति किं नहि भवानखिलान्तरात्मा ।
का काव्यबन्धकरणे मम योग्यताऽऽस्ते
त्वद्दर्शनार्थमिह केवलमालपामि ।।६८।।

तुम तो केवल काव्य रचना कर रहे हो, मेरा दर्शन तो नहीं चाहते । तहाँ कहते हैं कि—हे प्यारे सखे श्रीकृष्ण ! मैं, अपने यश की वृद्धि के लिये काव्य रचना नहीं कर रहा हूँ । आप तो सर्वान्तर्यामी हैं, क्या नहीं जानते ?

और काव्य रचना करने में मेरी योग्यता ही कहाँ है ? मैं तो, केवल आपके दर्शनों के लिये ही विलाप कर रहा हूँ ।।६८।।

सत्यं वदामि किल नन्दतनूज ! कृष्ण !
वाक्चातुरीमहमहो नहि दर्शयामि ।
त्वामर्थयेऽहमनिशं तव दर्शनार्थं
कृत्वा कृपां सपदि पूरय दर्शनाशाम् ।।६९।।

हे नन्दलाल ! श्रीकृष्णचन्द्र सखे ! मैं, सत्य कह रहा हूँ, कोई वाणी की चतुराई नहीं दिखला रहा हूँ । मैं तो केवल आपके श्रीदर्शनों के ही हेतु, आपकी निरन्तर प्रार्थना कर रहा हूँ । कृपा करके शीघ्र ही दर्शन की आशा पूर्ण कर दीजिये ।।६९।।

त्वद्दर्शनार्थमयमर्थयते जनस्त्वां
त्वं किं शृणोषि नहि प्रार्थनमस्य कृष्ण ! ।
चेत्त्वं शृणोषि हि तदार्पय दृष्टिभिक्षां
भिक्षुः प्रयाति विमुखो नहि सद्गृहाद् भोः ।।७०।।

हे प्रिय कृष्ण ! यह जन, आपके दर्शनों के लिये आपकी प्रार्थना कर रहा है, आप इसकी प्रार्थना को क्यों नहीं सुनते ? यदि सुनते हो तो, इसके लिये दर्शन-रूपी भिक्षा का दान दे दीजिये । देखो प्यारे ! सज्जनों के घर से, भिक्षु कभी भी विमुख नहीं जाता है ।।७०।।

भिक्षां न भिक्षुरधिगच्छति कृष्ण यावत्
कोलाहलं स तनुतेऽधिकमेव तावत् ।
तद्वत्तु कौतुकमयः खलु भिक्षुरेष
मौनं न धास्यति सखे ! वनमालिदासः ।।७१।।

हे सखे श्रीकृष्ण ! भिक्षुक को जबतक भिक्षा नहीं मिलती तबतक दरवाजेपर कोलाहल ही करता रहता है । ऐसे ही हे सखे ! यह महा कौतुकी 'वनमालिदास'-नामक भिक्षु भी, जबतक आप, इसे स्वदर्शनरूपी भिक्षा न दोगे तबतक हल्ला ही करता रहेगा ।।७१।।

हे भिक्षो ! त्वं किमीच्छसीत्याकाँक्षायामाह तोटकेन—

तव दर्शनमिच्छति भिक्षुरयं, नहि केवलमन्नजिघृक्षुरयम् ।
उचितं नहि दर्शनलिप्सुजने, प्रिय ! लोभवता भवता भवितुम् ।।७२।।

हे भिक्षुक ! तुम क्या चाहते हो ? तहाँ कहते हैं कि, यह भिक्षु तो, आपके श्रीदर्शन ही चाहता है । यह, केवल अन्न के ग्रहण करने की इच्छा-

वाला नहीं है। हे प्रिय सखे ! दर्शनमात्र को चाहनेवाले जन के विषय में आपको इतना लोभ करना उचित नहीं है ॥७२॥

"भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः" इति लक्षणलक्षितच्छन्दोभिरर्थयते—

यदा भिक्षवे ह्यन्नदाता ब्रवीति, न दास्यामि भिक्षामहं त्वं प्रयाहि।
तदा भिक्षुरन्यं गृहं याति मौनी, निषिद्धस्तु यावन्न तावन्न याति ॥७३॥
हरे ! चेदभीष्टा न दृष्टिः प्रदातुं, निषेधस्तदागत्य शीघ्रं विधेयः।
यतोऽहं निराशः करिष्ये न चिन्तां, निराशो न तावन्न यावन्निषिद्धः ॥७४॥
निषेधोऽपि ते सौख्यकारी मुरारे !, निषेधेऽपि ते सिद्धिरायात्यघारे !।
समायाहि शीघ्रं निषेद्धुं बकारे !, निषेधेऽपि ते का क्षतिः पूतनारे ! ॥७५॥

अन्नदाता, भिक्षुक के लिये जब यों कह देता है कि, मैं, भिक्षा नहीं दूँगा, तुम चले जाओ, तब भिक्षुक, चुपचाप दूसरे घर चला जाता है। परन्तु जबतक निषेध-वाक्य नहीं सुन लेता, तबतक नहीं जाता ॥७३॥ हे हरे ! यदि आपको इस भिक्षु के लिये अपना दर्शन देना अभीष्ट नहीं है तो, शीघ्र ही आकर निषेध कर दीजिये। जिससे कि मैं, निराश होकर चिन्ता नहीं करूँगा, परन्तु जबतक निषेध नहीं करते, तबतक निराश भी कैसे हो जाऊँ ? ॥७४॥ हे मुरारे ! आपके तो निषेध में भी कार्य सिद्धि हो जाती है। हे बकारे ! अतः शीघ्र ही निषेध करने आ जाइये कि, मैं, तुझको दर्शन देना नहीं चाहता। हे पूतनारे ! निषेध करने में भी आपकी क्या हानि है ? ॥७५॥

शिखरिणीवृत्तेन पूर्वोक्तमेव द्रढयति—

निषेधे चेल्लज्जां व्रजसि भगवन्नन्दतनय !
तथाऽप्यायासि त्वं कथमिह न मे दृष्टिसरणिम्।
तदेकं निश्चित्य त्वमिह वद चोक्त्वेदमपि मां
न दास्ये दास्ये वा कुरु सपदि सन्देहरहितम् ॥७६॥

अन्नदातात्वन्न-दानादिलोभेन कथंचिन्निषेधमपि कुर्यात् त्वं तु न तथा लोभी, अतस्त्वया तु दर्शनं देयमेवेति भावः।

पूर्वोक्त बात को ही दृढ़ करते हैं कि, हे भगवन् श्रीनन्दनन्दन ! यदि आप निषेध करने में लज्जा को प्राप्त होते हो तो, मेरे नेत्रों के सामने क्यों नहीं आते हो ? अब निश्चय करके एक बात कहकर, मुझे सन्देहरहित कर दो कि, तुझे दर्शन नहीं दूँगा अथवा अवश्य ही दर्शन दूँगा; भावार्थ यह है कि, अन्नदाता तो अन्न देने के लोभ से निषेध भी कर सकता है, परन्तु आप तो ऐसे लोभी नहीं हो। अतः आपको तो अवश्य ही दर्शन देना चाहिये ॥७६॥

यद्यप्यहं दोषाकरत्वेन त्याज्यस्तथापि मित्रत्वेन तवाऽनुकम्प्य एवेत्याशयेनाह वसन्ततिलकावृत्तेन—

यद्यस्मि दोषनिवहैः परितः परीतो, नालोकयन्ति सुहृदां सुहृदस्तथापि ।
एवं विचार्य भवताप्यनुकम्पनीयो, दीनः सखे ! तव सखा वनमालिदासः ।।७७।।

"यद्यपि, दोषाकर होने से तो मैं त्याज्य हूँ, परन्तु मित्रभाव से तो स्वीकार करने योग्य हूँ" इस अभिप्राय से कहते हैं कि, हे मित्रवर्य ! यद्यपि मैं, चारों ओर से दोषों से घिरा हुआ हूँ, तथापि सन्मित्र, मित्रों के दोषों को नहीं देखते । ऐसा ही विचार करके, आपको भी इस दीन, गुणहीन सखा वनमालिदासपर अनुकम्पा ही करनी चाहिये ।।७७।।

अथ यद्यपि साधननिष्ठायास्त्वच्चरणभक्तेश्चाऽभावान्ममोद्धारोपि मया निर्णेतुमशक्यस्तथापि "नाऽहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च । तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा" इति सुदामानं प्रति निगदितं—श्रीमुखवचनमेवाकलय्य त्वामहमर्थये, श्रीगुरु-सक्त्या तु त्वया मयि कृपा कार्या-एवेत्याशयेनाह—वियोगिनीवृत्तपञ्चकेन, तल्लक्षणन्तु "विषमे ससजा गुरुः समे, सभरालोऽथ गुरुर्वियोगिनी" इति—

मयि साधन-पीनता नहि, नहि भक्तिस्तव पादपद्मयोः ।
कथमुद्धरणं भवार्णवा-,दिति निश्चेतुमहं नहि प्रभुः ।।७८।।

श्रुतमस्ति परन्तु सन्मुखाद्, भुवि किञ्चिन्नहि दुर्लभं गुरोः ।
गुरवस्तु समाश्रिता मया, भुवि दौर्लभ्य-गुणैः समावृताः ।।७९।।

गुरवो यदि पूजिता मया, कपटं दूरमपास्य सर्वदा ।
मयि तर्हि विधीयतां कृपा, वचसः स्वस्य च कृष्ण ! सत्यता ।।८०।।

वचनं तु प्रमाणयामि ते, भवता किन्नहि बुध्यते सखे ! ।
हरिदासवराय यत्त्वया, गदितं भागवते सुहृत्तया ।।८१।।

मुदितो न भवाम्यहं तथा, तपसेज्यादिभिरन्वहं कृतैः ।
गुरुसेवनतोऽन्वहं यथा, इति सख्ये गदितं वचः स्मर ।।८२।।

"यद्यपि, साधन में निष्ठा के अभाव से एवं आपके श्रीचरणों में भक्ति के अभाव से तो मैं, अपना उद्धार भी निश्चय नहीं कर सकता कि, किस भाँति मेरा उद्धार होगा; तथापि—"मैं, जैसे श्रीगुरुजी की सेवा से प्रसन्न होता हूँ, ऐसे न तो यज्ञ करने से, न ऊँची जाति में जन्म लेने से, न तपस्या से और न शान्ति व्रत धारण करने से"—ऐसे श्रीसुदामा ब्राह्मण के प्रति कहे हुए श्रीमुख के वचनों का ही विचार करके, आपकी प्रार्थना करता हूँ कि, श्रीगुरु-भक्ति से तो मुझपर कृपा करनी ही चाहिये" इस अभिप्राय को

पाँच श्लोकों में व्यक्त करते हैं—मेरे में भक्ति के साधनों की स्थूलता नहीं, अर्थात् भक्ति के साधनों में मैं, पक्का नहीं और न आपके श्रीचरणारविन्दों में मेरी भक्ति ही है। अतः मैं तो, यह भी निर्णय करने में समर्थ नहीं हूँ कि, संसार-सागर से मेरा उद्धार कैसे होगा? ।।७८।। परन्तु मैंने, सज्जनों के श्रीमुख से सुना है कि, संसार में श्रीगुरुजी से बढ़कर कोई भी दुर्लभ वस्तु नहीं है, सो भगवन्! मैंने, भूमि में दुर्लभ गुणगणों से युक्त, ऐसे श्रीगुरुजी का आश्रय तो ले लिया है ।।७९।। "गुरु, कैसे गुणों से युक्त होने चाहियें?" इस विषय में एक महानुभाव की उक्ति है कि—

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत् ।।

जो, अपना कल्याण चाहे तो, वह, ऐसे गुणों से विशिष्ट श्रीगुरु की शरण जाय कि, जो, चारों सम्प्रदायों में से एक में साधन-सिद्ध हों, स्थिर बुद्धिवाले हों, निष्पाप हों, श्रोत्रिय—अर्थात् ब्राह्मण-कुल में जन्म हुआ हो, विधिपूर्वक जिनका यज्ञोपवीत हुआ हो, और जो वेदों को पढ़े हुए हों, भगवान् में जिनकी निष्ठा हो, सत्त्वगुण जिनमें अधिक हो, सत्य बोलनेवाले हों, समयानुसार साधुवृत्ति से युक्त हों, दम्भ और असूया आदि दोषों से रहित हों, और जितेन्द्रिय, दीर्घबन्धु दयालु हों, मार्ग से विचलित होनेवाले शिष्य को समझाकर, ठीक मार्गपर लानेवाले हों, और जो सर्व हितैषी हों। "और जो व्यक्ति, गुरुभक्ति को छोड़कर, केवल भगवद्भक्ति करते हैं, उनके लिये श्रीपति भगवान्, अपना दिव्यधाम नहीं देना चाहते। अतः वे पुरुष भी, उस धाम को प्राप्त नहीं हो पाते" इस विषय में भी एक महदुक्ति है—

भक्तिं विहाय पदयोर्निजदेशिकस्य, भक्तिप्रकर्षमपि ये भगवत्ययन्ते।
तेभ्यो रमासहचरः परमं पदं तद्, दातुं नहीच्छति न तेऽपि च तल्लभन्ते ।।

"और जो व्यक्ति, पूर्वोक्त गुण सम्पन्न, अपने श्रीगुरुजी की परम भक्ति करता है, उसके तो निरन्तर किये हुए अपराधों की ओर दृष्टि न डालकर, श्रीपति, करुणा करके उसको अपना धाम देते हैं", इस विषय में भी एक सदुक्ति है—

ज्ञानं परं तदुचिताचरणं च यस्य, तस्मिन् गुरौ परमभक्तिजुषे जनाय।
आगस्वनारतकृतेष्वनिधाय दृष्टिं, कान्तः श्रियः करुणया निजधाम दत्ते ।।

अतः हे प्रिय सखे ! कृष्णचन्द्र ! यदि मैंने, कपट छोड़कर, सदैव अपने श्रीगुरुदेव जू की सेवा की हो तो, आप, मेरे ऊपर अपनी कृपा कर दीजिये, और अपने वचनों को सत्य कीजिये ॥८०॥ आपके वचनों का प्रमाण मैं क्या दूं ? हे सखे ! आप क्या नहीं जानते ? जो कि, मित्र-भाव से एक शय्यापर बैठे हुये, मित्र सुदामा के साथ वार्तालाप करते समय, आपने, श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध में, सुदामा के प्रति कहे हैं कि, "हे सखे सुदामन् ! मैं, जैसा श्रीगुरुसेवा से प्रसन्न होता हूँ ऐसा तो यज्ञ, सत्कुल में जन्म, तपस्या आदि करनेपर भी प्रसन्न नहीं होता हूँ" ऐसे, मित्रवर्य सुदामा के प्रति कहे हुए वचनों का स्मरण करो. आप क्या भूल थोड़े ही गये हैं ? ॥८१-८२॥

श्रेष्ठशिष्य-लक्षणं यथा

सद्बुद्धिः साधुसेवी समुचितचरितस्तत्त्वबोधाभिलाषी
शुश्रूषुस्त्यक्तमानः प्रणिपतनपरः प्रश्नकाल-प्रतीक्षः ।
शान्तो दान्तोऽनसूयुः शरणमुपगतः शास्त्रविश्वासशाली
शिष्यः प्राप्तः परीक्षां कृतविद्भिमतस्तत्त्वत. शिक्षणीयः ॥

श्रेष्ठ शिष्य वही है कि, जो श्रेष्ठ बुद्धिवाला हो, साधु-सेवी हो, अच्छे चरित्र से युक्त हो, तत्त्वज्ञान की अभिलाषावाला हो, सेवा करने की इच्छा से युक्त हो, अभिमान से रहित हो, नमस्कार परायण हो प्रश्न करने के समय की प्रतीक्षा करनेवाला हो, अर्थात् उचित समय में ही प्रश्न करने-वाला हो, शान्त-वृत्तिवाला हो, जितेन्द्रिय हो गुरुदेव में दोषों को न देखने-वाला हो, शरण में आया हो, शास्त्रों में विश्वास रखता हो, एवं पूर्वोक्त लक्षणों से जिसकी परीक्षा हो चुकी हो, ऐसा शिष्य ही, योग्य गुरुदेव के द्वारा, तत्त्वतः शिक्षा देने योग्य है ।

अधुना स्वस्वरूपं श्रीकृष्णस्वरूपं च दर्शयन् मां स्वीकुरु—इति श्रीकृष्णाद्याच्यते

"प्रतिपदयमकितषोडसमात्रा, नवमगुरुत्वविभूषितगात्रा ।
पज्झटिकाया एष विवेकः, क्वापि न मध्यगुरुर्गण एकः ॥"

इति लक्षणलक्षितेन—पज्झटिका-वृत्ताष्टकेन—

शुद्धाऽशुद्धि-विचार-विहीनः, शास्त्रवर्त्मनि कदाऽपि न लीनः ।
दुष्टाचार-विचार-विलीनः, संसाराङ्गण-कर्दम-लीनः ॥८३॥
भक्तिविहीनतयाऽप्यतिदीनः, पापसमुद्र-तरङ्ग-कुमीनः ।
दुर्जनभाव-भावना-पीनः, सज्जनभाव-भावना-हीनः ॥८४॥

विषय-भुजङ्गम-दष्टमनःश्रीः, भक्तिविरक्त्या दुष्टमनःश्रीः ।
प्राप्स्यत एव मया नरकश्रीः, हरि-विमुखस्य कुतो नु सुखश्रीः ॥८५॥
अहमस्म्येतादृश-गुण-शील-, स्त्वमसि साधुजन-कीर्तित-लीलः ।
मामुररी कुरु हे प्रिय-मित्र !, तव तु सखा खलु नाहममित्रः ॥८६॥

"अब, अपना स्वरूप और श्रीकृष्ण का स्वरूप दिखाते हुए, मुझको मित्रभाव से स्वीकार करो" ऐसी श्रीकृष्ण से याचना करते हैं कि, हे प्रिय मित्र ! श्रीकृष्णचन्द्र ! आपकी लीला का गायन तो साधुजनों ने भूरिशः किया है, परन्तु मेरे गुणों को भी सुन लीजिये कि, मैं कैसे गुण स्वभाववाला हूँ । हे सखे ! मैं तो, ऐसे गुण और स्वभाववाला हूँ कि, मैं, शुद्धाशुद्धि के तो विचार से बिल्कुल विहीन हूँ, और शास्त्र के मार्ग में तो मैं, कभी भी लीन नहीं हुआ हूँ, सदैव दुष्टों के आचार और विचार में ही विलीन हूँ, और संसाररूपी आँगन के विषय-रूपी कीचड़ में लीन हूँ, भक्ति से विहीन होने के कारण ही, मैं, अत्यन्त दीन हूँ, और पाप-रूपी समुद्र की तरङ्गों में विहार करनेवाला कुत्सित मीन हूँ, और दुर्जनों के भाव की भावना में तो मैं, बहुत मोटा हूँ, परन्तु सज्जनों के भाव की भावना में दुर्बल हूँ, और मेरे मन की शोभा को विषय-रूपी सर्प ने काट लिया है, और भक्ति से विमुख होने के कारण, मेरे मन की शोभा दूषित हो गई है । अतः मुझको नरक की ही श्री मिलेगी, क्योंकि, हरि से विमुख को सुख की श्री कहाँ मिल सकती है ? एवंगुण-स्वभाव-विशिष्ट होनेपर भी, मैं, आपका सखा हूँ, अमित्र नहीं हूँ । अतः मुझे स्वीकार कर लीजिये ॥८३-८६॥

"एवं कलापकेन स्वाभिप्रायं प्रकाश्य मित्रभावेन शरणापन्नस्तु सदोषोऽपि न त्याज्यः" इति मनसि निधाय सप्रमाणं युग्मकेनाह—

मित्रभावयुतमागतमात्रम्, नैव त्यजामि जनं क्षणमात्रम् ।
दोषी यदपि भवेदतिमात्रम्, महतामेतदगर्हितमात्रम् ॥८७॥
इति-रूपां स्वप्रतिज्ञां भ्रातः !, स्मरसि किमु त्रेतायुगजातः ।
करिष्यसि त्वं कपिसेनाग्रे, क्व विभीषण आयास्यत्यग्रे ॥८८॥

इस प्रकार चार श्लोकों से अपना अभिप्राय प्रकाशित करके प्रमाण के सहित, अब दो श्लोकों से इस बात को कहते हैं कि, मित्र-भाव से श्रीहरि की शरणागति लेनेवाला तो दोषी-व्यक्ति भी, त्यागने योग्य नहीं है—इस बात में प्रमाण तो बाल्मीकीय-रामायण के युद्धकाण्डान्तर्गत श्रीविभीषण-शरणागति के प्रसङ्ग में, श्रीराघवेन्द्र सरकार का श्रीमुखवचन ही है, यथा—(वा० रा० ६।१८।३)

"मित्र-भावेन सम्प्राप्तं, न त्यजेयं कथंचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्, सतामेतदगर्हितम् ॥" इति

जो व्यक्ति, मित्रभाव से मेरी शरण आता है, उसे तो मैं, क्षणभर भी नहीं त्याग सकता। चाहे वह शरणापन्न-जन, कितना भी दोषी क्यों न हो, किन्तु सज्जनों के लिये वह किञ्चिद् भी निन्दनीय नहीं है ॥८७॥ तुलसी-कृत में भी उसी प्रसङ्ग में कहा है कि—

दोहा—शरणागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्हहिं विलोकत हानि ॥

हे सखे! त्रेतायुग में श्रीराम-रूप से की हुई, पूर्वोक्त प्रकार की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण आपको है कि नहीं, यदि कहो कि, कहाँ की थी, तहाँ कहते हैं कि, रावण को त्यागकर, मित्र-भाव से आपकी शरण लेने को समुद्र के किनारे आये हुए विभीषण के प्रति, वानरी सेना के सामने ही तो की थी ॥८८॥ इस श्लोक में **"विभाषा साकांक्षे"** इस पाणिनीय-सूत्र से भूतकाल में भी लृट् का प्रयोग जानना। और मित्र-भाव से युक्त सुग्रीव की शरणागति में भी ऐसे वचन पाये जाते हैं कि, **"निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमागतिः"** तात्पर्य यह है कि, मित्र, चाहे निर्दोषी हो, चाहे सदोषी हो, परन्तु मित्र की तो मित्र ही परम गति है।

ननु न त्वं विभीषणवन्निर्दोषः सुहृदसि कथमतस्त्वां स्वीकरोमीत्याशयेनाह—

मित्रैर्दोषा नालोक्यन्ते, मित्रगुणा एवालोक्यन्ते।
इति भवता गदितं बहुवारम्, अहमायातः स्मारं स्मारम् ॥८९॥
अहमपि मित्रभावमुपयातः, संस्तव पादमूलमुपयातः।
स्वीकुरु मां भव सत्यप्रतिज्ञः, किं कथयानि बहु त्वमभिज्ञः ॥९०॥

"यदि कहो कि, भाई! तुम, विभीषण के समान निर्दोषी मित्र नहीं हो। अतः तुमको कैसे स्वीकार कर लें?" इसी आशय को लेकर कहते हैं कि, हे सखे! मित्र, मित्र के दोष नहीं देखा करते, अपितु गुण ही देखा करते हैं। ऐसा आपने बहुत बार कहा है; मैं भी उसका बारम्बार स्मरण करके आया हूँ ॥८९॥ मैं भी मित्रभाव से युक्त होकर, आपके श्रीचरणों की शरणागति लेने आया हूँ, मैं कोई आप से बहस नहीं करता, आप सर्वज्ञ हैं, आप से विशेष क्या कहूँ? मुझको स्वीकार कर लो, और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करके, सत्य प्रतिज्ञावाले हो जाओ, अर्थात् मुझको स्वीकार करके ही आप सत्यप्रतिज्ञ कहे जाओगे ॥९०॥

ननु प्रसन्नान्मत्तः किमभिलषसीत्याकांक्षायां श्रीमद्दर्शनमेव ममेष्टमित्याह "रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा—हरिणी तदा" इति लक्षणलक्षितेन छन्दसा—

वसनमपि बिभ्राणा विद्युल्लता-परितापकं
जलदपटल-श्यामा वामा करे मुरलीधरा।
स्मितमुखयुता गुञ्जाहारा वरेभगतिश्च ते
नयनपथगा भूयान्मूर्तिर्हरा मनसो मम ॥९१॥

भाई ! प्रसन्न हुए मुझसे, तुम क्या चाहते हो ? तहाँ कहते हैं कि, मुझे तो आपका श्रीदर्शन ही चाहिये। हे सखे नन्दलालजी ! मेरे नेत्ररूपी राजमार्ग में, मेरे मन को मोहन करनेवाली आपकी वह श्रीमूर्ति विहार करे जो कि, बिजली को भी तिरस्कृत करनेवाले वस्त्र को धारण किए हुये हो, और जो वर्षाकालीन नूतन जलधरों के समान श्याम-वर्णवाली हो, और बहुत ही बाँकी हो, हस्त-कमल में मुरली धारण किये हुए हो, ईषद् हास्य-युक्त मुखारविन्दवाली हो, और गुञ्जाओं के हार धारण किये हुए हो, और मदमस्त हाथी की-सी चालवाली हो ॥९१॥

पुनः कीदृशी ते श्रीमूर्तिरित्यभिप्रायेण तां वर्णयन् तद्दर्शनमेवाशास्ते—त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकमित्युक्तलक्षणयुक्तेन विशेषकेण तथा "स्याच्चतूरेफिका स्रग्विणी सम्मता" इति लक्षणघटितेन स्रग्विणी-वृत्त-त्रयेण—

श्यामला गौरवर्णेन रामेण या, भूषिता हास्यमाना मुदा मित्रकैः।
सूर्यजा-तीरजाते कदम्बे स्थिता, वंशिकावादने पण्डिता मण्डिता ॥९२॥

पादयोर्नूपुरान्मेखलां काञ्चनीं, श्रोणिदेशे दधाना शरीरेंशुकम्।
पीतवर्णं तडित्कान्तिविस्मापकं, मौक्तिकं नासिकाग्रे करे कङ्कणम् ॥९३॥

हस्तयोरङ्गदे कौङ्कुमं चन्दनं, केकिबर्हं किरीटे करे यष्टिकाम्।
मूर्तिका या गवां पालने तत्परा, प्रादुरास्तां सदा स्रग्विणी कापि सा ॥९४॥

"फिर, वह आपकी श्रीमूर्ति कैसी है ?" इस अभिप्राय से उसका वर्णन करते हुए, उसी का दर्शन चाहते हैं कि, हे सखे ! आपकी वही मोहिनी-मूर्ति, हमारे नेत्रों के सामने सदैव प्रगट रहे, जो कि, इन्द्रनीलमणि के दर्पण के दर्प को चूर्ण करनेवाली श्यामवर्ण विशिष्ट हो, और जिसके दाहिनी ओर गौरवर्णवाले श्रीदाऊजी के विराजमान होने से जो विभूषित हो, और व्रज के सखा आनन्दपूर्वक जिसका हास्य-परिहास कर रहे हों, श्रीयमुनाजी के किनारे कदम्ब के नीचे जो विराजमान हो, और वंशी बजाने में पण्डित एवं व्रज के आभूषणों से मण्डित हो, चरणों में नूपुर

धारण किये हुए हो, कटि-प्रदेश में किंकिणी-जालयुक्त सुवर्ण की कौंधनी हो, और श्रीविग्रहपर जो बिजली की कान्ति को भी विस्मित करनेवाले पीताम्बर को धारण किये हुए हो, नासिका के अग्रभाग में गजमुक्ता एवं करकमलों में कङ्कण धारण किये हुए हो, और भुजाओं में बाजूबन्द एवं ललाटपर जिसके केसर कर्पूर मिश्रित चन्दन का हरि-मन्दिराकृति तिलक विराजमान हो, मुकुट में मयूरपंख हों, और जो श्रीवृन्दावन में गोपालन-कर्म में तत्पर हो ।।९२-९४।।

तदैव मे भाग्यं फलिष्यतीति हरिणी-वृत्तेन पुनरप्याह—

यदि स कृपया यायादक्ष्णोः पदं सबलो हरि-
र्विपुलपुलकाढ्याभ्यां दोर्भ्यां पुरा परिरम्भणम् ।
तदनु च करिष्यामः पूजां फलाहरणादिभि-
र्हरि हरि तदाऽस्माकं भाग्यं फलिष्यति भूरिशः ।।९५।।

"हे सखे श्रीनन्दनन्दन ! मेरा भाग्य तो तभी सफल होगा", ऐसे फिर भी एक श्लोक से वर्णन करते हैं—मुझपर कृपा करके यदि श्रीहरि, श्रीबलदेवजी के सहित मेरे नयन-प्राङ्गण में आ जायें तो, प्रथम तो, उनसे उनके दर्शन से पुलकित भुजाओं से मिलूँगा; तदनन्तर पत्र-पुष्प-फलादि द्वारा उनकी पूजा करूँगा, अहह ! उस समय हमारा भाग्य विशेषरूप से फलीभूत हो जायगा ।।९५।।

ननु मयि तव रत्याभासोऽपि नास्त्यतस्तुभ्यं दर्शनदानं निरर्थकमेव स्यादित्याशंक्य, श्रीमच्चरणारविन्दयोर्मम रतिरेवाऽस्तु-इति याचते "प्रमाणिका जरौ लगौ" इति लक्षण-युक्तेन प्रमाणिका-वृत्त-त्रयेण, विशेषकश्चात्र बोध्यः श्लोकत्रयेऽन्वयात्—

ममाऽस्ति काम एष ते-,ऽस्तु पादपद्मयोः सखे ! ।
रतिः प्रवाहशालिनी, सदाश्रुजालमालिनी ।।९६।।
भवाब्धिपारकारिणी, ममाऽस्तु हृद्विहारिणी ।
तव स्मृतिप्रदायिनी, सदैव चाऽनपायिनी ।।९७।।
तवात्मसङ्ग-दायिनी, कुसङ्गिसङ्ग-दाहिनी ।
अनङ्गसङ्ग-भङ्गिनी, त्वदीयसङ्ग-सङ्गिनी ।।९८।।

भाई ! जब मेरे में तेरा रति, अर्थात् प्रेम का आभास भी नहीं है, तब तेरे लिये दर्शन देना निरर्थक-सा ही हो जायगा, क्योंकि—

चौपाई—जाने विनु न होय परतीति । विनु परतीति होय नहीं प्रीति ।।
विना प्रीति नहिं भक्ति दृढाई । जिमि खगेश जल की चिकनाई ।।

ऐसी आशंका करके, आपके श्रीचरणारविन्दों में मेरी रति ही हो जाय, इस प्रकार तीन श्लोकों से भिक्षा माँगते हैं। यथा—हे सखे! मेरी तो यही अभिलाषा है कि, आपके श्रीचरणकमलों में, मेरी ऐसी रति हो कि, जिसका प्रवाह, अनवरत श्रीगंगाजी के समान सुशोभित हो, सदैव अश्रु-रूपी मुक्ताओं की माला धारण करनेवाली हो, संसार-सागर से पार करनेवाली हो, मेरे हृदय-प्राङ्गण में विहार करनेवाली हो, तुम्हारी स्मृति की प्रदायिनी एवं सदैव अविनाशिनी हो, तुम्हारे सङ्ग को देनेवाली हो, और कुसङ्गियों के सङ्ग को जलानेवाली हो, अनङ्ग (कामदेव) के सङ्ग को भङ्ग करनेवाली हो, तुम्हारे प्यारे भक्तों के सङ्ग की सङ्गिनी हो ॥९६-९८॥

'रति'-शब्द की व्याख्या, श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी ने 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ में एक श्लोक में इस प्रकार की है—

"स्नेहस्यैव विकारः, प्रिययोरत्यन्तभावनादनिशम्।
विरहाऽसहिष्णुतात्मा, प्रीति-विशेषो रतिर्नाम॥"

भावार्थ यह है कि, दोनों प्यारों की निरन्तर अत्यन्त भावना की वृद्धि के कारण, जिसमें विरह नहीं सहा जाय, और स्नेह का ही जो विकार है, ऐसे प्रेम-विशेष को रति कहते हैं। हे सखे! आपके प्रति विरहासहिष्णुतात्मा रति मेरे हृदय में कब उदय होगी? न जाने मुझ हतभाग्य का भाग्य कब खुलेगा—

मनोविशुद्ध्यभावाद् रतिर्दुरापा अतो मनोविशुद्ध्यर्थं विलपति वंशस्थेन—

विशुद्धतां यास्यति हा दुरात्मनो, मनो दुरागो-मलिनं कदा मम।
इतीव चिन्ताचय-चिन्तितात्मनो, मनो न मे शान्तिमुपैति हे सखे! ॥९९॥

"मन की विशुद्धि के बिना रति नहीं मिल सकती। अतः मन की विशुद्धि के लिये विलापपूर्वक अपने सखा से प्रार्थना करते हैं"—हा सखे! कृष्णचन्द्र! बड़े-बड़े अपराधों से मलिन हुआ मुझ दुरात्मा का मन, कब विशुद्ध होगा, प्रतिक्षण ऐसी चिन्ता से चिन्तित होने के कारण, मेरा मन, शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, अतः आप उसको विशुद्ध बनाकर शान्त कीजिये ॥९९॥

मनोविशुद्धिश्च कामदोष-नाशाऽनन्तरमेवेत्याकलय्य तद्दोषशान्तय एव पूर्वं स्वसखं प्रार्थयते तोटकेन—

अयि नाथ! तवास्ति कृपा मयि चे-,न्मम नाशय तर्हि मनोजरिपुम्।
नमिते सति यस्य हि नाशदशां, सुमुखो भवतीह जनो नितराम्॥१००॥

"मन की विशुद्धि भी, कामरूपी-दोष के नष्ट होनेपर होती है" ऐसा विचार कर, उस दोष की शान्ति के लिये, पहले अपने सखा व्रजराज कुमार से प्रार्थना करते हैं—हे नाथ ! यदि मेरे ऊपर आपकी किञ्चिद् भी कृपा है तो, पहले मेरे काम-रूपी शत्रु का नाश कर दीजिये, जिसके नाश हो जाने के बाद, इस संसार में जीव अत्यन्त सुखी हो जाता है ।।१००।।

अथ कदाचित्स्वमनसश्चाञ्चल्यं निरीक्ष्य तन्निरोधार्थं याचते द्रुतविलम्बित-छन्दसा—

मम मनो विषयेषु हठात् सखे !, व्रजति तत् कथमत्र निरोधये ।
तव पदाब्जयुगे प्रविशेद् यथा, भ्रमरवद्धि तथैव विधीयताम् ।।१०१।।

अब कदाचित् अपने मन की चंचलता को देखकर उसके निरोध की प्रार्थना करते हैं—हे सखे ! मेरा दुष्ट मन, हठात् दुर्विषयों में जाता है, मैं उसका निरोध कैसे करूँ ? आपके चरणकमल-युगल में मेरा यह दुष्ट मन, भ्रमर के समान जिस प्रकार प्रवेश करे, वैसा ही उपाय कीजिये ।।१०१।।

ननु स्वविचारेणैव मनो दमय किं मम प्रार्थनयेत्याशंकायां प्राह शिखरिणी-छन्दसा—

न जाने पूर्वं किं वृजिनमनुचीर्णं बहु मया
यतो चेतो भ्रातर्व्रजति विषये मेऽनुदिवसम् ।
निरोद्धुं तच्चाऽहं कथमपि समर्थो नहि हरे !
त्वदन्यं कं श्रीमन् ! कथय शरणं यामि विकलः ।।१०२।।

"अपने विचार से ही मन का दमन करलो, मेरी प्रार्थना से क्या ?" ऐसी आशंका करके कहते हैं कि—हे सखे ! न जाने पहले जन्मों में मैंने, कौन-सा ऐसा बड़ा भारी पाप किया है कि, जिस कारण से मेरा मन, प्रतिदिन विषयों में जाता है । हे हरे ! मैं उसको रोकने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हूँ । हे श्रीमन् ! आप ही कहिये कि, सर्वथा विकल मैं, आपको छोड़कर किस की शरण में जाऊँ, अर्थात् आप जैसा समर्थ कोई भी नहीं दीखता ।।१०२।।

"शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" इति लक्षण-लक्षितेन शालिनी-वृत्तेन पुनरभ्यर्थयते—

कामक्रोधौ लोभमोहौ तथाऽन्यौ, चैते भ्रातर्दस्यवः पीडयन्ति ।
आपत्काले रक्षणायैव मित्रं, मित्रं स्वं किं त्रायसे नैव कृष्ण ! ।।१०३।।

हे सखे ! श्रीकृष्ण ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ये छः शत्रु, मुझे बहुत पीड़ा दे रहे हैं, आपत्ति-काल में रक्षा करने के लिये ही

मित्र हुआ करता है, सो आप, अपने मित्र की इन भयङ्कर छः शत्रुओं से रक्षा क्यों नहीं करते ? ॥१०३॥

सुहृत्कृत्यं दर्शयन् पुनरभ्यर्थयते शिखरिण्या—

कृपासिन्धो ! बन्धो ! कथमहह बन्धो न भवता
मदीयः संसारे जनिमरणरूपो विघटितः ।
विपन्ने नो युक्ता सुहृदि तव मौनस्थितिरियं
इमे कामाद्या मां विदधति यमौकोऽतिथिमहो ॥१०४॥

"मित्र को, मित्र के प्रति क्या करना चाहिये ?" इस बात को दिखाते हुए प्रार्थना करते हैं कि—हे कृपासिन्धो ! बन्धो ! आप जैसे बन्धु के रहते हुए भी, संसार में बारम्बार जन्म-मरणरूपी मेरा बन्धन, आपने दूर क्यों नहीं किया ? मित्र के ऊपर विपत्ति पड़नेपर आपका चुपचाप बैठ रहना ठीक नहीं है । यदि कहो कि, क्या विपत्ति है ? तो इससे अधिक क्या विपत्ति होगी कि, ये कामादिक शत्रु, मुझको यमराज के दरवाजे के अतिथि बना रहे हैं । अतः आप ही सोच लीजिये, क्या आपका मित्र, यमराज के दरवाजेपर जाय तभी आपकी कीर्ति होगी ? ॥१०४॥

कामदोषनाशश्च वासनाक्षयाऽनन्तरमेवेति निश्चित्य तन्नाशायैवाऽभ्यर्थयते वंशस्थ-वृत्तद्वयेन—

अतीवसूक्ष्मः किल वासनांकुरः, समूलमुन्मूलयितुं क्षमेत कः ।
ऋते भवन्तं भगवन्नधोक्षज !, सखे ! मम श्रीव्रजराजनन्दन ! ॥१०५॥
ममाऽस्ति चित्ते किल वासनातरुः, समूलमुन्मूलय तं सखे ! मम ।
हरेऽनुकम्पा मयि तेऽस्ति चेत्तदा, हितं यथा मेऽस्तु तथा विधीयताम् ॥१०६॥

"कामरूपी दोष का नाश भी वासनाक्षय के अनन्तर ही होता है" ऐसा निश्चय करके, उसके नाश के लिये दो श्लोकों से प्रार्थना करते हैं—हे मेरे प्रिय सखे ! श्रीव्रजराजनन्दन ! वासना का अंकुर अत्यन्त ही सूक्ष्म होता है, आपके बिना उसको मूल के सहित कौन उखाड़ सकता है, अर्थात् कोई भी नहीं, क्योंकि, आपका ज्ञान इन्द्रियातीत है, अतः इन्द्रियातीत अत्यन्त सूक्ष्म वासनांकुर को इन्द्रियातीत ज्ञानवाला ही समूल नष्ट कर सकता है ॥१०५॥ हे सखे ! मेरे चित्त में तो वासना का बड़ा भारी वृक्ष है, उसको आप समूल नष्ट कर दीजिये । हे हरे ! यदि मेरे ऊपर आपकी अनुकम्पा है तो जिस प्रकार मेरा हित हो वैसे ही कीजिये ॥१०६॥

लोकोत्तरां स्ववासनामेव निर्दिशति शार्दूलविक्रीडितेन—

हा चित्ते मम वासना गुरुतरा ह्येका वरीवृत्यते
सा पूर्णा भवताद् दयालवबलाच्छ्रीमद्गुरूणां मम।
सा चैषा बलरामकृष्ण-मुखचन्द्रौ मे चकोराविव
नेत्रे पास्यत एव यहि सफले तह्येव ते सन्मते ॥१०७॥

अब अपनी लोकोत्तर वासना का ही निर्देश करते हैं कि—हाय ! मेरे चित्त में तो एक बड़ी भारी वासना विद्यमान है। यदि मेरे श्रीगुरुदेव की कृपा का लेश भी मुझपर हो जाय तो वह पूर्ण हो सकती है, और वह वासना भी यह है कि, मेरे दोनों नेत्र निर्निमेष भाव से, चकोरों के समान, श्रीरामकृष्ण के मुखचन्द्रों का जब पान करेंगे, तभी वे, सज्जनों के मत में सफल माने जायेंगे ॥१०७॥

अथ कदाचित् स्वनेत्रे प्राकृतरूपे लग्ने निरीक्ष्य तन्निवृत्त्यर्थमर्थयते शार्दूलविक्रीडितेन—

नेत्रे चञ्चलतां गते मम सखे ! लोकस्य रूपेऽल्पके
तत्राऽऽसक्तिमती च मे निरयवासं कर्तुमेवोद्यते।
यद्यास्ते मयि हे सखे ! तव कृपालेशोऽपि नेत्रे तदा
सौन्दर्याम्बुधिकोटि-विस्मयकरे रूपेऽनुरक्ते कुरु ॥१०८॥

अपने नेत्रों को, कभी प्राकृत रूप में लगे हुए देखकर, उनकी निवृत्ति के लिये प्रार्थना करते हैं कि, हे मेरे प्रिय सखे ! मेरे ये नेत्र, अत्यन्त तुच्छ लौकिक रूप के देखने को चंचल हो गये हैं, और इनकी वहाँ अधिक आसक्ति हो जाने के कारण, मेरा तो ये, नरक में ही वास कराने को तैयार हैं। हे सखे ! यदि आपकी कृपा का लेश भी मुझपर है तो, मेरे इन चंचल-नेत्रों को, करोड़ों सुन्दरता के समुद्रों को भी विस्मित करनेवाले अपने श्रीरूप में अनुरक्त कर लो ॥१०८॥

पुनरपि दर्शनमेवाकांक्षति तोटकेन—

मम यान्ति दिनानि विना त्वयका, विफलानि सखे ! सफलानि कुरु।
प्रकटय्य निजं सखिभिः सहितं, सबलं वपुरात्ममनः सुखदम् ॥१०९॥

हे सखे ! आपके श्रीदर्शन के बिना, मेरे सभी दिन निष्फल जा रहे हैं, अतः समस्त सखा-मण्डल एवं श्रीबलदेवजी के सहित, आत्मा और मन को सुख देनेवाला, अपना श्रीविग्रह प्रगट करके उनको सफल बना दो ॥१०९॥

द्रुतविलम्बितेन च तदेवाभ्यर्थयते—

किमु कदापि हरिः कृपयिष्यति, मयि दुरात्मनि तद्विमुखात्मनि।
कुरु हरे ! सफलां स्वदयालुतां, पथि दृशोः प्रकटय्य सुविग्रहम् ॥११०॥

हाय ! मैं तो अत्यन्त दुरात्मा एवं भगवद्-विमुख हूँ, ऐसे मुझपर भी, वे दयालु श्रीहरि, कभी कृपा करेंगे क्या ? हे हरे ! मेरे नेत्रों के सामने अपने श्रीविग्रह को प्रगट करके अपनी दयालुता को सफल करो ।।११०।।

रूपान्तरेण तदेवाह द्रुतविलम्बितेन—

यदि करिष्यति हे भगवन् ! भवान्, मयि कृपां नहि तर्हि कदापि मे ।
भवितुमर्हति यत्नशतैरपि, भवमहार्णवतस्तरणक्रिया ।।१११।।

हे भगवन् ! यदि आप, मुझपर कृपा नहीं करेंगे तो, सैकड़ों उपायों से भी संसार-सागर से मेरा कभी भी उद्धार नहीं हो सकता ।।१११।।

ननु साक्षाद् दर्शनदानाऽयोग्यं मां मन्यसे चेत्तर्हि तव दर्शनेप्सूनामेव दर्शनं मह्यं भवत्वित्याह-वसन्ततिलका-वृत्तेन—

यस्येप्सितं तव तु दर्शनमेव लोके, तस्येप्सितं मम तु दर्शनमेव लोके ।
यद्दर्शनाद् वितनुते तव दर्शनाऽऽशा, सेवेत को नहि बुधस्तव दर्शनेप्सून् ।।११२।।

"यदि आप, मुझको साक्षात् दर्शन देने के योग्य नहीं समझते हो तो, आपके दर्शन चाहनेवाले महापुरुषों का ही दर्शन मुझे हो जाय", ऐसी प्रार्थना करते हैं कि, हे हरे ! इस लोक में, जो, आपके दर्शन करना चाहता है, मैं उसी के दर्शन करना चाहता हूँ । क्योंकि, जिसके दर्शन से आपके दर्शनों की आशा बढ़ जाती है । इस संसार में ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा, जो कि, आपके दर्शनाभिलाषियों की सेवा न करे ? ।।११२।।

पूर्वोक्तमेव द्रढयति—द्रुतविलम्बितेन—

यदि न दातुमहो सहते भवान्, सपदि दर्शनमेव दुरात्मने ।
भवतु दर्शनमेव तथाऽपि मे, त्वदवलोकन-प्राणवतां सताम् ।।११३।।

यदि आप, मुझ दुरात्मा के लिये शीघ्र दर्शन देना नहीं चाहते हो, तथापि आपका दर्शन ही जिनका प्राण है—ऐसे सत्पुरुषों का ही दर्शन मुझे हो जाय ।।११३।।

सत्सङ्गमेवाऽधुना सामान्यतो याचते शार्दूलविक्रीडितेन—

अस्मिञ्जन्मनि नो मया तु भगवन् ! स्वस्येहितैर्लक्ष्यते
प्राप्तिस्ते व्रजराजनन्दन ! सखे ! पूर्णानुकम्पां विना ।
अस्मिञ्जन्मनि नो कृपा मयि तवेष्टा चेत्तदैवं कुरु
संसारे भ्रमतः स्वकर्मनिवहैः सङ्गः सतां जायताम् ।।११४।।

अब श्रीहरि से सत्सङ्ग की ही प्रार्थना करते हैं,—हे भगवन् ! सखे ! श्रीव्रजराजनन्दन ! आपकी पूर्ण अनुकम्पा के बिना, मुझे अपने कर्तव्यों से

तो, इस जन्म में आपकी प्राप्ति दीखती नहीं है। यदि इस जन्म में मुझपर आप कृपा करना नहीं चाहते हो तो, इतना तो अवश्य कर देना कि, इस संसार में अपने कर्मों के वशीभूत होकर, घूमते हुए मुझको, सज्जनों का सङ्ग तो मिलता ही रहे। क्योंकि—

"बरुभलवास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता" ॥११४॥

ननु सत्सङ्गे न कां ते सिद्धिरित्याशंक्याह शिखरिण्या—

सतां सङ्गात्के नो भवजलनिधेः पारमगमन्
कियन्तो वा दुष्टा नहि तव सुभक्ताः समभवन्।
दुराचारा भ्रातः! कति नहि सदाचारमभजन्
सुगोलोके के वा नहि कथय लोकाः समवसन् ॥११५॥

यदि कहो कि, सत्सङ्ग से तुम्हारी क्या सिद्धि होगी, तहाँ कहते हैं कि—हे भ्रातः कृष्णचन्द्र! आप ही कहिये कि, सज्जनों के संग से, संसार-सागर से कौन पार नहीं हुए? और सत्सङ्ग से कितने ही दुष्ट, आपके सुन्दर भक्त नहीं हो गये क्या? और कितने ही दुराचारी, सदाचारी नहीं बन गये क्या? ऐसे कौन हैं कि, जो, सत्सङ्ग से आपके गोलोक-धाम में निवास नहीं कर गये? ॥११५॥ सत्सङ्ग के महत्त्व को किञ्चिद् और व्यक्त करते हैं। हे भगवन् श्रीकृष्ण! आपने स्वयं ही तो श्रीउद्धवजी के प्रति कहा है कि, हे उद्धव! सब दुःसङ्गों को दूर करनेवाला सत्सङ्ग जैसे मुझको वश में कर लेता है—वैसे तो न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप, न त्याग, न यज्ञ, न कुआँ, बावड़ी खुदवाना, न दक्षिणा, न व्रत, न वेदपाठ, न तीर्थ, और न यम, नियम हो वश में कर पाता है। सत्सङ्ग से ही दैत्य, यातुधान, मृग-खग, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर और मनुष्यों में भी वैश्य, शूद्र, स्त्री, चाण्डाल प्रभृति रजोगुण तमोगुणमयी प्रकृतिवाले, प्रत्येक युग में बहुत-से व्यक्ति, मेरे धाम को प्राप्त हो गये हैं। कतिपयों के नाम गिनाते हैं—वृत्रासुर, जो सत्ययुग में चित्रकेतु नाम के प्रसिद्ध सार्वभौम थे, जिनको श्रीनारदजी के संग से सात दिन में ही श्रीदाऊजी के दर्शन हो गये थे। पश्चात् पार्वतीजी के शाप से असुर हुए। वहाँपर भी श्रीहरि-कृपा से स्मृति बनी रही; और श्रीनारदजी के प्रधान कृपापात्र श्रीप्रह्लादजी तो प्रसिद्ध ही हैं। और राजा वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, श्रीविभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजराज, गृध्रराज, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रज की गोपियाँ, मथुरावासिनी-यज्ञपत्नी ब्राह्मणी इत्यादि कितने ही सत्सङ्ग से मुझको प्राप्त हो गये। हे उद्धव!

जिनके नाम मैंने गिनाये हैं उन सब ने तो, वेदों का भी अध्ययन नहीं किया था, न वृद्धों की सेवा ही की थी, न कोई विशेष व्रत ही किये थे, न तपस्या, केवल सत्सङ्ग से ही मुझको प्राप्त हो गये। पूर्वोक्त महापुरुषों का सम्पूर्णतया जो चरित्र जानना चाहें, वे स्वयं समर्थ हों तो श्रीमद्भागवत, महाभारत, वाल्मीकीय-रामायण से जान लें, अथवा सज्जनोंद्वारा समझ लें। मान्धाता के पुत्र योगीराज श्रीमुचुकुन्दजी ने भी श्रीकृष्णचन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहा है कि—(भा० १०-५१-५४)

"भवाऽपवर्गो भ्रमतो यदा भवे-,ज्जनस्य तर्ह्यच्युत ! सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ, परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥"

"हे अच्युत ! संसार-सागर में भ्रमण करते हुए, जिस जीव का जब उद्धार होने का समय आता है, तभी उस जीव को सत्सङ्ग की प्राप्ति होती है। जब सत्सङ्ग प्राप्त हो जाता है, तभी सज्जनों के प्राप्य एवं ब्रह्मा से लेकर मशक-पर्यन्त के अधिपति आप में बुद्धि लग जाती है।

सत्सङ्ग की महिमा, वेद, पुराण, उपनिषद्, इतिहासादि में यथेष्ट लिखी है, पुस्तक का कलेवर अधिक न बढ़ जाय, इस हेतु, गोस्वामि श्रीतुलसीदासजी के दो-चार वचन, प्रसंगोपयोगी देकर, ग्रन्थ के प्रसङ्ग पर आते हैं—

चौपाई–पुण्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता। सत्सङ्गति संसृति कर अन्ता॥
बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता। बिनु हरि कृपा मिलैं नहिं सन्ता॥
शठ सुधरहिं सत्संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥
मुद मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू॥

दोहा—बिनु सत्संग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद, होय न दृढ़ अनुराग॥
आज धन्य मैं धन्य अति, यद्यपि सब विधि हीन।
निज जन जानि के राम मोहि, सन्त समागम दीन॥

स्वाभिलाषमेवाऽधुना प्रकटयति नाना छन्दोभिस्तत्रादौ शिखरिणी-चतुर्दशकेनाह—

कदा श्रीकृष्णांऽसे दधदपि च दोर्दक्षिणमहं
सखे ! फुल्लं वृन्दावनवनमिदं पश्य विमलम्।
अयं केकी नृत्यत्यटति हरिणी कूजति पिको
गदन्नित्थं पश्यन्मुखमपि हरेः स्यां प्रमुदितः॥११६॥

अब अनेकों छन्दों के द्वारा अपनी अभिलाषा को प्रकट करते हैं—पहले चौदह शिखरिणी छन्दों से, यथा—मैं, श्रीकृष्णचन्द्र के कन्धेपर दाहिनी-भुजा रखकर, हे सखे ! देखो देखो, यह श्रीवृन्दावन के बारहों बन, छः ऋतुओं से हरे-भरे पुष्पित, फलित एवं विमल हैं; और देखो, यह मयूर, कितना सुन्दर नृत्य कर रहा है; ये हरिणी, आनन्दपूर्वक बन-विहार कर रही है; कोयल, बोलती हुई कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है, इस प्रकार कहता हुआ एवं अपने प्रिय सखा श्रीहरि के मुख-कमल का दर्शन करता हुआ, कब आनन्दित होऊँगा ? ॥११६॥

कदा वा यास्यामस्तव चरणपाथोजसविधं
कदा वा श्रोस्यामस्तव वचनमाध्वीकपटलीम् ।
कदा वा द्रक्ष्यामस्तव सहचराणां परिषदं
कदा वा नंस्यामस्तव सपदि पित्रोः पदयुगम् ॥११७॥

हे सखे ! आपके श्रीचरणारविन्दों के समीप हम कब जायँगे, और मधु से भी मीठा, आपका श्रीवचनामृत, कर्ण-रूपी कटोरों में भर-भरकर कब पान करेंगे, और आपके सखाओं की सभा का हम कब दर्शन करेंगे, और आपके नित्यसिद्ध माता-पिता श्रीयशोदाजी एवं श्रीनन्दजी के चरणकमलों में, हम कब साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करेंगे, हा सखे ! ऐसा दिन कब आवेगा ? ॥११७॥

कदा वृन्दारण्यात् सकलऋतुपुष्पैरपि युता-
दहं हृष्टः शीघ्रं विविध-कुसुमानामवचयम् ।
विधायान्ते सान्द्रां सपदि वनमालां सुविमलां
हरेः कण्ठे धृत्वा हरि हरि भविष्यामि मुदितः ॥११८॥

अहह ! ऐसा शुभ दिन कब आवेगा कि, जिस दिन, प्राकृत लोचन अगोर दिव्य श्रीवृन्दावन से, जहाँ कि प्रत्येक समय छः ऋतु विद्यमान रहते हैं। मैं, अत्यन्त हर्षपूर्वक अनेक प्रकार के पुष्पों का चयन करके, पश्चात् सघन एवं विमल वनमाला को बनाकर, शीघ्र ही श्रीहरि के कण्ठ में धारण कराकर प्रसन्न होऊँगा ॥११८॥

समायातोऽयं संसृतिविविधदुःखार्दिततनुः
सखा मे श्रीदामन्नयमपनयाम्यस्य विरहम् ।
विहारैः श्रीवृन्दावनभुवि सदा कौतुकमयै-
र्गदन्निन्थं गाढं सुखयतु परिष्वज्य स हरिः ॥११९॥

"हे सखे ! श्रीदामन् ! देखो, भैया ! सांसारिक अनेक दुःखों से दुखित शरीरवाला यह मेरा सखा (वनमालिदास), आज मेरे पास आ गया है, अतः मैं, इसके विरह को, श्रीवृन्दावन की भूमिपर होनेवाले कौतुकमय विविध विहारों के द्वारा, अभी दूर किये देता हूँ।" श्रीदामा से, मेरे विषय में ऐसा वार्तालाप करते हुए श्रीहरि, मुझको गाढ़ा आलिङ्गन देकर सुखी करें ।।११९

सदा हा कृष्णेति क्वचिदपि च रामेति गदतः
सदा दृग्धाराभ्यां व्रजवनरजः पङ्किलयतः ।
महामूर्च्छां यातः क्वचिदपि च भूमौ विलुठतः
कदा शेषा यास्यन्त्यहह दिवसा हे मम सखे ! ।।१२०।।

हे सखे ! श्रीकृष्णचन्द्र ! अबतक के तो अनेकों जन्मों के दिवस, जैसे बीते सो बीत गये, परन्तु बाकी के बचे हुए मेरे जीवन के दिवस, इस प्रकार कब व्यतीत होंगे कि, सदैव हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! और बीच-बीच में हा राम ! हा राम ! इस प्रकार कहते हुए और सदैव अश्रुधारा से व्रज की रज को गीली बनाते हुए एवं महती मूर्च्छा को प्राप्त होते हुए, कभी व्रजरज में लोट लगाते हुए ।।१२०।।

मनः श्रीकृष्णे त्वं कथमहह रक्तं भवसि नो
कथं वा संसारादपि खलु विरक्तं भवसि नो ।
यमाद् भीतिं भ्रातः कथमपि मनाक् त्वं भजसि नो
यमाद् भीश्चेत्कृष्णं तदपि कथमाहो भजसि नो ।।१२१।।

अब अपने चंचल-मन को समझाते हुए कहते हैं कि, अरे मन ! बड़े आश्चर्य की बात है कि, तू, संसार में दुःख भोगते हुए भी, श्रीकृष्ण में अनुराग क्यों नहीं करता ? और असार-संसार से विरक्त क्यों नहीं होता ? अरे भाई मन ! तुझको यमराज से किञ्चिद् भी भय नहीं है, यदि यम का भय है तो, बड़े आश्चर्य की बात है कि, भय होनेपर भी तुम, श्रीकृष्ण का भजन क्यों नहीं करते ? अब भी करने लग जाओ, नहीं तो पीछे पछताओगे ।।१२१।।

सदा सुध्यूपास्यः कमलनयनो मध्वरिरपि
मुरारिर्धात्रंशो व्रजपतनयो लाकृतिरपि ।
सखा यो गोपानां तरणितनया-तीरवसतिः
स वै श्रीकृष्णो मे नयनपदवीं यास्यति कदा ।।१२२।।

(सुधी उ उपास्यः इतिच्छेदः सुधीभिः उना शम्भुना च उपास्य इति विग्रहः)

शुद्धान्तरात्मावाले पुरुष एवं शंकर भी जिनकी सदैव उपासन करते हैं, एवं जिनके नेत्र, कमल के समान विस्तीर्ण हैं; और जो, मधु'-नामक दैत्य को मारनेवाले हैं, मुर के शत्रु हैं, विधाता भी जिनका अंश है, व्रजराज श्रीनन्दरायजी के जो पुत्र हैं, और लृ अक्षर के समान तीन जगह से टेढ़े, अर्थात् त्रिभंगी छवि से जो सुशोभित हैं, और जो, व्रजवासी गोपों के सखा हैं, श्रीयमुनाजी के तीरपर जिनका निवासस्थान है, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र, मेरे नेत्रों के सामने कब आवेंगे ? ।।१२२।।

सुमेघे मन्दं वर्षति सति हि गोवर्धनगिरौ
कदम्बश्रेण्याढ्ये व्रतति-ततियुक्ते सुरभिले ।
युतो मित्रैः सर्वैरपि च बलदेवेन सहितः
कदा दोलाऽऽरूढो नयनपदवीं यास्यति हरिः ।।१२३।।

कदम्बों की श्रेणी से सुशोभित, माधवी आदि लताओं से युक्त एवं विविध पुष्पों की सुगन्धि से सुगन्धित, श्रीगोवर्धन-पर्वत में मेघवृन्द मन्द-मन्द वर्षा कर रहे हों, कदम्ब की डालपर रेशम की डोरियों से युक्त मणिमय झूला पड़ा हो, उस झूलेपर श्रीदाऊजी के सहित श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हों, सम्पूर्ण मित्र-मण्डल चारों ओर विराजमान हो, ऐसी शोभा से युक्त श्रीहरि, मेरे नेत्रों के सामने कब आवेंगे ? ।।१२३।।

कदा वा वर्षर्तौ नवदल-कदम्बेन निविडे
कदम्बे श्रीकृष्णं सबलमुरुदोला-गतमहम् ।
प्रपश्यन् गायन् वा किमपि मधुरं पद्यशकलं
प्रकुर्वन् दोला-चालनमपि करिष्यामि मुदितम् ।।१२४।।

अहह ! ऐसा शुभ दिन कब आवेगा कि, जिस दिन, वर्षाऋतु में श्रीगोवर्धन में, नवीन एवं कोमल पत्रों के समूह से सघन, एक कदम्ब के वृक्षपर बहुत ही सुन्दर एवं विस्तीर्ण झूलापर, श्रीदाऊजी के सहित विराजमान श्रीकृष्णचन्द का दर्शन करता हुआ अत्यन्त मधुर किसी पद के, एक टुकड़े का ही गायन करता हुआ, और धीरे-धीरे झूला को झुलाता हुआ, मैं, अपने प्राणप्यारे सखा श्रीहरि को प्रसन्न करूँगा ? ।।१२४।।

कदा वा श्रीरामःसखिसुखकरो रोहिणिसुतो
मुदा क्रीडन्तं मां सखिभिरखिलैश्चापि हरिणा ।
गवां दूरं यातं गणमपि समानेतुमखिलं
सखे ! शीघ्रं याहि त्वमिति वचनं द्राक् कथयिता ।।१२५।।

अहह ! ऐसा शुभ अवसर कब आवेगा कि, जब सकल सखा-मण्डल, सुखदायी रोहिणी-पुत्र श्रीदाऊजी हर्षपूर्वक मित्र-मण्डल और श्रीहरि के साथ खेलते हुए, मुझ से 'हे सखे ! गऊओं का समूह, हरी-हरी घास चरते-चरते दूर चला गया है, उसको लौटाने के लिये तुम शीघ्र ही जाओ" ऐसे मधुर वचन कहेंगे ? ।।१२५।।

किमायाता कालः स इह जनने मे हतविधे-
र्यदा कृष्णो वक्ष्यत्ययि ! मम सखे ! मामुपगतः ।
त्वयाऽऽप्तं दुःखं संसृति-जलधिमग्नेन विपुलं
मया सार्धं क्रीडन्नविरतमिदानीं भव सुखी ।।१२६।।

अहह ! हत-भाग्यवाले मेरे इस जन्म में, वह समय क्या कभी आवेगा, जब कि श्रीकृष्णचन्द्र, मुझसे यों कहेंगे कि, हे प्रिय सखे ! तुम, मेरे समीप आगये । अहह ! सखे ! तुमने संसार-सागर में निमग्न होकर बहुत कष्ट पाया है, अब घबड़ाने की कोई बात नहीं है । क्योंकि, अब तो, निरन्तर मेरे साथ क्रीड़ा करते हुए सुखी हो जाओ ।।१२६।।

कदा वा श्रीकृष्णं सखिभिरखिलैश्चापि हलिना
मुदाऽहं क्रीडन्तं तरणिदुहितुर्वारिणि शिवे ।
वयस्यान् कुर्वन्तं मृदुसलिलसेकैर्हि मुदितान्
जलं सिञ्चन् दोर्भ्यां तदुपरि करिष्यामि मुदितम् ।।१२७।।

अहह ! मेरी ये अभिलाषा कब पूर्ण होगी कि, सम्पूर्ण सखावृन्द और श्रीदाऊजी के सहित, कल्याणकारक श्रीयमुनाजी के सुन्दर जल में क्रीड़ा करते हुए, और कोमल-कोमल जल के प्रपात से अपने सखाओं को प्रसन्न करते हुए, श्रीकृष्ण के ऊपर, मैं, दोनों हाथों की ही पिचकारी से जल फैंकता हुआ उन्हें प्रसन्न करूँगा ? ।।१२७।।

अये कृष्ण ! भ्रातर्बलप्रिय ! यशोदेक्षणविधो !
व्रजानन्दिन् ! नन्दव्रजदयित ! हे नन्दतनय ! ।
सखे ! गोपालेन्दो ! सखिसुखद ! गोवर्धनधर !
कदाऽऽयातासि त्वं मम नयनवीथी-पथिकताम् ।।१२८।।

हे भैया श्रीकृष्ण ! आपको श्रीबलदेवजी बहुत प्रिय हैं ! आप, माता श्रीयशोदाजी के नेत्रों के तो चन्द्रमा हो ! व्रज को आनन्द देनेवाले हो ! और श्रीनन्दग्राम, आपको बहुत प्रिय लगता है ! एवं वात्सल्य-रसरूप श्रीनन्दजी के तो आप प्रिय-पुत्र हो ! हे सखे ! सब नक्षत्रों की शोभा, जैसे

चन्द्रमा से होती है, वैसे ही आप से सब गोपालों की शोभा होती है। आप, सखाओं को सुख देनेवाले हो! और व्रज की रक्षा के लिये, आप, गोवर्धन धारण करनेबाले हो! हा श्यामसुन्दर! आप मेरे नेत्र-रूपी गली के पथिक कब बनोगे? ।।१२८।।

कदा वृन्दाटव्यां तरणिदुहितू रोधसि हरिं
वसानं कौशेयं दधतमपि हस्ते मुरलिकाम्।
तथा वामे पाणौ सरललकुटं काञ्चनमयं
करिष्ये गोविन्दं भुजयुगल-मध्य-प्रणयिनम् ।।१२६।।

श्रीवृन्दावन में यमुनाजी के तीरपर, रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए, और दाहिने हस्तकमल में मुरली एवं, बाये में सुवर्णमणिमय सरल लकुट को धारण किये हुए, गैया चराते हुए श्रीहरि को, मैं, भुजभर के कब मिलूँगा? ।।१२६।।

दर्शनाभिलाषमेव प्रकटयति वसन्ततिलकावृत्तेन—

अस्मत्कृते किमु कदापि भविष्यतीह, संदर्शनं भगवतो व्रजपा-सुतस्य।
गोपैर्युतस्य बलदेवसमीपगस्य, श्रीयामुने तटवरे हसने परस्य ।।१३०।।

अहह! क्या कभी मुझ दुरात्मा के लिये भी, श्रीयमुना की सुन्दर बालुका में, जिनके समीप श्रीबलदेवजी बैठे हों, और जो, हास्य-प्रधान श्रीमधुमङ्गल आदि सखाओं से स्वयं हास-परिहास कर रहे हों, ऐसे भगवान् श्रीयशोदानन्दन का दर्शन होगा? ।।१३०।।

श्रीकृष्णकरकमलस्पर्शाभिलाषमधुना प्रकटयति हरिणी-वृत्तेन लक्षणन्तूक्तम्—

मम तु परमप्रेष्ठस्तावत् समागतवानयं
बहुलविमुखो मत्तो भूत्वा भ्रमन् भववारिधौ।
इति हि निगदञ्श्रीदामानं हरिः प्रणयेन मां
स्वकरकमले धृत्वा गेहं प्रवेक्ष्यति हा कदा? ।।१३१।।

अब, एक श्लोक से, श्रीकृष्ण के करकमल स्पर्श की अभिलाषा प्रगट करते हैं कि, देखो-देखो, सखे! श्रीदामन्! मुझ से अत्यन्त विमुख होकर, संसार-सागर में चक्कर लगाता हुआ, यह मेरा परम प्यारा सखा, आज मेरी ही कृपादृष्टि से मेरे पास आ गया है; इस प्रकार श्रीदामा के प्रति कहते हुए श्रीहरि, प्रेमपूर्वक अपने करकमल में मेरा हाथ देकर, माँ यशोदा के घर में प्रवेश करेंगे? हाय! ऐसा शुभ अवसर कब आवेगा? ।।१३१।।

अथ कदाचित् स्वमनसो भक्तिवैमुख्यादुत्पथगामित्वमालक्ष्य, सखेदमिदमाह शिखरिणी-वृत्तेन—

न चाऽस्माकं भक्तिर्गुरुवर-पदाम्भोजयुगले
न चाऽस्माकं भक्तिर्बलहरि-पदाम्भोजयुगले ।
न चाऽस्माकं भक्तिर्हरिजन-पदाम्भोजयुगले
न जानीमः कस्मिन् वयमिह पतिष्याम उदरे ।।१३२।।

अब, कभी अपने मन को, भक्ति से किंचिद् विमुख होने के कारण, उत्पथगामी देखकर, खेदपूर्वक यह कहते हैं कि—हाय ! न तो हमारी श्रीगुरुजी के चरणारविन्दों में ही भक्ति है, न श्रीराम-कृष्ण के ही चरणारविन्दों में भक्ति है, और न श्रीहरिभक्तों के ही पदारविन्द-द्वन्द्व में भक्ति का लेश है, अतः हम नहीं जानते कि, कौन-सी योनि में और किस माता के उदर में जाकर गिरेंगे ? ।।१३२।।

अथ कदाचित् स्वमनसश्चाञ्चल्यात् स्वस्मिन् कलंक-पातमाशंक्य तच्छिक्षयन्नाह पज्झटिका-वृत्तेन—

यश उज्ज्वलयितुमिच्छसि भ्रात-,श्चेन्मे चेतः ! सायं प्रातः ।
तर्हि भजस्व मनोरम-लीलौ, व्रजराजाङ्गण-खेलन-शीलौ ।।१३३।।

अब, कदाचित् अपने मन की चंचलता से, अपने में कलंकपात की आशंका करके, अपने मन को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि—हे मेरे भाई मन ! यदि तुम अपना, यश उज्ज्वलित करना चाहते हो तो, प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सायंकाल, सुन्दर मनोहर हैं लीलायें जिनकी, और जिनका श्रीव्रजराज जू के आँगन में ही खेलने का स्वभाव है, ऐसे श्रीराम-कृष्ण का भजन करो ।।१३३।।

अथ कदाचित्—श्रीकृष्णपदाम्बुजद्वयीं द्रष्टुमभिलषति, पञ्चचामर-वृत्तेन तल्लक्षणं यथा "प्रमाणिकापदद्वयं, वदन्ति पञ्चचामरम्" इति—

वयस्य-मण्डलेन साकमर्कजा-जलेऽमले
मुदा विहारतत्परा पराऽवराभिपूजिता ।
मुकुन्द ! नूपुराह्व-चञ्चरीक-वन्दिवन्दिता
कदा पदाम्बुजद्वयी तवाऽवलोकयिष्यते ।।१३४।।

अब, कभी श्रीकृष्ण-पदारविन्द-द्वन्द्व के दर्शनों की अभिलाषा प्रगट करते हैं—अहह ! ऐसा दिन आयेगा कि, जिस दिन मैं, अपने निर्हेतुक सुहृद् श्रीव्रजराजकुमार के दोनों पदाम्बुजों का दर्शन करूँगा । हे सखे ! मुकुन्द ! आप अपने उन दोनों पदाम्बुजों का शीघ्र दर्शन करा दो कि, जो, सखा-मण्डल के सहित, निर्मल श्रीयमुना-जल में हर्षपूर्वक विहार किया

करते हैं, ब्रह्मा से लेकर मनुष्यपर्यन्त जिनकी पूजा करते हैं, 'नूपुर'-नामक वन्दीजन जिनकी प्रतिक्षण वन्दना करते रहते हैं ।।१३४।।

अथ कदाचित् पञ्चचामर-वृत्तेन श्रीरामकृष्ण-पदारविन्द-संवाहन-सौभाग्यं प्राप्तुमभिलषति—

कलिन्दजा-तटी-वने वयस्य-युद्ध-केलिना
श्रमं गता गता च कुञ्जमध्य-पुष्प-तल्पकम् ।
विलोक्य राम-माधवद्वयी मया करिष्यते
गतश्रमा पदाम्बुजादिलालनेन हा कदा ? ।।१३५।।

अब, कभी श्रीराम-कृष्ण के पादसंवाहन सौभाग्य को प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं। अहह ! ऐसा सौभाग्य कब प्राप्त होगा कि, जब श्रीयमुनाजी के तीर के बन में सखाओं के साथ युद्ध करने के कारण, श्रम को प्राप्त हुए, अतएव सखाओं द्वारा बनाई हुई निकुञ्ज के मध्य में पुष्पों की शय्यापर विराजमान, दोनों भाई श्रीराम-कृष्ण को देखकर, उनकी पाद-संवाहन (चरण-सेवा) आदि करके उनको श्रमहीन करूँगा ।।१३५।।

अथ पुनरपि तदेवाऽभिलषति, पृथ्वी-छन्दसा—तल्लक्षणन्तु—"जसौ जसयला वसु-ग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः" इति—

कृतान्त-भगिनो-तटी-वनविहारतः श्रान्तयो-
र्निकुञ्जवसतौ मुदा सहचरैश्च विश्राम्यतोः ।
हलायुध-मुकुन्दयोरपि शनैः शनैरेष किं
विधास्यति जनो मुदा पदसरोज-संवाहनम् ।।१३६।।

फिर भी चरण-सेवा की अभिलाषा, रूपान्तर से प्रगट करते हैं। श्रीयमुनाजी के तट के समीपवर्ती वनों में विहार करने से थके हुए, अतएव सखा-मण्डल के सहित निकुञ्ज में, नवीन कमलदल की शय्यापर विश्राम करते हुए दोनों भैया, श्रीकृष्ण-बलदेवजी के चरणों की सेवा आनन्दपूर्वक धीरे-धीरे क्या यह दीनजन कभी करेगा ? हाय ! ऐसा सौभाग्य मुझ पतित को कब प्राप्त होगा ? ।।१३६।।

अथ कदाचित् स्वासक्तिमन्यत्राऽऽलोच्य श्रीमत्पदकमलयोरेव गाढाऽऽसक्तिः कदा भविष्यतीति प्रार्थयते मन्दाक्रान्तया—

याऽऽसक्तिर्मे विविधविषये या च देहे च गेहे
या वा लोके सुहृदि सकले पुस्तकालोकने या ।
मिथ्यालापे परगुणगणाऽऽच्छादने या मुकुन्द !
सा ते श्रीमत्पदकमलयोर्भाविनी हा कदा नु ? ।।१३७।।

अब, कभी अपनी आसक्ति अन्यत्र देखकर, हे हरे ! आपके श्रीचरणों में ही मेरी गाढ़ी आसक्ति कब होगी ? ऐसी प्रार्थना करते हैं कि—हे सखे मुकुन्द ! विविध विषयों में, देह में, गेह में, लोक में, सांसारिक प्रिय मित्रों में, पुस्तकों के देखने में, मिथ्या आलाप में, एवं दूसरों के गुणगणों को ढाँकने में, और पराये दोषों के उद्‌घाटन करने में जो मेरी आसक्ति है, हाय ! वह आसक्ति, आपके श्रीपदारविन्द-द्वन्द्वों में कब होगी ? अर्थात् जैसा मेरा प्रेम, बाह्य-वस्तुओं में है, वैसा ही, आपके श्रीचरणों में कब होगा ? ।।१३७।।

अथ कदाचित् कामक्रोधादिरूप-भवदावानलेन पीड्यमानः सखेदं प्रार्थयते—

"षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समाऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेन्ते रलौ गुरुः ।।"

इति लक्षण-लक्षितेन वैतालीय-वृत्तेन—

परितः परितप्यतेऽनया, भववह्नेः शिखयाऽतितीक्ष्णया ।
कथमत्र न रक्ष्यते त्वया, जन एष त्वयि किन्न भो दया ।।१३८।।

अब, कभी काम-क्रोधादिरूप संसार-दावानल से पीड़ित होकर खेद-पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि, हे सखे ! यह, आपका ही विषयलीन, भक्तिहीन, अतिदीन एक जन, अत्यन्त तीक्ष्ण संसाररूपी दावानल की शिखाओं से चारों ओर से जला जा रहा है, ऐसी अवस्था में भी आप, इसकी रक्षा क्यों नहीं करते ? क्या आप में दया नहीं रही, अथवा कठोर वज्र के मित्र, कौस्तुभमणि के प्रतिक्षण के संग से, आप में कठोरता आ गई है क्या ? ।।१३८

अथ कदाचित् संसृतेर्भृशं खिद्यमानस्तद्विच्छेदं प्रार्थयते-स्रग्धरा-छन्दसा तल्लक्षणन्तु "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" इति—

हा हा हे कृष्णभ्रातः ! कथमहह जनं नानुगृह्णासि दीनं
दीनोद्धाराऽवतार ! व्रतमपि किमहो विस्मृतं विश्वबन्धो ! ।
बन्धोः स्वस्याऽस्य किं ते विपदु न विदिताऽशेषविज्ञानरोह !
रोहः किं स्वस्य सख्युर्मम न विदलितः संसृतेर्वाटिकायाः ।।१३९।।

अब, कभी संसार से अत्यन्त दुखी होते हुए, उससे छूटने की प्रार्थना करते हैं कि—हाय ! हाय ! हे भैया श्रीकृष्ण ! आप, इस दीन-जनपर अनुग्रह क्यों नहीं करते ? हे सखे ! आपका अवतार तो दीनों के उद्धार के लिये ही हुआ करता है, क्या आप अपने व्रत को भी भूल गये ? हे विश्व-बन्धो ! क्या आपको अपने इस सखापर आनेवाली विपत्तियाँ विदित

नहीं हैं ? आप तो सम्पूर्ण विज्ञान के उत्पत्ति-स्थान हैं तो भी, आपने अपने इस सखा के, संसाररूपी वाटिका में बारम्बार जन्म-मरणरूपी अंकुर को क्यों नहीं उखाड़ा ? अर्थात् हे सखे ! शीघ्र ही इस माया के चक्कर से छुड़ाकर, अपने नित्य-सहचर परिकर में मुझको भी मिला लो ।।१३९।।

अथ कदाचित् श्रीबलदेवकृष्णयोर्दर्शनमाशास्ते शिखरिणी-वृत्तद्वयेन लक्षणन्तूक्तप्रायम्—

शरन्मेघाऽऽभाभं दधतमपि नीलाम्बरमहो
दधानं गुञ्जानां स्रजमुरसि कापाटसदृशे ।
ललाटे कस्तूरीरचिततिलकं वीरमपि च
कदा वै द्रक्ष्यामो नयनपथमाप्तं हलधरम् ।।१४०।।
कदा वा कालिन्दी-तटपरिसरे नन्दतनयं
सुदाम्ना श्रीदाम्ना ह्यपि च वसुदाम्नाऽपि सुहृदा ।
विलास्योजस्विभ्यां विजय-कलविङ्कांऽशुभिरपि
युतं देवप्रस्थेन्द्रभट-कलकण्ठादिभिरपि ।।१४१।।

जिनका श्रीविग्रह, शरत्कालीन मेघ के समान है, और जो, नीलाम्बर को धारण किये हुए हैं, कपाट के समान विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर जो गुञ्जाओं की माला एवं वनमाला को धारण किये हुए हैं, और ललाट-पट्टपर जिनके कस्तूरी केसरमिश्रित चन्दन का हरि-मन्दिराकृति तिलक विराजमान है, ऐसे वीरवर हलधर श्रीरोहिणी कुँवर को, नेत्ररूपी राजमार्ग में आते हुए, हम कब देखेंगे ? ।।१४०।। और ऐसा सौभाग्य कब प्राप्त होगा कि, श्रीयमुनाजी के कमनीय कूलपर, इन्द्रनीलमणि-सदृश कोमल घास में विराजमान, एवं सुदामा, श्रीदामा, वसुदामा, विलासी, ओजस्वी, विजय, कलविङ्क, अंशु, देवप्रस्थ, इन्द्रभट, कलकण्ठ प्रभृति सखाओं से परिवेष्टित, श्रीनन्दनन्दन को हम निर्निमेष नेत्रों से देखेंगे ? ।।१४१।।

अथ सखिभिः क्रीडता श्रीकृष्णेन सह श्रीयमुनाजलक्रीडासुखमभिलषति "स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्" इति लक्षण-लक्षित-स्वागता-छन्दोभ्याम्—

वीरभद्रबलभद्रसुभद्रैः, स्तोककृष्ण-मणिबन्ध-विटङ्कैः ।
भद्रसेन-सुविशाल-मरन्दैः-, दाम-किंकिणि-वरूथप-वेधैः ।।१४२।।
गोभटादिभिरहं सखिवृन्दैः, क्रीडताऽलममृते यमुनायाः ।
अच्युतेन सह कर्हि मिलित्वा, क्रीडनादिसुखभाग् भवितास्मि ।।१४३।।

अब, सखाओं के साथ खेलते हुए श्रीकृष्ण के साथ, श्रीयमुनाजी के जल में क्रीड़ा के सुख की अभिलाषा प्रगट करते हैं कि—वीरभद्र, बलभद्र,

सुभद्र, स्तोककृष्ण, मणिबन्ध, विटङ्क, भद्रसेन, विशाल, मरन्द, दाम, किङ्किणी, वरूथप, वेध, गोभट प्रभृति सखावृन्दों के साथ, निर्मल श्रीयमुना जल में अतिशय क्रीड़ा-परायण श्रीकृष्णचन्द्र से मिलकर, मैं भी कब जल-क्रीड़ा के सुख का भागी होऊँगा ? ।।१४२-१४३।।

अथ रामकृष्णाभ्यां परिष्वङ्गमाशास्ते द्रुतविलम्बितेन—

अयि सखे ! भुजपञ्जरगो मम, सबल एव भवान् भविता कदा ।
समुपलभ्य भुजान्तरगामहं, तव तनुं सुखितो भवितास्म्यहो ।।१४४।।

अब, दोनों भाइयों से भुजभर के मिलने की अभिलाषा प्रगट करते हैं कि, अयि सखे व्रजराजकुमार ! श्रीबलदेवजी के सहित आप मेरे भुजारूपी पिंजरे में कब आवोगे ? अहह ! सखे ! मैं तो तभी सुखी होऊँगा जब कि, आपके श्रीअङ्ग को अपनी भुजाओं के अन्तर्गत देखूँगा ।।१४४।।

अथ यमुनातटे सखिभिः परिहासपरस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनमाशास्ते पूर्वोक्त-वृत्तद्वयेन—

सुबल-कोकिल-भंगुर-भारती,-सुमधुमङ्गल-बन्ध-वसन्तकैः ।
गृहल-गन्ध-कडार-सनन्दनाऽ-,र्जुन-विदग्धक-सांधिक-हंसकैः ।।१४५।।
कपिल-मङ्गल-पल्लवकोज्ज्वला-,दिभिरलं सखिभिर्नु कदा हरिः ।
सुपरिहासपरो यमुनातटे, नयनवीथिगतो हि करिष्यते ।।१४६।।

अब, श्रीयमुनाजी के तटपर सखाओं के साथ परिहास-परायण श्रीहरि के दर्शन की आशा को प्रगट करते हैं—सुबल, कोकिल, भंगुर, भारती, मधुमङ्गल, बन्ध, वसन्त, गृहल, गन्ध, कडार, सनन्दन, अर्जुन, विदग्धक, सान्धिक, हंस, कपिल, मंगल, पल्लव, उज्ज्वल आदि सखाओं के साथ, श्रीयमुनाजी के तटपर अतिशय परिहास-परायण श्रीहरि को इन नेत्रों से कब देखूँगा ? ।।१४५-१४६।।

अथ शिखरिणीद्वयेन प्रातर्गोचारणार्थं गच्छतः श्रीकृष्णस्याऽनुगमनमाशास्ते—

कदा प्रातःकाले सखिभिरखिलैः साग्रजमहं
गवां पृष्ठे यान्तं दधतमपि हस्ते मुरलिकाम् ।
तथा शृङ्गं वामोदरपरिसरे तुन्दवसने
तथा वामे पाणौ सरललकुटं पीतवसनम् ।।१४७।।
गले गुञ्जाहारान् विविधकुसुमानामपि तथा
मयूराणां पिच्छै रचितमुकुटं मूर्धनि तथा ।
ललाटे कस्तूरीरचिततिलकं मन्दिरविधं
तथा मार्गे क्रीडां हरिमनुगमिष्यामि मुदितः ।।१४८।।

अब, प्रातःकाल गोचारणार्थ श्रीवृन्दावन जाते हुए श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे जाने की अभिलाषा प्रगट करते हैं—अहह ! ऐसा शुभ दिन कब आवेगा कि, जिस दिन, दाहिने हस्तकमल में मुरली धारण किये हुए, तथा कमर में कसे हुए पटुका में उदर की बाँई ओर शृङ्ग को धारण किये हुए, एवं बायें करकमल में सरल मणिमय लकुट लिये हुए, पीताम्बर धारण किये हुए, गले में गुञ्जाहार एवं विविध पुष्पों के गजरे धारण किये हुए, तथा मस्तकपर मयूरपिच्छद्वारा रचित मुकुट को धारण किये हुए, एवं ललाट पटलपर केसर कस्तूरी मिश्रित चन्दनद्वारा विनिर्मित हरि-मन्दिराकृति तिलक धारण किये हुए, प्रातःकाल श्रीदाऊजी के सहित एवं सखा-मण्डल से मण्डित होकर, गऊओं के पीछे-पीछे जाते हुए, तथा मार्ग में सखाओं से अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हुए, श्रीहरि के पीछे-पीछे हर्षित होकर जाऊँगा ? ।।१४७-१४८।।

अथ वनमाला विरचय्य ताश्च श्रीरामकृष्णयोर्गलेऽर्पयितुमभिलषति शार्दूल-विक्रीडितेन—

सर्वर्तूद्भवपुष्पकैरपि युताच्छ्रीधामवृन्दावनाद्
हृष्टः सन्नविलम्बितं विविध-पुष्पाण्याहरिष्याम्यहम् ।
आचित्य ग्रथनं विधाय वनमालानां ततस्ता गले
श्रीसंकर्षण-नन्दनन्दनकयोर्निक्षेपयिष्ये कदा ? ।।१४९।।

अब वनमाला बनाकर उनको श्रीकृष्ण-बलदेवजू के गले में अर्पण करने की अभिलाषा प्रगट करते हैं कि, सदैव छः ऋतुओं के पुष्पों से युक्त श्रीधाम वृन्दावन से प्रसन्न होकर, प्रथम अनेक प्रकार के पुष्पों को तोड़ूँगा, पश्चात् सुन्दर वनमालाओं की रचना करके, उन वनमालाओं को श्रीकृष्ण-बलदेवजी के गले में कब धारण करवाऊँगा ? ।।१४९।।

अथ कुलकेन गिरिराजं वर्णयति तत्र च श्रीकृष्णाज्ञया धेन्वावर्तनेन सन्तुष्टाच्छ्री-कृष्णादालिङ्गनं शं चाशास्ते तत्र प्रथमं स्रग्धरावृत्तं पश्चाच्छार्दूलविक्रीडितानि ज्ञेयानि—

पाषाणैः श्यामवर्णैर्मरकतसदृशैर्यस्य पर्यन्तभूमिः
श्यामाकारा कृता निर्झर-मधुररवैर्ध्वानितो यस्य देशः ।
शृङ्गाण्याभान्ति रत्नैर्विविधविधयुतैर्धातुभी रञ्जितानि
यश्चाऽसंख्यैर्लता-शाखिभिरपि विविधैरावृत्तः स्वोद्भवैर्हि ।।१५०।।

भूमौ यत्र मुहुर्नता व्रततयः शोभाकदम्बादिभि-
र्मन्दःशीतलतायुतोऽपि पवनः सौगन्ध्य-युक्तस्तथा ।

यत्राऽऽयाति हि सेवितुं सखियुतं रामानुजं साग्रजं
नृत्यं यत्र च केकिनो विदधते केकां तथा कुर्वते ।।१५१।।
वाचो यत्र हरा हृदोऽभिदधते वृक्षेषु नीडोद्भवा
गानं पुष्पलिहो मुदा विदधते गावश्च शष्पादनम् ।
बाला गोपगणस्य निर्झरजले क्रीडां मुदा कुर्वते
कासारैरुपशोभते सकमलैः पर्यन्तभूमौ स्थितैः ।।१५२।।
सौन्दर्यं किल साग्रजस्य च हरेर्दृष्ट्वा मृगाणां स्त्रियो
मुग्धीभावमुपेत्य चाऽऽननगतं शष्पं कदा निर्गतम् ।
विस्मृत्येतदपीक्षणैरनिमिषैः पश्यन्ति रूपं मुहु-
र्लोकेशेश-शचीपतिप्रभृतिभिर्देवैश्च यो वन्दितः ।।१५३।।
यत्राऽऽस्ते किल मानसीति विदिता श्रेयस्करी जाह्नवी
शोभां दीपकमालिकादिनगतामालोक्य ताराधिपः ।
नक्षत्रैः सहितं नभः क्षितिगतं जानान एवाऽपि च
स्वामल्पां सुषमां विचार्य नितरां नोदेति तस्मिन्दिने ।।१५४।।

सन्तो यस्य समासते च परितो वैराग्यवन्तो भृशं
येषां दर्शनतोऽपयति दुरितं वातेन मेघो यथा ।
यत्र श्रीहरिरग्रजेन सहितः कुञ्जेषु शेते मुदा
पुष्पैः कोमलपल्लवैर्विरचिते सिंहासने मित्रकैः ।।१५५।।
यत्राऽऽयाति हरिर्बलेन सहितो गोचारणार्थं तथा
चित्ताकर्षणकारकैश्च परितो यः शोभते गह्वरैः ।
एकीभूय विहाय बैरमपि चाऽलं संचलन्तो मिथः
शोभां यस्य वितन्वते हि परितः सर्वेऽप्यरण्योद्भवाः ।।१५६।।

एवंभूतगिरौ वरे हरिरहो गोवर्धनाख्ये कदा
शष्पं वत्सगणेन संकवलयन्तीर्दूरगा गाः समम् ।
प्रत्यावर्तयितुं सुधाक्तवचसा माऽऽज्ञापयेद् हर्षितः
प्रत्यावर्तित-गोगणंच हि कदा माऽऽलिङ्ग्य शं दास्यति ।।१५७।।

अब, आठ श्लोकों से, श्रीगिरिराज की शोभा का वर्णन करते हैं—और वहाँपर भी श्रीकृष्णचन्द्र की आज्ञा से गैयाओं को लौटाकर लाने से प्रसन्न हुए श्रीकृष्णजी से, आलिङ्गन और कल्याण की आशा की अभिलाषा को प्रगट करते हैं—जिस पर्वत की मरकत मणिसदृश श्यामवर्ण की शिलाओं ने, अपनी प्रभा से, आसपास की भूमि को श्यामवर्णमय बना

रक्खा है, झरनों की सुमधुर ध्वनि ने जिसके वन-प्रदेश को प्रतिध्वनित कर रक्खा है, जिसके शृङ्ग, मणि, रत्न एवं विविध धातुओं से सुशोभित हैं, और जो, अपने से ही उत्पन्न हुए असंख्य लता वृक्षादिकों से ढका हुआ है ।।१५०।। जहाँ की लतायें झुक-झुककर स्वयं पृथ्वीपर आ रही हैं, मानो अपने पत्र-पुष्प-फलादिकों से अपने प्यारे श्यामसुन्दर के श्रीचरणों का पूजन कर रही हैं, और जहाँपर सखा-मण्डल और बड़े भाई श्रीदाऊजी के सहित विराजमान श्रीकृष्णचन्द्र की सेवा करने के लिये, शीतल, मन्द, सुगन्ध, त्रिविध-समीर प्रतिक्षण प्रवाहित रहता है, जिसकी सुहावनी शिखरोंपर मयूर नृत्य कर रहे हैं, और मयूरियों सहित 'केका' ऐसा शब्द कर रहे हैं ।।१५१।। और जहाँपर वृक्ष लतादिकोंपर बैठे हुए अनेक प्रकार के पक्षी, मधुर-मधुर बोलियाँ बोल रहे हैं, भ्रमरगण गुञ्जार कर रहे हैं, गऊएँ हरी-हरी घास चर रही हैं, छोटे-छोटे गोप-बालक झरनों के जल में आनन्दपूर्वक खेल कर रहे हैं, और जो, नील, पीत, श्वेत, रक्त, चतुर्विध कमलों से परिपूर्ण सरोवरों से चारों ओर से सुशोभित है ।।१५२।। और जहाँ की हिरणियाँ, श्रीदाऊजी के सहित श्यामसुन्दर के भुवन सुन्दर सौन्दर्य को देखकर, ऐसी मोहित हो जाती हैं कि, "अपने मुख में वर्तमान हरी-हरी घास कब निकल कर पृथ्वीपर गिर पड़ी", इस बात को भी भूलकर, निर्निमेष नेत्रों से बारम्बार रूपामृत का ही पान कर रही हैं, और जिस पर्वतराज की स्तुति-पूजा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, चन्द्र प्रभृति सभी ऋषि-मुनि किया करते हैं ।।१५३।। और जहाँपर सर्व कल्याणकारिणी श्रीमानसी-गंगा विराजमान है, और दीपमालिका के दिन तो श्रीमानसी-गंगाजीपर दीपावलीद्वारा ऐसी शोभा होती है कि, जिसको देखकर चन्द्रमा भी "तारागणों के सहित आकाशमण्डल, पृथ्वीपर ही चला गया है क्या ?" ऐसा जानता हुआ, और अपनी परम-शोभा को, मानसी-गंगा की शोभा के सामने, तुच्छ समझता हुआ, संकोच-वश, उस दिन, उदय ही नहीं होता ।।१५४।। और जिस पर्वतश्रेष्ठ के चारों ओर भजनानन्दी एवं परमविरक्त सन्तगण विराजमान हैं, जिनके दर्शनमात्र से ही पापपुञ्ज, इस प्रकार दूर भाग जाते हैं कि, जैसे वायु से बादल, और जिसकी सुन्दर गृहाकार निकुञ्जों में, मित्रोंद्वारा कोमल-कोमल पत्र-पुष्पादि से विरचित सिंहासनपर श्रीहरि, श्रीदाऊजी के सहित शयन करते हैं, उस समय शीघ्र निन्द्रा आने के हेतु से, कुछ मित्र, मधुर-स्वर से गायन करते हैं एवं चरणसेवा करते हैं और कुछ धीरे-धीरे मयूरपंख के पंखाओं से वायु करते हैं ।।१५५।। और जहाँपर श्रीहरि, श्रीबलदेवजी के सहित मित्रमण्डल से मण्डित होकर प्रतिदिन गैया चराने आते हैं, और जो, चारों ओर मनमोहिनी गुफाओं से

सुशोभित है, और वैर-भाव को छोड़कर, शाश्वतिक विरोधवाले जंगली जानवर भी एकत्रित होकर विचरण करते हुए, जिसकी चारों ओर से शोभा बढ़ा रहे हैं ।।१५६।। अहह ! एवंगुण-विशिष्ट शिष्टवर्य श्रीगोवर्धन-पर्वतराज में, श्रीहरि हर्षित होकर, मधुर वाणी से, ऐसी आज्ञा कब देंगे कि, हे मित्र ! अपनी गऊएँ बछड़ाओं के सहित, हरी-हरी घास चरती-चरती दूर चली गई हैं, उनको तुम शीघ्र ही लौटा लाओ, ऐसे वचन सुनते ही, जब मैं, बछड़ाओं सहित गैयाओं को लौटाकर ले आऊँगा, तब मेरे प्रियसखा श्रीहरि प्रसन्न होकर, पुरस्काररूप में मुझको गाढ़ा आलिङ्गन देकर शान्ति प्रदान करेंगे ? हाय ! सखे ! ऐसी शुभ घड़ी कब आवेगी ? ।।१५७।।

अतृप्तः पुनरपि तमेव वर्णयति तत्र च श्रीकृष्णेन साकं गोचारणाभिलाषमभिलषति वसन्ततिलका-द्वयेन अनुण्टुब्द्विकेन च—

रात्रौ हुताशनशिखा इव भान्ति यस्मि-
न्नोषध्य आत्मसुषमापरिशोभमानाः ।
केचिन्निवास-सदृशा इह भान्ति देशा
उद्यानभूमसदृशा अपरे विभान्ति ।।१५८।।

वापीषु यत्र जलकुक्कुटचक्रवाकाः
कूजन्ति सारसकुलान्यपि हंससंघाः ।
संचारतोऽपि खलु कच्छपमत्स्यकानां
खेलन्ति वा विविधपद्मदलानि भान्ति ।।१५९।।

परिक्रमणकाले यः, पौरुषेयेण सर्वतः ।
परिक्रमितुमायातः, सिन्धुरेवेति ज्ञायते ।।१६०।।
एतादृशे गिरिवरे, चारयिष्याम्यहं कदा ? ।
साग्रजेन समित्रेण, श्रीकृष्णेन समं हि गाः ।।१६१।।

तृप्ति न होने के कारण, फिर भी चार श्लोकों से *श्रीगोवर्धनजी का वर्णन करते हैं । वहाँपर भी श्रीकृष्ण के साथ गोचारण की अभिलाषा प्रगट करते हैं—अपनी शोभा से स्वयं सुशोभित औषधियाँ, रात्रि के समय में जहाँपर अग्नि की शिखाओं जैसी चमकती प्रतीत होती हैं, और कोई-कोई जगह तो श्रीगोवर्धन में, निवास करने योग्य घरोंकी-सी स्वयं ही बनी हुई प्रतीत होती है, और कोई-कोई जगह मानो विहार करने योग्य

---

* यदि कोई महानुभाव विशेषरूप से श्रीगोवर्धन वर्णन देखना चाहें तो श्रीसख्यसुधाकरकार-रचित "श्रीहरिप्रेष्ठ महाकाव्य" के ग्यारहवें सर्ग को देखें ।

बगीचाओं जैसी मालूम पड़ती हैं ।।१५८।। और जहाँ बाबड़ियों में जलमुर्गे, चकवा-चकवी, झुंड के झुंड सारस और हंससमूह बोलते हुए, बहुत ही सुन्दर मालूम पड़ते हैं, और कछुआ, मछलियों के इधर-उधर चलने के कारण, अनेक रंगवाले कमल-पत्र हिल जाते हैं तो, ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो आपस में खिलवाड़ कर रहे हैं ।।१५९।। परिक्रमा देते समय, जनसमूह से घिरे हुए श्रीगोवर्धन की ऐसी शोभा प्रतीत होती है, मानो समुद्र ही श्रीगोवर्धनजी की परिक्रमा देने आया है क्या ? ।।१६०।। ऐसे मनोहर पर्वत-श्रेष्ठ श्रीगोवर्धनजी में, मैं भी कभी, श्रीबलदेव और सखा-मण्डल से युक्त श्रीकृष्णचन्द्र के साथ, गैया चराया करूँगा क्या ? हे सखे ! ऐसा शुभ मुहूर्त, कृपया मुझे भी प्रदान करो ।।१६१।।

अथ श्रीकृष्णालिङ्गनमाशास्ते तोटकेन लक्षणन्तूक्तम्—

अयि तात ! कदा तव बाहुयुगं, मम बाहुयुगे मिलितं भविता ।
बहुकालवियोगजदुःखमहो, यमुना-पुलिने शमितं भविता ।।१६२।।

अब, श्रीकृष्णचन्द्र से भुजभर के मिलने की अभिलाषा प्रगट करते हैं कि, अयि प्रियसखे ! श्रीकृष्ण ! आपकी दोनों भुजायें, मेरी दोनों भुजाओं से कब मित्रता करेंगी ? हा सखे ! तभी, चिरकाल के वियोग से उत्पन्न हार्दिक दुःख, श्रीयमुनाजी के तटपर शान्त होगा ।।१६२।।

अथ प्रमाणिकया श्रीकृष्णपदारविन्ददर्शनाभिलाषं प्रकटयति—

हरे ! तवाऽङ्घ्रिपङ्कजं, पितामहादि-वन्दितम् ।
स्वभक्तकामपूरकं, कदाऽवलोकयिष्यते ।।१६३।।

अब, श्रीकृष्णपदारविन्द के दर्शन की अभिलाषा प्रगट करते हैं । हे हरे ! जिनकी, ब्रह्मा आदि देव, सदैव वन्दना किया करते हैं, और जो, भक्तों की वाञ्छा पूर्ण करने में तो कल्पवृक्ष के समान हैं, ऐसे आपके पदारविन्द-युगल को, हम कब देखेंगे ? हे सखे ! मेरे कहने का तो तात्पर्य यही है कि, मेरी इच्छाओं का परिवार बढ़ता जा रहा है, अतः सब इच्छाओं का ढकना, आपका पदकमल, मुझे दे दीजिये, जिससे कि, इच्छाओं का प्रादुर्भाव ही न हो ।।१६३।।

अथेदानीमुक्तिवैचित्र्येण श्रीमुखदर्शनाभिलाषं प्रकटयति द्रुतविलम्बित-वसन्ततिलकाभ्यां लक्षणन्तूक्तप्रायम्—

विरहसङ्गमयोर्यदपि प्रभो !, विरह एव महान् गदितो बुधैः ।
तदपि ते सकृदाननदर्शनं, बत विना मम हा विरहः कुतः ।।१६४।।

जीवेशयोर्यदपि भो विरहोऽतिकालात्
सङ्गः कदाऽभवदिति स्म न निश्चिनोमि ।
तस्माद् सकृन्मुखसुधारसमापयित्वा
पश्चात्सखे ! विरहसौख्यमुदाहरस्व ।।१६५।।

अब, दो श्लोकों से, उक्ति की विचित्रता से, श्रीहरि के मुखारविन्द के दर्शन की अभिलाषा प्रगट करते हैं—हे प्रभो ! सर्व-समर्थ सखे ! यद्यपि विद्वानों ने विरह और संगम में, विरह को ही श्रेष्ठ बताया है, क्योंकि, संयोग में तो अपना प्यारा एक ही दीखता है, और वियोग में तो संपूर्ण जगत् ही तन्मय प्रतीत होता है, तथापि मेरे खेद की तो सब से बड़ी बात यही है कि, जब मेंने, आपके श्रीमुख का एकबार भी दर्शन नहीं किया तो, उसके बिना, मेरा विरह ही कहाँ से संघटित हो सकता है ? ।।१६४।। हे सखे ! यद्यपि जीव और ईश्वर का विरह, बहुत दिनों से चला आ रहा है, परन्तु संग कब हुआ था, इस बात का मैं निश्चय नहीं कर सकता, अतः एकबार श्रीमुख-सुधारस का पान कराकर, पश्चात् विरह-सुख का उदाहरण देना, तभी विरह-सुख का अनुभव होगा ।।१६५।।

नन्वन्तर्यामिरूपेण त्वहमस्म्येव तव समीपे कस्ते लोकोत्तरो दर्शनाऽऽग्रह इत्याशंकायामाह शालिनीवृत्तेन—

अन्तर्यामित्वेन वेदा भवन्तं, गायन्तो नो पारमापुस्तथापि ।
अन्तर्यामी कल्पते नो सुखाय, मूर्धस्थं वा भोजनं क्षुन्निवृत्त्यै ।।१६६।।

यदि कहो कि, "अन्तर्यामीरूप से तो मैं, तेरे पास प्रतिक्षण रहता ही हूँ, तथापि तेरा, मेरे दर्शन के विषय में इतना लोकोत्तर आग्रह क्यों है ?" इस आशंका का उत्तर देते हैं कि, यद्यपि श्रुति स्मृति भी "सर्व भूतेषु गूढः, सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" ईश्वर, सब प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से विराजमान है, "मैं, सब के हृदय में निवास करता हूँ" इत्यादि-रूप से आपके अन्तर्यामीपने का गायन करती हुई पार नहीं पातीं हैं, तथापि अन्तर्यामी से कुछ भी सुख नहीं मिलता, जैसे कि मस्तकपर रक्खा हुआ भोजन, भूख, दूर नहीं कर सकता ।।१६६।।

ननु कल्पान्ते तु ते मया सह संयोगो भविष्यत्येव, किमाकस्मिकसंयोगेनेत्याशंकायां, तावत्कालं को वियोगं सहेतेत्याह, तात्कालिकसंयोगोऽपि न वरीयानिति चाह पूर्वोक्त-वृत्तेन—

कल्पान्ते ते भाविनी चेत्प्रसक्ति-,स्तावत्कालं को वियोगं सहेत ।
संयोगो वा नो तदानीं वरीयान्, बाहुभ्यान्ते यत्परिष्वङ्गहीनः ।।१६७।।

हे सखे ! यदि कहो कि, "प्रलय के अन्त में तो मेरे साथ में, तुम्हारा संयोग, स्वतः ही हो जायगा। फिर आकस्मिक संयोग के लिये क्यों पच रहे हो ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि, हे सखे ! व्रजराजनन्दन ! प्रलय के अन्त में, यद्यपि आपका संयोग हो जायगा, तथापि तबतक वियोग को कौन सहै ? यदि किसी तरह आपके वियोगजनित दुःख को सहन भी कर लें तो, उस समय का संयोग भी तो अच्छा नहीं, क्योंकि, यदि हम, आप से भुज भरकर ही नहीं मिले तो वह संयोग ही किस काम का ? हम, ऐसे निरर्थक संयोग को नहीं चाहते ।।१६७।।

अथ कदाचिदज्ञानतमसाऽऽकुलीक्रियमाणस्तापत्रयेण च तप्यमानस्तन्निरासार्थ-मभ्यर्थयते तूणक-वृत्तेन—तल्लक्षणं तु "तूणकं समानिकापदद्वयं विनान्तिमम्" इति वृत्तरत्नाकरे—

दक्षिणेक्षणेन भास्करेण दक्षिण ! क्षिणु
भक्तिभाजमाशु माऽनुगृह्य मानसं तमः ।
वामलोचनेन तापमर्पितेन मे कथं
ग्लौमयेन साधुनाऽधुना धुनासि नाथ ! नो ।।१६८।।

अब कभी अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याकुल हुआ, और तीनों-तापों से तप्त हुआ ग्रन्थकार, इन दोनों की निवृत्ति के लिये, अपने सखा से प्रार्थना करता है कि, हे दक्षिण ! हे चतुर-शिरोमणि सखे ! सख्य-भाव से भजन करनेवाले इस अपने सखापर अनुग्रह करके, इसके मानसिक अन्धकार को, अपने दक्षिण नेत्र-स्वरूप सूर्यद्वारा दूर कर दीजिये, और हे आशीर्वाद प्रदान करनेवाले चतुर सखे ! इस अपने सखा के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इन तीनों-तापों को, अपने वाम नेत्र-स्वरूप सुन्दर चन्द्रमा से दूर क्यों नहीं करते ? ।।१६८।।

अहो तवाज्ञामपरिपालयन् तपसाऽपि सुदुर्लभं ते प्रसादलेशं वचनमात्रेणैवा-ऽभिलाषुकोऽहमलज्ज एवेत्याह द्रुतविलम्बितेन—

विधिनिषेधमयीं ननु लङ्घय-न्नहमहर्निशमस्मि गिरं तव ।
न सुलभं तपसाऽपि गिरैव भो !, तव प्रसादमपत्रप इच्छुकः ।।१६९।।

अहह ! बड़े आश्चर्य की बात है कि, विधि एवं निषेधरूप आपकी वाणी जो वेद है, उसका तो मैं, रात-दिन उल्लङ्घन करता जा रहा हूँ, और चिरकाल की तपस्याओं से भी दुर्लभ, आपकी प्रसन्नता को केवल वचनमात्र से ही चाहता हूँ, अतः हे सखे ! मेरे समान भी निर्लज्ज कोई संसार में

होगा। परन्तु मुझे, आपका स्वभाव याद आ गया; बस, उसी का सहारा है। यथा—(श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक ९।१०)

"अस्थानेऽपि प्रथयति कृपामीश्वरोऽसौ स्वतन्त्रः
स्थानेऽप्युच्चैर्जनयतितरां नूनमौदास्यमेव।
रामो देवः स गुहमकरोदात्मनीनं सखायं
कृष्णः स्तोत्रैः प्रणमति विधौ हन्त मौनी बभूव॥"

निखिल वेद-प्रतिपाद्य ईश्वर, स्वतन्त्र है, अतएव कृपा के योग्य पात्र न होनेपर भी कृपा कर देता है, और कृपा करने के स्थान में भी, महती उदासीनता प्रगट कर देता है, जैसे राघवेन्द्र सरकार श्रीरामजी ने, योग्य न होनेपर भी गुहराज को अपना परमप्रिय सखा बना लिया, और हे सखे! आप तो सुन्दर स्तुति करनेवाले ब्रह्मा के विषय में भी मौनी बन गये। धन्य है सखे! उस समय मौनी बनकर, आपने, सखाओं का उत्कर्ष ही दिखलाया। सखाओं में सभी प्रकार के स्वभाववाले सखा होते हैं; बस, मुझे, एक निर्गुण सखा समझकर स्वीकार कर लीजिये॥१६९॥

अथ ये हरिमाराध्य भवाम्बुधेः पारं प्राप्ता स्तानभिनन्दति निन्दति चात्मसदृशान्, शार्दूलविक्रीडितेन—

ये सत्सङ्गमुपास्य भक्तिरसमाप्याऽपास्य संसारितां
याताः पारमपारसृष्टिजलधेर्धन्या हि ते मानवाः।
धन्यास्तेऽपि च ये यतन्त इह वै गन्तुं हि पारं परं
निन्द्यास्ते हरिभक्तिरक्तिरहिता ये मादृशा दुर्जनाः॥१७०॥

वे मनुष्य धन्य हैं कि, जो, सत्संग के द्वारा भक्तिरस को प्राप्त करके, संसारीपने को छोड़कर, अपार संसार-सागर से पार चले गये। वे भी धन्य हैं कि, जो, इसी जन्म में पार जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु निन्दनीय तो मुझ जैसे दुर्जन ही हैं कि, जिनका, श्रीहरि की भक्ति में किञ्चिद् भी अनुराग नहीं है॥१७०॥

अथ यैर्विषयेषु सुखबुद्धिरारोप्यते तेषां सर्वथा पतनमेवाऽऽचष्टे शार्दूलविक्रीडितेन—

येनाऽनिष्टपरम्पराढ्य-विषयेष्वारोप्यते सौख्यधीः
सोऽङ्गारस्पृगु सेवते विषलतां निस्त्रिंशमालिङ्गति।
कृष्णाशीविष-गूहनं च कुरुते दन्तोद्धृतिं दन्तिन
आत्मानं विनिपातयन् विनिपतन्नो वेत्ति गर्तेऽप्यहो॥१७१॥

अब इस बात का वर्णन करते हैं कि, जो, विषयों में सुखमयी बुद्धि का आरोप करते हैं, उनका सर्वथा पतन ही होता है। जो मनुष्य, अनिष्ट की परम्पराओं से भरे हुए विषयों में भी सुखमयी बुद्धि का आरोप करता है, वह, जलते हुए अङ्गार का स्पर्श करता है, विष की बेल को सींचता है, नङ्गी तलवार से आलिङ्गन करता है, काले सर्प से भुजभर के मिलता है, मदमत्त हाथी का दाँत उखाड़ता है, और अपनी आत्मा का अधःपात करता हुआ एवं स्वयं गड्ढे में गिरता हुआ भी नहीं जानता है; अहह ! विषयों को छोड़ना बड़ा ही कठिन है ॥१७१॥

अधुना स्वबुद्धिविद्यादिप्रभावेण न कोऽपि भगवन्तं प्राप्तुं शक्नोति यस्योपरि कृपां करोति स त्वनायासेनैवाप्नोतीत्याह द्रुतविलम्बित-वृत्तद्वयेन—

अधिगतिस्तव नो बहुभिः श्रुतैः, प्रवचनैर्नहि कृष्ण ! न बुद्धिभिः ।
त्वमिह यं वृणुसे कृपया स्वया, तमिह दर्शयसि स्वकलेवरम् ॥१७२॥
प्रयतते स हि ते लघु लब्धये, यमवलोकयसि स्वतया सखे ! ।
समधिगच्छति स त्वरितं जनो, मतिबलं परियच्छसि यस्मकै ॥१७३॥

"अपनी बुद्धि एवं विद्यादिक के प्रभाव से कोई भी भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता। वे, जिसके ऊपर दया कर दें वह तो, अनायास में ही प्राप्त कर लेता है", इस बात को प्रमाण के सहित दो श्लोकों से दिखाते हैं— हे प्रिय सखे ! श्रीकृष्ण ! आपकी प्राप्ति, बहुत से वेद-पुराणादि शास्त्रों के पढ़ने से, सुन्दर व्याख्यान देने से, एवं नवनवोन्मेषशालिनी-प्रतिभा से भी नहीं होती है; परन्तु आप, जिसको अपनी अहैतुकी कृपा से अपना लेते हो, उसी को अपने भुवनमोहन श्रीविग्रह का दर्शन कराते हो, श्रुतियों ने भी इसी बात का प्रतिपादन किया है, यथा—

"नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन,
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इति

और हे सखे ! आप, जिस जीव को अपना करके देखते हो, वह, शीघ्र ही आपकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, और जिस जन को आप बुद्धि का बल प्रदान करते हो, वह, शीघ्र ही आपको प्राप्त कर लेता है, इसमें आपका श्रीमुखवचन ही प्रमाण है—**"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"** इति (गीता १०।१०)। अतः हे सखे ! मेरी भी आपके श्रीचरणों में यही प्रार्थना है कि, मुझे भी आप उस बुद्धियोग का प्रदान करें कि, जिससे मैं भी आपको प्राप्त हो लूँ ॥१७३॥

अथ कदाचिदात्मन उत्पथगामित्वमालक्ष्य स्वात्मानं धिक्करोति स्रग्धरा छन्दसा—

धिग् धिग् धिङ् मामजस्रं नहि ममसदृशः कोप्यलज्जो हि जन्तु-
र्योऽहं ज्ञात्वाऽपि शास्त्रं गुरुवर-कृपया कर्तुमिच्छामि पापम् ।
सत्यं सत्यं वदामि व्रजपतिसुतके नास्ति गन्धोऽपि प्रेम्णो
नो जाने भीमकर्मा हरिरतिरहितः कान् गमिष्यामि लोकान् ।।१७४।।

अब, कभी अपने मन को कुपथगामी देखकर, अपनी आत्मा को धिक्कार देते हैं कि, श्रीगुरुजी की कृपा से सब शास्त्रों को जान करके भी, मैं, पाप करना चाहता हूँ, मेरे समान कोई भी निर्लज्ज नहीं है, अतः मुझको बारम्बार धिक्कार है, धिक्कार है, धिक्कार है। मैं सत्य कहता हूँ कि, श्रीव्रजराजकुमार में मेरा किञ्चिद्मात्र भी प्रेम नहीं है, अतः हरिप्रीति-हीन, एवं भयङ्कर कर्म करनेवाला मैं, कौन-से लोकों में जाऊँगा, इस बात को भी मैं नहीं जानता ।।१७४।।

पूर्वपद्योक्तं स्ववृत्तं कृष्णाय निवेद्य तद्रक्षार्थं सदैन्यं प्रार्थयते स्रग्धरा-छन्दसा—

सर्वं पद्ये मयास्मिन् निगदितममृषं पूर्वके स्वस्य वृत्तं
वृत्तं श्रुत्वा मदीयं तदपि न दयसे हा सखे ! निर्दयोऽसि ।
योऽहं यादृक् तवाऽहं तव पदकमलं हा विहायाऽन्यदेवं
कं वा याचे मुरारे ! नहि तव सदृशो दृक्पथं मे समेति ।।१७५।।

पहले श्लोक में, यथार्थ कहे हुए अपने चरित्र को, श्रीहरि के निवेदन करके उसकी रक्षा के लिये दीनतापूर्वक उन्हीं से प्रार्थना करते हैं कि, हे हरे ! पहले पद्य में मैंने, यथार्थ रूप से सत्य-सत्य, अपने सम्पूर्ण चरित्र को आपके सामने कह सुनाया है। मेरे चरित्र को सुनकर भी आप दया नहीं करते हो, हा सखे ! आप बड़े निर्दयी हो; हो जाओ इसमें मेरी हँसी नहीं है, आप ही की हँसी है, क्योंकि, आपके मित्र की ऐसी दशा होना ठीक नहीं, और मैं तो, जो कुछ जैसा-तैसा आपका ही हूँ **"निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गतिः"** (वा० रा० ४।८।८) "मित्र, चाहे निर्दोष हो चाहे सदोष हो; परन्तु मित्र की तो मित्र ही परम गति है" यह बाल्मीकीय रामायण के सुग्रीव और श्रीरामजी के प्रसंग का आधा-पद्य ही मेरी गति के लिये महामन्त्र का-सा काम कर रहा है। यदि कहो कि, "मुझको छोड़कर और किसी आशुतोष देवता की शरण लेलो" तहाँ कहते हैं कि, हे मुरारे ! आपके पदकमलों को छोड़कर, मैं, दूसरे किस देवता की प्रार्थना

करूँ । हाय ! मुझे तो आपके सदृश, मित्रोंपर प्यार करनेवाला कोई भी नहीं दीखता ।।१७५।।

अथ वियोगिनी-वृत्तद्वयेन नरकपातात् स्वरक्षां प्रार्थयते—

नरके परिपातयोग्यता, मयि सम्यक् खलु वर्तते सखे ! ।
कुरुषे यदि मां स्वपार्श्वगं, प्रकटा स्यात् तव र्तहि योग्यता ।।१७६।।
नरके पतनाय किंकरा-,स्त्वरयन्त्येव यमस्य रक्ष माम् ।
नहि भो ! पतनोन्मुखः सुहृद्, सुहृदा र्कहिचिदप्युपेक्ष्यते ।।१७७।।

हे सखे ! नरक में गिरने की तो मुझ में बहुत अच्छी योग्यता है, परन्तु आपकी योग्यता तो तभी प्रगट होगी कि, जब आप, मुझको अपना समीपवर्ती सहचर बना लोगे ।।१७६।। हे सखे ! यमराज के किंकर, मुझको नरक में डालने के लिये शीघ्रता कर रहे हैं । प्रिय ! रक्षा करो, रक्षा करो। हे सखे ! सच्चा मित्र, गिरते हुए अपने मित्र की, कभी भी उपेक्षा नहीं करता है ।।१७७।।

अथ सुग्रीव-वृत्तं स्मारयन् दशास्यादप्यधिकाद् रक्षामिच्छति कामात् शिखरिण्या—

समापन्ने किञ्चित् त्वयि किमपि कार्यं न रमया
वचः किं सुग्रीवं प्रति निगदितं विस्मृतमिदम् ।
न चेत् कृष्ण भ्रातः ! कथमिह समापन्नमपि मां
दशास्योर्ध्वात् कामादपि कृतरणं तर्ह्यवसि नो ।।१७८।।

अब, श्रीहरि को, त्रेतायुग के मित्र-श्रेष्ठ श्रीसुग्रीवजी के युद्धकाण्ड के चरित्र का स्मरण कराते हुए, "रावण से भी विशेष बलवान् शत्रु, कामदेव से रक्षा कीजिये", ऐसी प्रार्थना करते हैं कि, हे रामावतारिन् ! सखे ! श्रीकृष्ण ! श्रीरामावतार में, सुबेल पर्वत के शृङ्गपर प्रधान-प्रधान मित्रों सहित बैठे हुए आपने, मित्रभाव में भरकर श्रीसुग्रीव के प्रति जो वचन कहे थे कि, "हे मित्रवर्य सुग्रीव ! यदि तुमपर किञ्चिद् भी विपत्ति आ जाती तो मुझको सीता से क्या प्रयोजन रह जाता ?" आप, इन वचनों को भूल गये क्या ? हे भैया कृष्ण ! यदि नहीं भूले हो तो, महाभयंकर विपत्ति में पड़े हुए मुझको क्यों नहीं बचाते हो ? यदि कहो कि, वह विपत्ति कौन-सी है ? तो सुनिये—देखो, श्रीसुग्रीवजी ने तो, अपने बराबर के मल्ल, रावण से द्वन्द्व-युद्ध किया था, अतः वे, विजयी होकर, सकुशल आपके पास सुबेल-पर्वतपर आ गये थे, परन्तु मेरा तो द्वन्द्व-युद्ध, रावणपर भी विजय प्राप्त करनेवाले सर्व-विशिष्ट 'कामदेव'-नामक मल्ल से हो रहा है । मैं, महान् दुर्बल हूँ, उसपर विजय नहीं प्राप्त कर सकता, अतः

आपको अपने निर्बल सखा की तो, और भी विशेष सहायता करनी चाहिये। श्रीबाल्मीकीय रामायण के युद्धकांड में ४०-४१ सर्ग में श्रीराम-सुग्रीव का आपस का संभाषण इस प्रकार है कि, समुद्रपर सेतुबन्धन हो चुका था, सम्पूर्ण बानरी-सेना इस पार लंका में आ पहुँची थी, सेना सन्निवेश के अनन्तर श्रीराघवेन्द्र सरकार श्रीरामभद्रजी, छोटे भ्राता श्रीलक्ष्मणजी और सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान्, हनूमान्, नल, नील, अङ्गद प्रभृति मुख्य-मुख्य सेनापतियों को साथ लेकर लङ्का, की शोभा कों देखने के लिये, दो योजन लम्बे-चौड़े मुबेल पर्वत के श्रृङ्गपर चढ़ गये, वहाँपर सरकार ने एक मुहूर्त विश्राम किया। पश्चात् दशों दिशाओं को देखते हुए, त्रिकूट पर्वत के रमणीय शिखरपर विश्वकर्माद्वारा बनाई हुई लङ्का को देखने लग गये। इधर, गोपुर के श्रृङ्गपर श्वेत-चामर और विजय-छत्र विभूषित, लाल-चन्दन लगाये हुए, खरगोस के रक्त से रंगे हुए वस्त्र धारण किये हुए, काले मेघ के समान, सिंहासनपर बैठे हुए राक्षसराज रावणपर सुग्रीव की दृष्टि पड़ गई, देखते ही, सुग्रीव से न रहा गया, पर्वत शिखर से कूदकर, गोपुर में आ कर, निर्भीकभाव से एक मुहूर्ततक रावण को देखा, पश्चात् क्रोध में भरकर कहा कि, अरे दुष्ट ! रावण ! देख, मैं, निखिल कोटि ब्रह्माण्ड-नायक श्रीरामजी का सखा हूँ, अतः रामजी की कृपा से आज तू, मुझसे बचकर कहाँ जायगा ? ऐसा कहकर, सहसा रावणपर कूद पड़े। उसके विचित्र-विचित्र मुकुटों को पृथ्वीपर फैंक चलाया; बस, क्या था द्वन्द्व-युद्ध आरम्भ हो गया। बहुत समयतक युद्ध होता रहा, रावण को मूर्च्छित कर, सुग्रीवजी श्रीरामजी के समीप आ पहुँचे, श्रीरामजो ने सुग्रीव के शरीर में युद्ध के चिह्न जो देखे, देखते ही प्रथम तो भुज-भरकर मिले, पश्चात् बोले कि, हे मित्र ! तुमने मुझ से बिना ही पूछे, यह अत्यन्त साहस का कार्य किया है, राजा लोग, बिना मित्रों के पूछे, ऐसे साहस के कार्य नहीं करते हैं। हे साहस प्रिय ! सखे ! आपने मुझको, और इन सेना के सहित विभीषण को सन्देह में डालकर बहुत कष्ट का कार्य किया है; फिर श्रीरामजी बोले कि— (वा० रा० ६।४१।४-६)—

इदानीं माकृथा वीर !, एवंविधमरिंदम !
त्वयि किंचित्समापन्ने, किं कार्यं मम सीतया ॥
भरतेन महाबाहो !, लक्ष्मणेन यवीयसा ।
शत्रुघ्नेन च शत्रुघ्न !, स्वशरीरेण वा पुनः ॥

त्वयि चाऽनागते पूर्वमिति मे निश्चिता मतिः ।
जानतश्चापि ते वीर्यं, महेन्द्रवरुणोपम ! ॥
हत्वाऽहं रावणं युद्धे, सपुत्रबलवाहनम् ।
अभिषिच्य च लंकायां, विभीषणमथापि च ॥
भरते राज्यमारोप्य, त्यक्ष्ये देहं महाबल ! ।
तमेवंवादिनं रामं, सुग्रीवः प्रत्यभाषत ॥
तव भार्यापहर्तारं दृष्ट्वा राघव ! रावणम् ।
मर्षयामि कथं वीर !, जानन् विक्रममात्मनः ॥

हे अरिंदम ! वीरवर ! सुग्रीव ! मित्र ! देखो, आज से पीछे, ऐसे साहस का कार्य, मुझ से बिना पूछे, कभी नहीं करना । देखो प्यारे ! यदि तुमपर किंचिद् भी विपत्ति आ जाती, अर्थात् यदि किसी प्रकार तुम्हारा प्राणों से वियोग हो जाता तो, मुझे, सीता से क्या प्रयोजन रह जाता ? क्योंकि, संसार में पतिव्रता स्त्रियाँ तो फिर भी मिल सकती हैं, परन्तु तुम जैसा स्नेही निष्कपट-मित्र कहाँ मिलता ? और हे महाबाहो ! शत्रुघातिन् ! भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न से भी मेरा क्या प्रयोजन रह जाता ? मित्र ! तुम्हारे बिना, मुझको कुछ भी अच्छा नहीं लगता । मित्रवर्य ! विशेष क्या कहूँ, मुझे अपने शरीर से भी कुछ प्रयोजन न रह जाता । हे महेन्द्र और वरुण के समान पराक्रमशाली मित्र ! सुग्रीव ! तुम्हारे पराक्रम को जानते हुए भी, तुम जबतक रावण के युद्ध से विरत हो लौटकर नहीं आये थे, तबतक मैंने, यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि—"पुत्र, पौत्र, बल और वाहनों के सहित रावण को मारकर, लंका में विभीषणजी का अभिषेक करके, और अयोध्या के राज्य को श्रीभरतजी के हाथ समर्पण करके, तुम्हारे वियोग में शरीर छोड़ देता, अर्थात् मुझे शीघ्र ही लीला-संवरण करना पड़ता । इस प्रकार कहते हुए श्रीरामजी से सुग्रीव बोले कि, हे सखे ! वीरवर ! राघवेन्द्र ! अपने पराक्रम को जानता हुआ मैं, आपकी भार्या के अपहरण करनेवाले दुष्ट को देखकर, कैसे सहन करूँ ? मित्रवर्य ! मुझसे भी, उसको दण्ड दिये बिना नहीं रहा गया । ऐसे मित्र के वचनों को सुनकर, श्रीरामजी ने उनका अभिनन्दन किया । इस प्रसङ्ग के कहने का तात्पर्य यही है कि, भगवान् अपने सखाओंपर इतना प्यार करते हैं कि, उनके विरह में सम्पूर्ण परिकर की उपेक्षा करके, मध्य में ही लीला-संवरण कर देनेतक का दृढ़ निश्चय रखते हैं । अहह ! ऐसे

कृतज्ञ सुहृत्प्रिय श्रीहरि का, कौन-सा बुद्धिमान् जन, मित्रभाव से भजन नहीं करेगा ? मित्रों का उत्कर्ष दिखाते हुए श्रीरामजी ने तो यहाँतक कह दिया है कि, हे मित्रो !

चौपाई–अनुज राज सम्पति वैदेही, देह गेह परिवार सनेही ।
ये सब प्रिय नहीं तुम्हहिं समाना, मृषा न कहों मोर यह बाना ।

श्रीरामजी, दोगली बातें नहीं करते, जो कह दिया, सो कर दिखाया, दो बार धनुष नहीं चढ़ाते, जो चढ़ गया, वह कुछ कार्य करके ही हटेगा, इस बात् की प्रशंसा केकयी माता ने भी की है कि, **"रामो द्विर्नाऽभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते"** इत्यलमतिविस्तरेण ।।१७८।।

अधुना हे हरे ! यया कृपया अहं गृहबन्धनतो निस्सारितस्तयैव स्वप्राप्तेर्मार्गमपि बोधय इत्यर्थयते द्रुतविलम्बितेन—

अयि हरे ! त्वयका कृपया यया, गृहनिबन्धनतो बहिरापितः ।
तव पदाब्जयुगाधिगतेः सृतिं, लघु तया कृपयैव निदर्शय ।।१७९।।

हे हरे ! आपने, जिस अपनी महती कृपा, से गृहरूपी कठिन बन्धन से मुझे बाहर निकाल दिया, कृपया शीघ्र ही अब उसी कृपा से आपके श्रीचरण-युगल की प्राप्ति का मार्ग भी दिखला दो ।।१७९।।

अधुना श्रीकृष्णेन स्वनित्यसख्यसम्बन्धं स्मारयन् तस्मादेव च येन प्रकारेण मे विरहदुःखं दूरीभवेत् स प्रकारस्त्वयैवाऽनुष्ठेय इति मन्दाक्रान्ता-छन्दसाऽर्थयते—

वेदैरावामजित ! कथितौ द्वौ सुपर्णौ सखायौ
सर्वज्ञस्त्वं भवसि नितरामल्पबोधाश्रयोऽहम् ।
दुःखं चातो विरहजनितं प्राप्यते मित्रवर्य !
दुःखं येन व्रजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ।।१८०।।

"अब, श्रीकृष्णचन्द्र के साथ अपने नित्य सख्य-सम्बन्ध का स्मरण कराते हुए, उन्हीं से जिस प्रकार मेरा विरह-दुःख दूर हो जाय, वह उपाय भी आप ही करें" ऐसी प्रार्थना करते हैं—हे अजित ! यद्यपि जीव और ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध को वर्णन करते हुए ऋग्वेद २।३।१७ मं० ५ में लिखा है कि—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।।"

जीव और ईश्वरस्वरूप दो पक्षी, एक शरीररूप वृक्ष में रहते हैं । वे दोनों, समान गुणवाले हैं । आपस में सखा (मित्र) हैं, उन दोनों में से एक

जीवरूप पक्षी तो इस शरीररूप वृक्ष के शुभ अशुभ-कर्मफलों को स्वादिष्ट समझकर भोग करता है। दूसरा ईश्वररूप पक्षी, इस वृक्ष के कर्मफलों को न भोगता हुआ भी परमप्रकाशमान-स्वरूप से विराजमान रहता है। ऋग्वेद में अपने नित्यसखा परमेश्वर का बुलाना भी लिखा है—

"मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे" (ऋ० १।७।१२।५)

अर्थात् उस अनन्त बलवाले परमात्मा को, हम, सखा होने के लिये बुलाते हैं। तथापि हे मित्रवर्य ! आप सर्वज्ञ हैं, मैं, सर्वथा अल्पज्ञ हूँ। अतः आपके विरह से जायमान दुःख को भोग रहा हूँ। अतः आपके विरह का दुःख जिस प्रकार दूर हो जाय, वह उपाय भी आप ही करें ॥१८०॥

देहपातात्पूर्वमेव दर्शनं देयमन्यथा निष्फलं स्यादित्यभिधत्ते मन्दाक्रान्ता-छन्दसा—

शुष्के तुण्डे मम विलपतः प्रावृषा किं सुधायाः
संसाराब्धौ लयमपि गते नाविकेनाऽथ किं वा।
दृग्भ्यां हीनां गतवति दशां मन्दहास्येन किं ते
प्राणैर्हीने सति वपुषि मे दर्शनेनाऽपि किं ते ॥१८१॥

भावार्थ सवैया में—

मुख सूख गया यदि रोते हुए, तब अमृत ही वरषाया तो क्या ?।
भवसागर में जब डूब चुके, तब नाविक नाव को लाया तो क्या ?॥
युग लोचन बन्द हमारे हुए, तब निष्ठुर ह्वै मुसिकाया तो क्या ?।
जब जीवन ही न रहा जग में, तब दर्शन आके दिखाया तो क्या ? ॥१८१

श्रीमुखदर्शनमेवाऽधुनाऽऽशास्ते वियोगिनी-छन्दसा—

मधुराकृति विश्वमोहनं, मुखमानीलरुगाविकस्वरम्।
कुटिलाऽलकवृन्द-शोभितं, कृपया दर्शय हे सखे ! मम ॥१८२॥

हे मेरे प्राणप्रिय सखे ! आप, कृपया अपने उस मुखारविन्द का दर्शन करावें कि, जिसकी आकृति, बहुत सुन्दर है, और जो, आपको भी मोहित कर देता है, विश्व को मोहित करेगा इसमें तो कहना ही क्या है ? और जिसकी कान्ति, इन्द्रनीलमणि के समान है, एवं जो, सदैव मन्दहास्य से युक्त रहता है, तथा घुंघराली अलकों से सुशोभित है ॥१८२॥

अथ प्रकारान्तरेण श्रीरामकृष्णयोर्दर्शनाभिलाषं प्रकटयति प्रमिताक्षरानवकेन-तल्लक्षणन्तु—"प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता" इति—

अयि इन्द्रनीलमणि-सुन्दर हे, अयि कृष्ण ! भक्तजन-रञ्जन हे।
व्रजराजपुत्र ! बलभद्रयुतः, समुपेहि वर्त्म मम लोचनयोः ॥१८३॥

अब, प्रकारान्तर से श्रीरामकृष्णजू के दर्शन की अभिलाषा ६ श्लोकों द्वारा प्रगट करते हैं कि—अयि इन्द्रनीलमणि सुन्दर कलेवर ! श्यामसुन्दर ! हे भक्तजनरञ्जन ! श्रीकृष्ण ! हे श्रीव्रजराज ! आप, बड़े भैया श्रीबलदेवजी के सहित, कृपया मेरे युगल-लोचनरूप राजमार्ग में, शीघ्र ही विचरण करो ।।१८३।।

तव दर्शनं बत विना विफलं, मम जीवनं व्रजति माधव हे ।
सफलीकुरुष्व प्रकटय्य निजं, वपुरात्महारि पथि लोचनयोः ।।१८४।।
अहमस्मि पाप-धनवानपि चेत्, त्वमपि प्रसिद्ध इह तस्करराट् ।
मम तद् धनं परिहरन् कुरुषे, न कथं यथार्थमिह नाम निजम् ।।१८५।।

हे माधव ! आपके श्रीदर्शन के बिना मेरा जीवन दुःखमय और निष्फल जा रहा है, अतः आप, मेरे नेत्ररूप मार्ग में, अपने मनमोहनरूप को प्रगटकर, उसे सफल बनाने की कृपा करें ।।१८४।। यदि कहो कि, तुम तो बड़े पापरूप धन के धनिक हो तो, आप भी चौराग्रगण्य-पुरुष नाम से प्रसिद्ध हो, तथापि आप, मेरे उस पापरूप धन को चुराते हुए, अपने नाम को, मेरे विषय में सार्थक क्यों नहीं करते हो ? ।।१८५।।

यदि पापहीनजनमेव निजं, मनुषे कृतं तव दयालुतया ।
सफलीचिकीर्षसितरां यदि तां, लघु तर्हि कृष्ण ! उररीकुरु माम्।।१८६।।
मयि चेत्करिष्यसि न वा करुणां, मम तर्हि कृष्ण ! न कथंचिदपि ।
तरणं भविष्यति तृषासलिला-,दति दुस्तराद्धि भवसागरतः ।।१८७।।

हे सखे श्रीकृष्ण ! यदि आप, पापहीन जन को ही अपना मानते हैं तो, सर्वतोभावेन सर्वत्र समान संचरणशीला आपकी दयालुता व्यर्थ ही हो जायगी । यदि आप उसको भली भाँति सफल बनाना चाहते हो तो, मुझको सख्य-भाव से स्वीकार करलो ।।१८६।। हे प्रिय सखे ! श्रीकृष्ण ! यदि आप, मुझ दीनपर कृपादृष्टि नहीं करोगे तो, तृष्णारूप जल से परिपूर्ण, अत्यन्त दुस्तर, इस संसार-सागर से मेरा उद्धार किसी प्रकार भी नहीं हो सकेगा ।।१८७।।

बलदेव ! रोहिणि-शिशो ! बलवन् !. बलवत्तया प्रथितया तव किम् ।
यदि नो सखायमपि मामभितो, रिपुतोऽपि रक्षसि मनोभवतः ।।१८८।।
अथवा प्रसिद्धतमया दयया, तव किं कृतं यदि न दीनजने ।
मयि राम ! भक्ति-रहिते निहितं, स्वकवैभवस्य लवमात्रमपि ।।१८९।।

हे श्रीबलदेव ! हे रोहिणीलाल ! हे बलवन् ! सर्वशास्त्र-प्रसिद्ध आपकी उस बलवत्ता से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? जब कि आप, मुझे

अपने सखा को भी, 'कामदेव'-नामक शत्रु से, चारों ओर से बचाते नहीं हो ।।१८८।। अथवा हे श्रीराम ! आपकी अत्यन्त प्रसिद्ध उस दयालुता ने ही क्या किया ? जब कि भक्ति से रहित, इस दीन-जनपर उस दयालुता ने, अपने वैभव का लवमात्र भी प्रभाव नहीं स्थापित किया ।।१८९।।

किमहं तवाऽति—प्रियमातनवै, बलभद्र ! येन मुदितस्त्वमपि ।
व्रजराजपुत्रमपि मित्रयुतं, मम प्रेषयिष्यसि दृशोरयनम् ।।१९०।।

शरदभ्रकान्तिललितां स्वतनुं, हरिगात्र-नीलकिरणैः शबलाम् ।
प्रकटय्य लोचनपथे मम भो, बलभद्र ! भद्रमपि मे वितर ।।१९१।।

हे सुहृद्वर्य-श्रीबलभद्र ! मैं, आपका ऐसा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ जिससे कि आप, मुझपर प्रसन्न होकर, मित्र-मण्डल सहित श्रीव्रजराजकुमार को, मेरे नेत्ररूपी मार्ग में भेजोगे, अर्थात् प्रिय सखा श्रीहरि का दर्शन मुझे करवाओगे ।।१९०।। और हे श्रीबलभद्रजी ! आप भी, शरत्कालीन-मेघ की कान्ति से भी ललित, और इन्द्रनीलमणि-सदृश श्रीहरि के श्रीविग्रह की किरणों से चित्रित, अपने श्रीविग्रह को, मेरे नेत्ररूपी मार्ग में प्रगट करके मेरा कल्याण करो, अर्थात श्रीहरि के सहित दर्शन देकर, मेरी अभिलाषा पूर्ण करें ।।१९१।।

अथ दर्शनाभिलाषमेव रूपान्तरेण प्रकटयति अनुष्टुप्-पञ्चकेन—

कदाचिन्मेऽपि भाग्यं स्याद्, येनाऽहं रामकृष्णयोः ।
आसितं शयितं भुक्तं, गतं द्रष्टुं हि शक्नुयाम् ।।१९२।।

अब, पाँच श्लोकों के द्वारा रूपान्तर से श्रीराम-कृष्ण के दर्शनों की अभिलाषा को व्यक्त करते हैं कि—अहह ! हतभाग्यवाले मुझको भी, क्या कभी ऐसा सुन्दर सौभाग्य प्राप्त होगा, जिससे कि मैं, दोनों भाई श्रीराम-कृष्णजू के बैठने को, सोने को, खाने को, पीने को, चलने को, इन नेत्रों से हर्षपूर्वक देख सकूँ ।।१९२।।

यशोदानन्दयोः किं मे, वात्सल्यरसरूपयोः ।
कृष्णं लालयतोः प्रेम्णा, दर्शनं संभविष्यति ।।१९३।।

श्रीदाम-वसुदामाद्यैः, सखिभिः शयितौ प्रगे ।
उत्थाप्यमानौ च कदा, द्रक्ष्यामि बल-केशवौ ।।१९४।।

अहह ! श्रीकृष्णचन्द्रपर लाड़-प्यार करते हुए, वात्सल्य-रसस्वरूप श्रीनन्दबाबा और श्रीयशोदामैया का, प्रेमपूर्वक दर्शन, क्या मुझ दुरात्मा को भी कभी होगा ? ।।१९३।। और श्रीदामा, वसुदामा प्रभृति सखाओं

द्वारा, पयःफेन के समान कोमल शय्यापर सोये हुए, प्रातःकाल जगाये जानेवाले मित्रवर्य-श्रीरामकृष्णजी का दर्शन करूँगा ? अहह ! ऐसा सौभाग्य कब प्राप्त होगा ? ।।१६४।।

कदा वा गोष्ठगौ प्रात-,र्दोहनी-करसम्पुटौ ।
अवर्णनीय-शोभाढ्यौ, गोदोहन-परायणौ ।।१६५।।

कदा कदम्ब-खण्डीति-,प्रसिद्धे निष्कुटे वरे ।
खेलद्भ्यां बलकृष्णाभ्यां, खेलिष्यामि मुदा प्रगे ।।१६६।।

अहह ! ऐसा शुभ अवसर कब आवेगा जब कि मैं, प्रातःकाल, सुवर्णमयी-दोहनी है करकमलों में जिनके, और जो, गोदोहन करने में तत्पर हैं, एवं दुग्ध-बिन्दु और श्रम-बिन्दु जिनके मुख-कमलोंपर मुक्ता से सुशोभित हो रहे हैं, अतएव अवर्णनीय शोभा से युक्त, गैयाओं के खिड़क में विद्यमान श्रीरामकृष्ण का शुभ-दर्शन करूँगा ? हा प्रिय सखे ! ऐसा शुभ अवसर शीघ्र ही प्रदान करने की कृपा करें। आपका विरह सहते-सहते बहुत जन्म व्यतीत हो गये ।।१६५।। और 'कदम्बखण्डी'-नामक प्रसिद्ध बगीचे में प्रातःकाल गोदोहनान्तर सब सखाओं सहित खेलते हुए श्रीरामकृष्णजू से मैं भी हर्षपूर्वक खेलूँगा। हाय ! ऐसा शुभ मुहूर्त कब आवेगा ? ।।१६६।।

अथ तोटक-वृत्तेन कामादिशत्रुभ्यः शीघ्रं रक्षां प्रार्थयते—

अयि नूतनवारिदसुन्दर हे, भववारिधि-मन्थन-मन्दर हे ।
बहुशः परिभूत-पुरन्दर हे, लघु मामव गोप-पुरन्दर हे ।।१६७।।

हे नूतन-जलधर-सुन्दर ! हे भववारिधि-मन्थन-मन्दर ! हे गोप-पुरन्दर ! प्रिय सखे ! श्यामसुन्दर ! आपने, भक्तों की रक्षा करने के लिये, देवेन्द्र इन्द्र का अनेकों बार तिरस्कार किया है। अब मुझको भी, यह देवेन्द्र, अपने प्रिय-सहचर पञ्चशरद्वारा पाँचों शर फिकवाकर पीड़ित कर रहा है। सखे ! शीघ्र रक्षा करो, शीघ्र रक्षा करो ।।१६७।।

अथ श्रीकृष्ण-दर्शनमकुर्वतोः स्वनेत्रयोर्वैफल्यं सनिर्वेदमाह-द्रुतविलम्बितेन—

श्रुति-निषेवणतस्तु यशस्विनो-,र्नयनयोर्मम हाऽभवनिर्मता ।
यदनयोः पथि ते पदपद्मयो-,र्न नखकान्ति-कलाऽपि मनागभूत् ।।१६८।।

अब, श्रीकृष्ण के दर्शन न करनेवाले अपने नेत्रों की निष्फलता का खेदपूर्वक वर्णन करते हैं कि, हे सखे ! वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास एवं भक्ति-प्रतिपादक भक्तिरसामृतसिन्धु, भक्तिरसायन, बृहद्भागवतामृत, हरि-भक्तिविलास, भक्तिरसामृत-शेष, लघुभागवतामृत, प्रभृति सैकड़ों ग्रन्थों के

प्रेमपूर्वक रसास्वादन से, यद्यपि ये मेरे नयन-युगल यशस्वी हैं, तथापि मेरे मत में इनका होना न होना-सा ही है, क्योंकि इनके सामने, आपके पाद-पद्मों के नखों की कान्ति का लेश भी तो नहीं आया है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में गोपियों ने भी कहा है कि—(१०।२१।७)

"अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः, सख्यः! पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं, यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥"

अरी सखियो! देखो, नेत्रधारी पुरुषों के नेत्रों का यही मुख्यतम फल है और इससे दूसरे फल को हम नहीं जानतीं कि, समान अवस्थावाले मित्रों के सहित गौओं को एक वन में से दूसरे वन को ले जानेवाले नन्द-नन्दन बलराम और श्रीकृष्ण के वंशी बजानेवाले और स्नेहयुक्त कटाक्ष फैंकनेवाले मुख को जिन्होंने पिया है, अर्थात् नेत्ररूप भ्रमरों से उसकी मधुरता का अनुभव किया है उन्होंने ही नेत्रों का फल पाया है, दूसरे किसी ने नहीं॥१९८॥

अथ स्वयोग्यतामवीक्ष्यैव हरिपरिष्वङ्गमभिलषन्तीं स्वभुजद्वयीं निवेदयति आर्या-वृत्तेन लक्षणन्तूक्तम्—

एषा भुजद्वयी मे, स्वक्षोदिमानं नो बिचार्यैव।
चपलतया बलभ्रात-,स्तव भुजसन्धिं बलाल्लषति॥१९९॥

अब, अपनी योग्यता को न देखकर ही, चंचलता से श्रीहरि से आलिङ्गन करने की इच्छावाली अपनी भुजाओं का निवेदन करते हैं कि—हे दाऊजी के भैया! सखे! श्रीकृष्ण! देखो, ये मेरी दोनों भुजायें, अपनी क्षुद्रता का विचार न करके ही, अपनी चंचलता से, आपकी कोमल-कोमल भुजाओं से जबरदस्ती मिलना चाहती हैं, कृपा करके आप इनके विज्ञापन को स्वीकार करलें॥१९९॥

अथ योग्यताऽभावेऽपि बलहरिदर्शनतृष्णाचिन्तया-निःश्वसतो मे निशा यान्तीति चाह आर्ययैव—

बल-हरि-दर्शन-तृष्णा-,तरलमतेरपि योग्यता-दरिद्रस्य।
अवनत-वदनस्यातो, निःश्वसतो मे निशा यान्ति॥२००॥

अहह! मैं, अपनी योग्यता के विषय में तो अत्यन्त दरिद्र हूँ, तथापि श्रीरामकृष्ण के दर्शनों की प्यास से मेरी बुद्धि स्थिर नहीं है, अतएव नीचे को मुख करके, आहों से भरे हुए लम्बे-लम्बे श्वास लेते-लेते, मेरी रात्रियाँ व्यतीत होती हैं॥२००॥

अथ गुणतस्त्वावयोर्भृशं वैषम्येऽपि सख्यभावेन तु त्वया कृपाकटाक्षलेशः कर्तव्य एवेत्याह सदैन्यं पृथ्वी-छन्दसा—

विधिप्रभृतिदैवतैरपि सुदुर्लभालोक हे
हरे ! कुटिलधीरहं लघुरथास्मि कीटादपि ।
भृशं विषमताऽऽवयोस्तदपि सख्यतः प्रार्थये
मनागपि सखे ! मयि क्षिप कृपाकटाक्षच्छटाम् ॥२०१॥

अब "यद्यपि गुण से तो मुझ में और तुझ में बहुत विषमता है, तथापि सख्य-भाव से तो आपको मुझपर कृपाकटाक्ष लेश करना ही चाहिये"। इस बात को वर्णन करते हैं कि, हे सखे ! हरे ! आपके श्रीदर्शन तो ब्रह्मादिकों को भी अत्यन्त दुर्लभ है, और मैं अत्यन्त कुटिल एवं कीटों से भी नीच हूँ, इस प्रकार विचार करके यदि देखा जाय तो मुझ में और आप में महती विषमता है, किसी प्रकार भी संयोग घटित नहीं हो सकता, तथापि "**निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमागति**" (वा० रा० ४।८।८) इस आप्त-वचन के सहारे सख्य-भाव का अवलम्बन लेकर प्रार्थना करता हूँ कि, हे प्रिय-सखे ! विषयलीन, गुणहीन, अतिदीन मुझपर कृपाकटाक्ष की थोड़ी-सी ही छटा की वृष्टि कर दें, अर्थात् मुझको अपना मित्र समझकर, मुझपर थोड़ी-सी कृपा तो अवश्य ही कर देनी चाहिये ॥२०१॥

अथ कदाचिन्मायातः स्वपराभवमनुभूयमानः सखेदं ततो रक्षां प्रार्थयते, शार्दूल-विक्रीडितेन—

माया मर्दयतीह माधव ! नु मां किं मित्र ! नाऽवेक्षसे
मित्रं प्रेक्ष्य विपद्गतं नहि सुहृन्मौनी क्वचित्तिष्ठति ।
नेशोऽपि प्रतिकर्तुमत्र विपदं यावद्बलं चेष्टते
दूरीकर्तुमिहाऽऽशु मित्रविपदं नेशोऽपि किं चेष्टसे ॥२०२॥

अब कभी "**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया**" (गीता ७।१४) तथा—

"बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जविनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम् ॥"
एवं (भा० ३।३१।३८)

छोटी-छोटी कामिनी, सब ही विष की बेल ।
बैरी मारै दाव से, ये मारें हँस खेल ॥

इत्यादि परमाप्त-वचनों का स्मरण करके, जानते हुए भी, बलवती भगवती त्रिगुणमयी माया से, अपने महान् तिरस्कार का अनुभव करते हुए,

उससे रक्षा की प्रार्थना, खेदपूर्वक, मायापति, अपने मित्र श्रीकृष्णचन्द्र से ही कहते हैं कि, हे मित्र ! माधव ! यह आपकी ही बलवती एवं आप से ही **"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया"** (भा० २।५।१३) इस वचन के अनुसार, लज्जावती मायादेवी, मेरा मर्दन कर रही है, क्या आप नहीं देख रहे हैं ? आप यदि थोड़ी-सी देर के लिये भी मेरे पास आ जायें तो, आप से लज्जा करनेवाली यह आपकी माया, लज्जा के मारे घूँघट मारकर, मेरे समीप से भाग जायगी । देखो सखे ! मित्र को विपत्ति में पड़े हुए देखकर कोई भी सच्चासुहृद्, मौनावलम्बी होकर, कभी भी स्थित नहीं रह सकता, समर्थ न होनेपर भी अपने बल के अनुसार, मित्र की विपत्ति को दूर करने की चेष्टा करता है । आप सर्वथा समर्थ होनेपर भी, मित्र की विपत्ति को शीघ्र ही दूर करने की चेष्टा क्यों नहीं करते हो ? आपकी मरजी सखे ! मेरा तो प्रार्थना करने का ही धर्म है । आपको यदि अपनी मायाद्वारा अपने सखा के पिटने में ही सुख मिलता है तो रहने दीजिये सखे ! ।।२०२।।

पुनरपि हे सखे ! मायामोक्षणरूपं ततो दर्शनदानरूपं बन्धोर्मम कार्यं त्वया व्यवसितं कच्चित् । नहि तव मौनमात्रेण निषेधमाशङ्के "मौनं स्वीकारलक्षणम्" इत्युक्त्वाह शार्दूलविक्रीडितेन—

कच्चित्कृष्ण ! सखे ! त्वया व्यवसितं मे बन्धुकृत्यं त्विदं
मौनान्नैव निषेधमत्र भवतः शङ्के कदाचित्तव ।
निःशब्दोऽपि जलं ददाति जलमुक् द्राक् चातकेभ्योऽर्थितः
प्रत्युक्तं खलु याचकेषु हि सतां यत्प्रार्थनापूरणम् ।।२०३।।

हे मेरे प्यारे सखे ! बन्धुवर ! श्रीकृष्ण ! आपने स्व-माया से मोक्षण-रूप और स्वदर्शन-दानरूप मुझ बन्धु का यह कार्य स्वीकार करके पूर्ण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है क्या ? यदि कहो कि मैं, चुपचाप बैठा हूँ तुमने यह कैसे जान लिया कि श्रीकृष्ण ने मेरी प्रार्थना स्वीकार करली है, तहाँ कहते हैं कि, आपके मौनमात्र से, मैं, निषेध की आशंका कदापि नहीं कर सकता, क्योंकि, **"मौनं स्वीकारलक्षणम्"** "मौन, स्वीकार का परिचायक है" ऐसा सज्जनों ने कहा है । और हे सखे ! देखो अपने प्यारे स्नेही चातकों को, मेघ, बिना ही शब्द किये शीघ्र ही जल का दान देता है । ठीक भी है क्योंकि, याचकों की प्रार्थना पूरी कर देना ही याचकों के विषय में सज्जनों का प्रत्युत्तर कहा गया है, यथा—

"गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षति वर्षासु निस्वनो मेघः ।
नीचो वदति न कुरुते, न वदति सुजनः करोत्येव ।।"

अर्थात् शरदऋतु में जो बादल गर्जता है, वह, वृष्टि नहीं करता है; और वर्षा में, बिना ही शब्द करनेवाला मेघ, यथेष्ट वर्षा कर देता है। नीच-पुरुष कहते ही हैं, कार्य करके नहीं दिखलाते; सज्जन-पुरुष कहते नहीं हैं, कार्य करके दिखला देते हैं, यही सज्जनों की विशेषता है ।।२०३।।

अथ मया तव गुणगणलेशस्याऽपि गानं नैव कर्तुं शक्यते तथापि स्वजिह्वा-साफल्यं कर्तुं तव दर्शनहेतवे च केवलं विलपितमिति स्फोटयति शिखरिणी-द्वयेन—

न वेदव्यासोऽहं विधिरपि न वाल्मीकिरपि नो
महेशः शेषो वा नहि वररुचिर्वा विधिसुता ।
गुरुर्वा सुत्राम्णो गणपति-शुकौ वा नहि हरे !
ततो वक्तुं नेशे तव तु गुणलेशानपि सखे ! ।।२०४।।

स्वजिह्वा-साफल्यं तदपि किल कर्तुं विलपितं
विलापं श्रुत्वा किं सदयहृदय ! त्वं न दयसे ।
कृता याच्ञाऽन्यत्र व्रजतु नु कदाचिद् विफलतां
न याच्ञा त्वत्पक्षे व्रजति हि कदाचिद् विफलताम् ।।२०५।।

अब, दो श्लोकों से इसी बात का वर्णन करते हैं कि, मैं, आपके गुणों के तो लेश का भी वर्णन नहीं कर सकता। मैंने तो, केवल आपके दर्शन हेतु, अपनी जिह्वा को सफल करने के लिये विलापमात्र किया है कि—हे प्रिय सखे ! हरे ! मैं, कोई श्रीवेदव्यास नहीं हूँ, और न ब्रह्मा, न वाल्मीकि-महर्षि, न महेश, न शेष, न कविवर वररुचि, न श्रीसरस्वती, न बृहस्पति, न गणपति, न शुकदेव ही हूँ, अतः आपके गुणों के तो लेशमात्र का भी यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता हूँ, तथापि मैंने तो, केवल अपनी जिह्वा को सफल बनाने के लिये, आपके श्रीदर्शन हेतु, यह विलापमात्र किया है। सदय-हृदय ! सखे ! अपने सखा के ऐसे विलाप को सुनकर भी, आप, दया क्यों नहीं करते हो ? और के विषय में की हुई याचना भले ही निष्फल चली जाय, परन्तु आपके विषयमें की हुई याचना, कभी भी निष्फल नहीं जा सकती। क्योंकि, माता श्रीअदिति के प्रति भी तो आपने यही कहा है कि, (भा० ८।१७।१७) **"ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा, श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात्"** श्रद्धानुसार किया हुआ मेरा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन प्रभृति कोई भी भक्ति का अंग, निष्फल नहीं जा सकता, उसका फल अवश्य ही मिलता है। अतः कृपया आप ही मेरे विषय में भी, अपने श्रीवचनों को सफल बनावें, सखे ! ।।२०४-२०५।।

इदानीं ग्रन्थरत्नमिदं श्रीगुरुवरकरकमलयोः सादरं समर्पयति हरिणी-छन्दसा—

मम तु हृदयाऽऽकाशे यस्योदगादनुकम्पया
सखिरस-विकाशायैवाऽयं तु सख्य-सुधाकरः।
करकमलयोस्तस्य प्रेम्णा मयाऽपि समर्प्यते
स तु गुरुवतो दृष्ट्वा दीने सदा मयि प्रीयताम् ।।२०६।।

अब, इस ग्रन्थरूप रत्न को, सादर श्रीगुरुवर के करकमलों में समर्पण करते हैं कि, जिन दयालु श्रीगुरुदेवजू की महती अनुकम्पा से, सख्यरस का विस्तारपूर्वक विकाश करने के लिये ही, मेरे हृदयरूप आकाश में, यह सख्य-सुधाकररूप विमल चन्द्रमा उदय हुआ है, उन्ही श्रीगुरुदेवजू के श्रीकरकमलों में, मैं भी इसको सादर समर्पण करता हूँ। वही मेरे श्रीगुरुदेव, इसका प्रेमपूर्वक अवलोकन करके, अपने एक छोटे-से अबोध-शिष्य की कृति समझकर, मुझ दीनपर सदैव प्रसन्न रहें ।।२०६।।

अधुना ग्रन्थस्याऽस्य जगति जयमुद्घोषयति मन्दाक्रान्तया—

स्वाचार्यस्य प्रथमममलं यश्चरित्रं व्यतानीत्
पश्चाद् राधारमणशतकं भक्तनामावलीं च।
सर्वाश्चर्यं कविकुलमुदे श्रीहरिप्रेष्ठकाव्यं
तस्यैवाऽयं जगति जयतात् सख्यपूर्वः सुधांशुः ।।२०७।।

"अब, इस ग्रन्थ का उत्कर्ष जगत् में चिरस्थायी रहे" इस बात की मंगलाशंसा अपने सखा से ही करते हुए उद्घोषित करते हैं कि, जिस कवि ने २० वर्ष की अवस्था में पाणिनीय-व्याकरण की मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण करके ही श्रीगुरुवियोगार्त्त होकर, सर्व प्रथम षोड़श सर्गात्मक "श्रीगुरुदेव-चरितकाव्य" की रचना की, जो कि वि० सं० १९९९ में प्रकाशित हो चुका है, तथा इस वर्ष भी द्वितीयावृत्ति में प्रकाशित हुआ है। जिसका दूसरा नाम "श्रीकृष्णानन्द-महाकाव्य" है। और पश्चात् जिसने "श्रीराधारमणा-विर्भावशतक" की रचना की। इस ग्रन्थ में श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी ने शालग्रामजी की मूर्ति से ही किस प्रकार श्रीराधारमणलालजी का प्रादुर्भाव करवाया है इस विषय का वर्णन है। यह प्रकाशित हो गया है। और तत्पश्चात् जिसने श्रीभक्तमाल के अनुसार "श्रीभक्तनाम-मालिका"-नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भक्तों के नामों का संकलन, विविध छन्दों के श्लोकों में, गायनरूप से विद्यमान है, इसमें एक हजार से अधिक भक्तों के नाम

हैं, जिसके पाठ करने से भगवान् 'गोपाल-सहस्रनाम' के पाठ से भी अधिक प्रसन्न होते हैं, अतः इस ग्रन्थ को "भक्त-सहस्रनाम" से भी कह सकते हैं, जो अभी इसी ग्रन्थ के साथ दुबारा प्रकाशित होने जा रहा है। तत्पश्चात् सर्वाश्चर्यों से परिपूर्ण, कविकुल हृदयग्राही, दिव्य नायक वर्णनपरक, अष्टादश-सर्गात्मक "श्रीहरिप्रेष्ठमहाकाव्य" को रचना की, यह भी प्रकाशित हो गया है। उसी कविकुलकुक्कुट की यह "सख्य-सुधाकरः" नाम की कृति भी, जगत् में सख्यभाव-भावुक रसिक-चकोरों को सख्यामृत-रस का पान कराती हुई सदैव उत्कर्ष को प्राप्त होती रहे ।।२०७।।

अधुना कदाऽयं ग्रन्थो रचयितुं प्रारब्धः कुत्र वा—इति निर्दिशति वसन्ततिलका-वृत्तेन—

संवत्सरे परिमिते खखखैश्चद्वाभ्यां
निर्मातुमारभत सख्यसुधाकरं च।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति-
र्वृन्दावने शुभदिने वनमालिदासः ।।२०८।।

अब, इस विषय का निर्देश करते हैं कि, यह ग्रन्थ कब किस संवत् में और किस स्थान में बनाना प्रारम्भ किया—श्रीविक्रमादित्य के शुभ संवत्सर २००० के श्रावण मास के शुक्लपक्ष में, श्रीवृन्दावन वास की महिमा से ही जिसको कविता-शक्ति का लाभ हुआ है, उसी "वनमालिदास" ने श्रीवृन्दावन की रमणरेती में शुभ दिन में, इस "सख्य-सुधाकर" की रचना करनो प्रारम्भ की थी ।।२०८।।

अधुना भाषाटीका-निर्माण-कालमभिधत्ते-गीति-छन्दसा तल्लक्षणं यथा—

"आर्याप्रथमदलोक्तं, यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः।
दलयोः कृतयतिशोभां, तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः।।"

ऋषिखखपक्षपरिमिते, विक्रमवर्षे च श्रावणे मासे।
सख्य-सुधाकर ग्रन्थे, टीका पूर्णाऽपि पूर्णिमायां नु ।।२०९।।

अब, टीका निर्माण के समय को निर्धारित करते हैं कि—विक्रम संवत् २००७ के श्रावण मास की, रविवार से युक्त पौर्णमासी के दिन, शुभमुहूर्त में, ग्रन्थकर्ता के द्वारा ही निर्विघ्नतापूर्वक "सख्य-सुधाकर" की सख्यरस-प्रकाशिका "सख्य-सुधाकर-चन्द्रिका"-नामक भाषा टीका सम्पूर्ण हुई ।।२०९

इत्येष सख्य भावाढ्यः श्रीलसख्य-सुधाकरः।
प्रीत्यै भूयात् स्वसुहृदोः श्रीलश्रीरामकृष्णयोः ।।२१०।।

इस प्रकार सख्यभाव से परिपूर्ण, एवं शोभायमान यह 'श्रीसख्य-सुधाकर', अपने सनातनी सखा, श्रीकृष्ण-बलदेव की प्रसन्नता के लिये, समर्थ हो जाय, अर्थात् इसकी रचना से, श्रीकृष्ण-बलदेव, मुझपर प्रसन्न हो जायँ ॥२१०॥

इति श्रीषड्दर्शन-कानन-विहरण-परायण-पंचानन-सख्य-रसाऽवतारस्वामि-श्रीकृष्णानन्ददासजी-महाराज-शिष्येण काव्यवेदान्त-तीर्थेन महाकविना श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा विरचितः सटीकः सख्य-सुधाकरः सम्पूर्णः ।

श्रीसख्य-सुधाकर-ग्रन्थे शुभ-सम्मतिः

श्रीवृन्दावनीय-श्रीरङ्गलक्ष्मी आदर्श-महाविद्यालयस्य भूतपूर्व-प्रधानाध्यापक-महोदयानां सा० वे० शास्त्रिणां व्याकरणाचार्याणां श्रीसीतारामशास्त्रिणाम्—

निरवधि धिषणा-समान्दोलित-शब्दशास्त्र-शास्त्रं शास्त्रिवनमालिदासमध्यध्ययनवेलमेवोरीकृत्य घटिकाशतकमित्यदसीय-कविताकटं प्राचीकटम् । स एष पुण्यश्लोकमुपश्लोकयिषाऽऽशया 'सख्य-सुधाकर'-नामानं ग्रन्थं जग्रन्थ । प्राचीकशच्चैनं सख्याख्यम् । भगवदुपासनोन्मुखीभवदनुगुण-घण्टापथाऽध्वनीनानां सुधाकरः सुधाकर इव नानारसिकजनानां चेतांसि चन्द्रिकयाऽनया चिरं चमच्चरीकरीतीति समुपोढद्रढिमानं पर्यवव्रढत् ।

अद्य श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-'सख्य-सुधाकर'-भणितिं समवलोक्य तदीय-परिश्रमं दर्शं दर्शं दिव्य-काव्य-प्रणयन-प्रणालीधारामवगाहमवगाहमतिसंतुष्टमनसा एतद्-ग्रन्थसारपुञ्जस्य सर्वोपकारक्षमतया समतया सर्व-वेद-वेदान्तशास्त्र-सिद्धान्त-सम्मततया, रसिकविद्वज्जन-कदम्ब-प्रशंसनीयतया च एतद्-ग्रन्थ-प्रणेता धन्यवादास्पदार्हो ग्रन्थश्चाऽयं भक्तिरस-लोलुपैर्भावुकैः सहर्षमुपादेय इति मया सम्मन्यते ।

अथ च एष विद्वज्जनो महाकाव्य-प्रणयन-प्रणाली-प्रतिभात-प्रतिभातया "महाकविः स विज्ञेयो यो महाकाव्यकृद् भवेत्" इति लक्षण-लक्षिततया च विस्फुरन् 'महाकविः' इति पदेन अलंकरणीय इति सप्रमाणं संघुष्यते ।

सम्मतिदः

दि० ६।७।१९५० ई० **श्रीसीतारामशास्त्री**

पूज्यपाद श्रीकृष्ण के सखा श्रीग्वारिया बाबा जी महाराज के

सदुपदेश

**दोहा–कबहू तो थोरो भजन, कबहू होत विशाल।
मन धीरज छाँड़े नहीं, गहै न दूजी चाल ।।**

प्रायः श्रीयमुना के किनारे ही डोलनो। कोई व्यवहार की बात कहै वाको न सुननो। जिस बात के सुनने से क्रोध आवै, वा बात को सुननो ही नहीं, बहिरे बनि जानो।

साधुपने को अभिमान न आवन पावै, जब विचारनो तब यही विचारनो कि, मैं, सब से बुरौ हूँ, मोसूँ तो जीवमात्र अच्छे हैं। अयोध्याजी में, मैंने, श्रीरघुनाथदासजी को दर्शन कियो हो, वे सब को एक दृष्टि से देखते रहे, श्वपच को भी सत्कार करते हे।

श्रीवृन्दावन में परचो रहनो हू भजन है, फिर भी और ठौर सों श्रीवृन्दावन बहुत अच्छो है, जो काहू सों कछु वास्ता न राखै तो, जो प्रपञ्च में परोगे तो बुरो है, कहीं रहो वहीं तपते रहोगे।

साबास रे दम्भ !

पर बिना रोटी के हे दम्भ ! तुम्हारे हू देवता कूंच होय हैं, जो कुछ तत्त्व है सो रोटी में है। भांई दम्भ ! तुम्हारी वीरता में कुछ कसर नहीं है। बहुरूपिया ऐसे हो ! तुम्हैं बड़े-बड़े ज्ञाता भी नहीं पहिचान सकैं हैं; कदाचित् कोई पहिचान भी लेय है, तो वाको तुम प्यारे लगो हो। वह यही समझन लगै है कि, मैं अच्छोई करि रह्यो हूँ। जैसे मैं, अपने को ज्ञाता समझ के नोटिस पर नोटिस छपाय रह्यो हूँ।

तुम्हारी कृपा को धर्म

बड़ाई प्रिय लगै है, निन्दा बुरी लगै है। अतः हे मन ! दम्भ महाराज की लीला देखि, अब हू प्रिय यार के गुणन को सब सूँ तटस्थ ह्वै के निरन्तर गान करो; याही में तिहारो भलो है। दम्भ सूँ सहज ही पीछो छूटि जायगो। भटकने में केवल दुःख ही दुःख है, अभिमान को सिरपर चढ़ावनो है। प्रपञ्च के बीच में रह के भी तटस्थ रहो; हाय हाय मत करो काहू में दोष मत देखो।

**दम्भ के संग खेलवे वारो
ग्वारिया**

श्रीमते मध्वाचार्याय नमः

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम्

❀ श्रीवनमालिप्रार्थना-शतकम्

❀ श्रीराधारमण-शतकम्

❀ श्रीभक्तनाम-मालिका

❀ अनेकविध-स्तोत्राणि च

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम् ॥

(वाल्मीकीय रा० ६।१८।३)

मित्रभाव से मो शरणि, आवै जो नर कोय ।
त्यागूँ नहिं कौनिहु दशा, दोषवन्त हू होय ॥

रचयिता—

श्रीवनमालिदासशास्त्री

॥ सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम् ॥

श्रीगुरुदेवाय नमः

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम्

श्रीमन्माध्वगौडेश्वरौ विजयेतेतमाम्

श्रीवनमालिप्रार्थनाशतकम्

निखिलशास्त्रपारावारपारदृश्व-सख्याऽवताराष्टोत्तरशत-स्वामि
श्रीकृष्णानन्ददासजीमहाराज-शिष्येण श्रीगोपालचम्पू-
श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू-श्रीपद्यावली-श्रीभक्ति-
ग्रन्थमाला-श्रीस्तवरत्ननिधि-प्रभृतिप्राचीन-
ग्रन्थानां टीकाकारेण काव्यवेदान्त-
तीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना
श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा
प्रणीतम्।

तेनैवाऽनूदितं संशोधितं प्रकाशितं च

॥ सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम् ॥

भूमिका

श्रीहरिपदारविन्दद्वन्द्वमकरन्दरसपानलोलुप—

भ्रमरवर-सज्जनों को यह सुनकर परम हर्ष होगा कि, एक कविरूप माली, भावरूप वाटिका से विविध छन्द एवं अभिलाषरूप पुष्पों को चुनकर "श्रीवनमालिप्रार्थनाशतक"-नामक एक पुष्पस्तवक बनाकर उनकी सेवार्थ लाया है। वे सज्जनरूप भ्रमर, उसका प्रेमरूप मकरन्दरस पानकर, प्रेमोन्मत्त होकर भावपूर्वक जब गायन करेंगे, तब, प्रेमपुजारी भगवान् श्रीवृन्दावनविहारी मुरलीधारी स्वजन-दुःखापहारी शीघ्र ही दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे।

अस्मत्कर्तृक-एक-"श्रीसख्य-सुधाकरः" नामक ग्रन्थ वि० सं० २००७ में मुद्रित हो चुका था। इस वर्ष भी दुबारा प्रकाशिन हुआ है। वह भी एक सख्यभावप्रधान प्रार्थनामय ग्रन्थ है; यह ग्रन्थ भी, सख्यसुधाकर सुधा-पानार्थ अमृत-चषक (पानपात्र) ही है। मैंने, श्रीसख्यसुधाकर की भूमिका में लिखा था कि, मेरे भावोद्गार, पूर्णतया सब इस ग्रन्थ में नहीं आ पाये हैं, यदि शरीर बना रहा और मेरे सखा ने मेरी बुद्धि, ऐसी ही रक्खी तो, द्वितीयावृत्ति में प्रकाशित करने की चेष्टा करूँगा। सो यह 'प्रार्थनाशतक' मेरे सनातन सखा श्रीहरि की ही अहैतुकी कृपा का फल है, 'श्रीसख्य-सुधाकरः' का परिशिष्ट भाग ही समझिये। आगे भी मेरे सखा की यदि ऐसी ही कृपा बनी रही तो मुझ से कुछ न कुछ लिखवाते ही रहेंगे; क्योंकि, मेरी तो वास्तविक दशा यह है कि—

कबित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहों लिखि कागद कोरे॥

गुरुवर दया के सागर, इतनी दया तो करदो॥टेक॥
सूखा हुआ है मुखड़ा, टुक हर्ष दिल में भरदो॥१॥
निज कर्म दोष से हम, बिछुड़े हुये हैं तुम से।
ये कर्म हमारे प्रभुजी, श्रीकृष्ण ओर करदो॥२॥
मन है हमारा चंचल, पापों से प्रेम करता।
मम प्रेम कृष्ण सन्मुख, अब जन्म-जन्म करदो॥३॥
तुम से बना के गुरुवर, यदि मैं रहाया जग में।
तो विरद नाम अपना, "हरिप्रेष्ठ" दूर करदो॥४॥

इति निवेदयति—

श्रीकृष्णानन्द स्वर्गाश्रम विनीतो—
रेलवे फाटक के पास, श्रीवृन्दावन **वनमालिदासः**

श्रीमन्माध्व-गौडेश्वर-सम्प्रदाय-प्रचारक–

'श्रीगोपालचम्पू' 'श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू' 'श्रीपद्यावली' 'श्रीभक्तिग्रन्थमाला' 'श्रीस्तवरत्ननिधि' आदि अनेक ग्रन्थों के टीकाकार एवं 'श्रीकृष्णानन्द-महाकाव्य' 'श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य' 'श्रीसख्य-सुधाकर' 'श्रीभक्तनाम-मालिका' 'श्रीवनमालिप्रार्थना-शतक' 'श्रीराधारमण-शतक' आदि अनेक ग्रन्थों

के रचियता–

सख्य-रस उपासक—

महाकवि श्रीवनमालिदासशास्त्री जी महाराज (वृन्दावन)

श्रीगुरुदेवाय नमः

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम्

श्रीमन्माध्वगौडेश्वरौ विजयेतेतमाम्

श्रीवनमालिप्रार्थनाशतकम्

उपगीति-वृत्तमेतत्—

वनमालिप्राथनायाः, शतकं वनमालिदासेन ।
क्रियते तद् वनमालिन् !, वनमालेवाऽऽत्मसात्क्रियताम् ।।१।।

देवभाषानभिज्ञैस्तु दुर्ज्ञेयं शतकं त्विदम् ।
इति मत्वा मूलकर्त्रा हिन्दीभाषाऽपि लिख्यते ।।

हे श्रीमन् ! सखे ! वनमालिन् ! यह "श्रीवनमालिप्रार्थनाशतक"-नाम का जो शतक "वनमालिदास"-नामक आपके ही सखा बना रहे हैं, उसको आप, वनमाला की तरह सहर्ष स्वीकार कर लीजिये ।।१।।

सख्यसंवलितज्ञानभक्तिदं स्वगुरुं स्तौति आर्या-छन्दसा—

यस्य कृपालवशक्त्या, शक्तः शतकं त्वहं विनिर्मातुम् ।
स जयति गुरुदेवो मे, श्रीकृष्णानन्ददासाख्यः ।।२।।

सख्यभाव से युक्त ज्ञान एवं भक्ति के प्रदाता, अपने श्रीसद्गुरुदेव की स्तुति करते हैं कि, जिनकी कृपा के लेशमात्र से अल्पबुद्धिवाला भी मैं, शतक बनाने को समर्थ हुआ हूँ, उन्हीं "निखिल-शास्त्रपारावारपार-दृश्वसख्यावताराष्टोत्तरशत-स्वामि श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज" मेरे श्रीगुरुदेवजू की जय हो ।।२।।

स्वेष्टदेवसहितान् स्वसम्प्रदायाचार्यान् स्तौति अनुष्टुब्वृत्तेन—

सखायौ रामकृष्णौ मे जयतः स्म निरन्तरम् ।
जयन्ति मध्वगौराङ्ग-नित्यानन्दा जगद्धिताः ।।३।।

अपने इष्टदेव के सहित स्वसम्प्रदायाचार्यों की स्तुति करते हैं— मेरे प्राणप्रिय सनातन सखा श्रीकृष्ण-बलदेव की सदा जय हो । और जगत्

का परमहित करने के लिये तथा श्रीब्रह्मसम्प्रदाय का प्रचार करने के लिये ही निज का भूमण्डल पर अवतार हुआ, ऐसे-दिव्य पावनावतार-आचार्यवर्य "श्रीमध्वाचार्यजी" महाराज की जय हो। पाखण्ड-परायण वंगदेश की हिंसात्मक प्रवृत्ति को दूर करने के लिये श्रीकृष्ण-बलदेव ने ही जिनके रूप में अवतार लिया, ऐसे करुणावरुणालय श्रीगौराङ्ग महाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द महाप्रभु की जय हो ।।३।।

वाणीविनायकौ स्तौति आर्यावृत्तेन सादरम्—

सा जयति श्रीवाणी, भक्तिग्रन्थेषु मोदमाना या।
स जयति गणाधिराजो, विघ्नान् हन्तुं समर्थो यः ।।४।।

अब आर्यावृत्त से, आदरपूर्वक, श्रीवाणी विनायक की स्तुति करते हैं—उन श्रीसरस्वतीदेवी की जय हो जो कि, भक्ति-प्रतिपादक ग्रन्थों में ही प्रसन्न रहती हैं, अर्थात् कवि के द्वारा आह्वान करनेपर ब्रह्मलोक से पृथ्वीतलपर शीघ्रता से आते समय श्रीसरस्वतीदेवी को जो मार्ग का श्रम होता है वह क्या भगवद्गुण, नाम, रूप, लीलामय-सुधासरोवर में स्नान कराये बिना थोड़े ही दूर होता है? अतः सरस्वतीदेवी का आह्वान करके तो, भगद्विषयक कविता ही बनानी चाहिये, वही उनकी प्रसन्नता की हेतु है, अन्यथा तो श्रीसरस्वतीजी पश्चात्ताप ही करती हैं कि, इस मूर्ख ने मुझको व्यर्थ ही कष्ट दिया कि, उत्तमश्लोक भगवान् के यश को त्यागकर प्राकृत पुरुष का गुणगान करता है। और जो सम्पूर्ण विघ्नों को दूर करने में परम समर्थ हैं, ऐसे श्रीगणेशजी महाराज की जय हो ।।४।।

विद्यागुरूनभिनन्दति अनुष्टुभा—

जयन्ति विद्यागुरवो, येभ्यो विद्यां समध्यगाम्।
यद्दत्तविद्याविभवै-र्ग्रन्थान् प्राचीकटं बहून् ।।५।।

अब विद्यागुरुओं का अभिनन्दन करते है—यथा—जिनकी कृपा से मुझको व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदान्तादि शास्त्रों का लाभ हुआ, उन मेरे श्रीविद्यागुरुओं की जय हो। जिनमें से कतिपयों के नाम इस प्रकार हैं— पं० श्रीराधेश्यामजी शास्त्री (भरतपुर) पं० श्रीजगन्नाथजी शास्त्री (अयोध्या) पं० गोस्वामी श्रीरासविहारीजी शास्त्री (वृन्दावन) पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री (वृन्दावन) जिनकी दी हुई विद्या के वैभव से मैंने, बहुत से ग्रन्थ प्रगट किये हैं। कतिपयों से नाम इस प्रकार हैं—१. "श्रीकृष्णानन्द महाकाव्य" श्लोक संख्या ८००। २. "श्रीराधारमण-शतक" श्लोक सं० १२०।

३. "श्रीभक्तनाम-मालिका" श्लोक सं० १३१। ४. "श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य" श्लोक सं० २०००। ५. "सख्य-सुधाकर" श्लोक सं० २०८। ६. "श्रीवन-मालिप्रार्थनाशतक" श्लोक सं० १३१। ७. "श्रीगुरुदेवस्मरणाष्टक"। ८. "श्रीरामकृष्ण-प्रातःस्मरण-स्तोत्र"। ९. दो श्लोक में श्रीचैतन्यलीलामृत"। १०. "श्रीराधिकास्तोत्र"। ११. श्रीवृन्दावनाष्टक"। १२. "श्रीगोवर्धनाष्टक" १३. श्रीरामकृष्णस्तोत्र"। १४. "श्रीयमुनाष्टक"। १५. श्रीरामभद्र-दशक"। १६. "श्रीविश्वनाथ-पंचक"। १७. "श्रीसत्यनारायणाष्टक"। १८. शास्त्रि-श्रीअमोलकरामाष्टक"। १९. "श्रीअनन्तदासाष्ट"। २०. श्रीराधाकृष्णाष्टक"। २१. "श्रीसागरधर्मपत्न्यष्टक"। २२. "वरवध्वोराशीर्वादात्मक-शुभसन्देश-त्रयम्"। २३. "अभिनन्दनपत्रम्"। २४. "भक्तिरसामृतसिन्धुविन्दु-टीका"। २५. "भागवतामृतकणिका-टीका"। २६. "माधुर्यकादम्बिनी-टीका"। २७. "वृन्दावनशतक-त्रयपर टीका"। २८. "श्रीगोपालचम्पू-टीका"। २९. "श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू-टीका"। ३०. "श्रीपद्यावली-टीका"। ३१. "श्रीस्तवरत्ननिधि-टीका"।

प्रार्थनाशतकनिर्माणप्रयोजनमाह श्रीमत्कृपयैव च—

कविता-स्फूर्तिमेतु इति चाह—आर्याचतुष्केण—

भवति न भवतो ध्यानं, भगवन् ! मनसो ममाऽनवस्थानात् ।
उदेतु कविता-सविता, कृपया जिह्वोदयाद्रौ मे ।।६।।

सरस्वती तव कृपया, विरिंचिहृदये यथैव प्रादुरभूत् ।
प्रादुर्भवतु तथा मे, चिकीर्षोस्ते प्रार्थनाशतकम् ।।७।।

कृपां विना तव माधव !, नाहं लेखितुमीशो नु पादमपि ।
अतः स्वयं ननु मत्तो, लेखय रुचिराणि पद्यानि ।।८।।

कविता यद्यपि ललिता, स्फुरति न हृदये मुकुन्द ! मे मलिने ।
तदपि हृदि प्रेरणया, स्फोरयसि यथा लिखामि तथा ।।९।।

अब प्रार्थना-शतक के निर्माण का प्रयोजन कहते हैं और कविता स्फूर्ति भी आप की कृपा से ही हो जाय। यथा—हे भगवन् ! श्रीकृष्णचन्द्र ! मेरे मन के अत्यन्त चञ्चल होने के कारण, आपके श्रीचरणों का ध्यान तो बनता नहीं है, अतः आपकी अहैतुकी अनुकम्पा से, मेरी जिह्वारूपी उदयाचलपर, आपकी प्रार्थनामयी कवितारूप सविता (सूर्य) ही उदय हो जाय तो बहुत ही अच्छा हो; क्योंकि, कविता बनाने में मनकी वृत्ति स्वतः आप में स्थिर हो जाती है। और सृष्टि के आदिकाल में, आपकी कृपा से

ही, जैसे श्रीब्रह्माजी के हृदय प्राङ्गण में श्रीसरस्वतीदेवी का प्रादुर्भाव हुआ था, उसी प्रकार आपके 'प्रार्थनाशतक' बनाने की इच्छावाले मेरे हृदय में भी, शारदा का प्रादुर्भाव हो जाना चाहिये। हे माधव! आपकी कृपा के बिना तो मैं, श्लोक का एक चरण भी लिखने में समर्थ नहीं हूँ' अतः आप स्वयं ही मुझ से मनोहर मनोहर पद्य लिखवाइये; और हे मुकुन्द! यद्यपि अनादिकाल से अतिशय मलिन मेरे हृदय में, सुन्दर कविता की स्फूर्ति तो होती नहीं है, तथापि अन्तर्यामीरूपेण हृदय में विराजमान आप, जैसी स्फूर्ति करेंगे तैसी ही कविता लिखूँगा॥ अत्रार्थे प्रमाणं तु "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (पा० सू० ३।३।१३१) इति बोध्यम्॥६-९॥

वनमालिनं प्रथमं प्रार्थयते शार्दूलविक्रीडितेन—

जिह्वा मे तव नामकीर्तनमलं नेत्रद्वयं दर्शनं
कुर्यादङ्घ्रियुगं परिक्रमणकं हस्तद्वयं प्रार्चनम्।
चेतोऽङ्घ्रिस्मरणं यशःश्रवणकं कर्णौ च कं वन्दनं
राधावल्लभ! पादपल्लवतले ते यातु मे जीवनम्॥१०॥

हे भगवन्! मेरी तो आपके श्रीचरणों में, यही प्रार्थना है कि— मेरी जिह्वा तो निरन्तर आपका नाम संकीर्तन किया करे, और दोनों नेत्र दर्शन किया करें तथा चरणयुगल आपकी परिक्रमा किया करें, एवं दोनों हाथ, आपका पूजन किया करें और चित्त आपके चारुचरणारविन्दों का स्मरण किया करै और मेरे दोनों कान, आपका विमल यश श्रवण किया करें एवं मस्तक वन्दन किया करे। हे श्रीराधावल्लभ! मेरा जीवन तो आपके श्रीपादपल्लवतल में ही व्यतीत हो जाय॥१०॥

मालिनी-वृत्तमेतत्—

जनुरिदमपि धीमन्! निष्फलं मे प्रयाति
तव पदयुगयोर्हाऽदर्शनाद् दर्शनीय!।
सपदि सफलय त्वं दर्शनादात्मनो हे
प्रणतसुखद! कृष्ण! प्राणनिर्मञ्छनीय!॥११॥

हे धीमन्! हे दर्शनीय! आपके पदयुगल के बिना देखे तो मेरा यह जन्म भी निष्फल ही व्यतीत हो रहा है,—अतः हे शरणागतों को सुख देनेवाले! प्राणन्योछावर करने योग्य! श्रीकृष्ण! अपने श्रीदर्शन से आप ही शीघ्र सफल कीजिये॥११॥

इत उपजाति-वृत्तत्रयम्—

निरर्थकं जन्मगतं मदीयं, मया न दृष्टो हृदये मुरारिः।
अहो मुरारे ! मधुकैटभारे !, स्वं दर्शयित्वा कुरु सार्थकं तत् ॥१२॥
असारसंसारसमुद्रमध्ये, तृष्णा-तरंगे खलु मोह-कूर्मे।
कामाह्वतद्वाडव-तप्यमानं, सखे ! सखायं सुखिनं कुरुष्व ॥१३॥

अहह ! मेरा, देवदुर्लभ यह मानुष जन्म भी व्यर्थ ही व्यतीत हो गया; क्योंकि, मैंने अपने हृदय में भी मुरारि भगवान् का दर्शन नहीं किया। अहो हे मुरारे ! हे मधुकैटभारे ! आप ही अपनी अहैतुकी कृपा से अपना दिव्य दर्शन देकर इसे सार्थक कर दीजिये ॥१२॥

और हे सखे ! तृष्णारूपी तरङ्गों से व्याप्त, एवं मोहरूपी कछुआओं से युक्त असार संसाररूपी सागर के बीच में, कामरूपी समुद्रीय वडवानल से अत्यन्त तप्त हो रहा हूँ अतः आप ही अपने मुखचन्द्र की सुशीतल-चन्द्रिका का प्रदानकर, मुझ सखा को सुखी कर दीजिये ॥१३॥

उपेन्द्रवज्रा-वृत्तद्वयमग्रिमम्—

दुःखे सखे ! त्वां सततं स्मरामः, सुखे तु मत्ता इव संभ्रमामः।
अतो न शान्ति क्षणमेव यामः, प्रपञ्चमञ्चे शयनं भजामः ॥१४॥

कुयोनिगर्ते चिरतः पतामः, कदापि नो नाम तवाऽऽलपामः।
तथा कृपादृष्टिभरेण पश्य, यथा पदाब्जं नु तवाऽऽश्रयामः ॥१५॥

हे सखे ! श्रीकृष्ण ! दुःख में तो हम आपका निरन्तर स्मरण करते हैं, परन्तु सुख में तो, मदमत्त की भाँति घूमते रहते हैं, अतः क्षणभर भी शान्ति का लाभ तो नहीं कर पाते, किन्तु प्रपञ्चरूपी मञ्चपर शयन करते रहते हैं ॥१४॥

आप से विमुखता के कारण ही अनादिकाल से कुयोनि गर्त में गिरते आ रहे हैं, और आपका शुभ एवं मङ्गलमय नाम तो कभी लेते ही नहीं हैं, अतः हे अकारण-करुणा-वरुणालय ! आप हमको उसी प्रकार स्नेहभरी कृपादृष्टि से देखिये कि, जिस तरह हम आपके चारु-चरणों का आश्रय ग्रहण करलें ॥१५॥

द्रुतविलम्बितमेतत्—

जगदिदं रमणार्थ-मथात्मनो, विरचितं भगवन् ! सहसा हरे !।
सुनटनं यदि न क्रियतेऽमुना, कथमितो न बहिः क्रियतेऽप्यसौ ॥१६॥

हे भगवान् ! यह जगत्, आपने अपने खेलने के लिये ही रङ्गमञ्च की तरह, अनायास ही बनाया है। अतः हे हरे ! मेरा तो आपसे यही विज्ञापन

है कि, यदि यह "वनमालिदास"-नामक नट, आपकी प्रसन्नता का उत्पादक नृत्य नहीं करता है तो, आप इसको अपनी चतुर्दशभुवनरूपी रङ्गशाला से शीघ्र ही बाहर क्यों नहीं कर देते, ऐसा करनेपर भी इसका परम हित ही हो जायगा। इस बात के रहस्य को आप जानो या ये जानै ॥१६॥

अग्रिमं पृथ्वीछन्दः—

कदापि न वयं तथा तव पदाब्जयुग्मं हरे !
स्मराम विषयान् यथा समनुभूतिमाप्ता हि ते।
अतः स्वसुखमाधुरीकणमपि क्षणं स्वादय
स्मरन्ति नहि केचन ह्यननुभूतमात्रं जनाः ॥१७॥

हे हरे ! हम प्रतिक्षण जिस प्रकार प्राकृत विषयों का स्मरण करते हैं, उस प्रकार आपके दोनों चरणारविन्दों का तो कभी भी स्मरण नहीं करते, कारण कि, उनका तो अनादिकाल से सम्यक् अनुभव हो चुका है, अतः हे प्राणप्रिय सखे ! अपनी सुख-स्वरूपमाधुरी के कण को भी क्षणभर चखा दीजिये, क्यों कि, यह बात अनुभव सिद्ध है कि, कोई भी जन, बिना अनुभव की हुई वस्तु का स्मरण नहीं करते हैं, अर्थात् आपके माधुर्य का अनुभव हो जाने के बाद, हम आपका निरन्तर स्मरण किया करेंगे, विषयों से स्वतः अरुचि हो जायगी; क्योंकि, अमृत से परितृप्त चित्त, चूके की खट्टी चटनी को थोड़े ही ढूँढ़ता है ॥१७॥

इयमपि पृथ्वी—

मनो मम दुरात्मतां त्यजति नो मुहुः शिक्षितं
त्वमेव खलु शिक्षय स्ववश-विश्व-शिक्षागुरो !।
भृशं रहसि रोदिमि प्रबलप्रार्थनापूर्वकं
तथापि न श्रृणोषि किं प्रणतसौख्यदायिन् ! हरे ! ॥१८॥

हे भगवन् ! बारम्बार शिक्षा देनेपर भी,मेरा मन, अपने दुरात्मापन को नहीं त्यागता है, अतः आप ही इसको शिक्षा दीजिये; क्योंकि, सम्पूर्ण विश्व आपके ही आधीन है, अतः आप ही सम्पूर्ण विश्व के शिक्षा गुरु हो ! मैं तो एकान्त में प्रबल-प्रार्थनापूर्वक बहुत रोता हूँ, तथापि, हे शरणागतों को सुख देनेवाले हरे ! आप न जाने मेरी प्रार्थना क्यों नहीं सुनते ? ॥१८॥

मन्दाक्रान्ता-वृत्तमेतत्—

निद्रां प्राप्तः किमु किमथवा वृद्धतां त्वं गतोऽसि
कार्यग्रस्तः किमु किमथवा निर्दयत्वं गतोऽसि।

नो चेद् भ्रातः ! कथमिह न मां मायया पीड्यमानं
हा श्रीकृष्ण ! व्रजपतनय ! त्रायसे स्वं सखायम् ॥१९॥

क्या आप घोर निद्रा में सो गये हो ? अथवा बृद्ध हो गये हो ? और क्या किसी विशेष कार्यान्तिर में उलझ गये हो ? अथवा निर्दयता ही धारण कर ली है क्या ? हे सखे श्रीकृष्ण ! हे व्रजराजकुमार ! यदि ऐसा नहीं है तो, माया से परम-पीड़ित मुझ अपने सखा की रक्षा क्यों नहीं करते ? ॥१९

शिखरिणी-विभातीयं शिखरिणीसमा—

त्वदीया माया मां दमयति सखायं तव सखे !
कुतो रक्षामस्याः सपदि मम सख्युर्न कुरुषे ।
इयं त्वत्तो लज्जां व्रजति व्रजिताऽपीक्षणपथात्
त्वया त्वागन्तव्यं परमिह हि मे लोचनपथम् ॥२०॥

हे सखे ! आपकी अतिशय प्रबल माया, आपके ही सखा मुझको पीड़ित कर रही है, सो आप, मुझ अपने सखा की इस से शीघ्र रक्षा क्यों नहीं करते ? और हे सखे ! आपको तो इससे रक्षा करने में तनिक भी परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि, यह, आप से तो नवोढा की तरह लज्जित हो जाती है और आपके नेत्रों के सामने तो यह, देखते ही भाग जायगी; अतः आपको तो केवल मेरे नेत्रों के सामने आ जाना चाहिये ॥२०॥

एतदनुष्टुप् छन्दः—

प्रार्थनाकरणं धर्मः सखे ! मम तु वर्तते ।
तत्स्वीकरणमात्रं ते वर्तते नहि किं वद ॥२१॥

हे सखे ! मेरा तो आपके श्रीचरणों में प्रार्थना करने का ही धर्म है, अब आप ही कहिये क्या उस प्रार्थना को स्वीकार करना मात्र भी आपका धर्म नहीं है ? यदि है तो, शीघ्र ही रक्षा कीजिये ॥२१॥

आर्यप्रियेयमार्या—

सखिजन-जनित-सुखाब्धे !, बलबलवत्प्रेम-कनिष्ठता-निष्ठ ! ।
व्रजपा-व्रजप-सुखाय, कृत-बहुलीलोद्धरारं माम् ॥२२॥

हे सखे ! आपने अपने सखाओं के लिये सुख का समुद्र उत्पन्न कर दिया, और बलदेवजी के प्रति जो आपका प्रगाढ़ प्रेम है, उसी के कारण आपकी उनके छोटे भाई होने में निष्ठा है और हे यशोदा और नन्दजी के सुख के लिये अनेकों लीला करनेवाले भगवन् ! मेरा शीघ्र ही उद्धार कीजिये ॥२२॥

पृथ्वीसौख्यदायिनीयं पृथ्वी—

मनोरथ-पथातिगं दुरभिसन्धियुक्तात्मनां
सदाशययुजां सदा हृदि समर्पितं सादरम् ।
तथा कुरु कृपां हरे ! फणिफणार्पितं यत्पुरा
यथा तव पदाम्बुजं नयनमूलमायाति नः ।।२३।।

हे हरे ! बुरे अभिप्राय से युक्त मनवालों के तो जो मनोरथ पथ से भी अत्यन्त दूर है, और अच्छे अभिप्राय से युक्त जनों के हृदय में, जो सदैव से सादर समर्पित है एवं जो पहले कालियनाग के फणोंपर ताण्डव नृत्यपूर्वक अर्पित हो चुका है, वही चरणारविन्द, जिसप्रकार हमारे नेत्रों के सामने आवै उसी प्रकार कृपा कीजिये ।।२३।।

श्रेष्ठजातिरियमुपजातिः—

मम त्वभीष्टं वरमेतदेव, सखे ! सगोभिः सखिभिः समेतः ।
सराम आगत्य ममाक्षिमार्गे, मां संपरिष्वज्य कृतार्थय त्वम् ।।२४।।

हे सखे ! मेरा तो यही अभीष्टवर है कि, आप गैया ग्वाल-बाल और श्रीबलदेवजी के सहित, मेरे नेत्ररूपी मार्ग में आकर, मुझको गाढ़ालिङ्गन प्रदानकर कृतार्थ कर दीजिये ।।२४।।

मार्मिकमेतदनुष्टुप्-छन्दः—

गाढालिङ्गनदानेऽपि समर्थो नासि चेत्तदा ।
विहाय सर्वेश्वरतां दुर्बलाख्यां सखे ! भज ।।२५।।

यदि आप गाढ़ालिङ्गन प्रदान करने में भी असमर्थ हो तो हे सखे ! सर्वेश्वरता को त्यागकर, अपना नाम दुर्बल रख लीजिये । दर्शन के लोभी सखा की यह प्रणयोक्ति है, यही तात्पर्य है ।।२५।।

द्रुतविलम्बित-वृत्तम्—

अनवलोक्य कृपां मयि ते जना, उपहसन्ति मुधा कवयत्यसौ ।
यदि नृणामुपहासरुजां क्षतिं, लषसि देहि तु दृष्टिमहौषधम् ।।२६।।

हे माधव ! आपकी कृपा का लेश भी मेरे ऊपर न देखकर, लोग मेरी हँसी करते हैं कि, यह तो केवल वृथा कविता ही करता रहता है, अतः आप, यदि इन लोगों के उपहासरूपी रोग को नष्ट करना चाहते हैं तो, शीघ्र ही मुझे स्वदर्शनरूप-महौषध का दान दीजिये ।।२६।।

अनुष्टुभा पुनरप्यर्थयते—

सर्वाकर्षक आनन्दो नामशब्दार्थ एव ते ।
सखायं स्वमपि भ्रातः ! कथं मां नैव कर्षसि ।।२७।।

हे भ्रातः !—"सबको खींचनेवाला आनन्द" यही तो आपके श्रीकृष्ण नाम का शब्दार्थ है, तथापि न जाने मुझ अपने सखा को भी आप अपनी ओर क्यों नहीं खींचते हैं ? ॥२७॥

आर्यायुगलमेतत्—

स्मृतिशक्तिर्मम विषयान्, नरकपातहेतूनपि विचिन्तयति।
तत्राऽहं किमु करवै, नरकारे ! शीघ्रमादिश मे ॥२८॥
स्मृतिशक्तिस्त्वदधीना, मत्तः स्मृतिरिति तवैव वचनेन।
कथमत आत्मपदाब्जं, स्मृतिस्वामिन् ! नैव स्मारयसि ॥२९॥

हे भगवान् ! मेरी स्मृति शक्ति तो, नरक पात के हेतुभूत विषयों का ही चिन्तन करती रहती है। हे नरकारे ! इस विषय में मैं, क्या करूँ ? सो आप शीघ्र ही आदेश दीजिये ॥२८॥ और हे सखे ! "मत्तः स्मृतिर्ज्ञान-मपोहनं च" (गीता १५।१५) इस आपके श्रीमुखवचन प्रमाण से सब की स्मृतिशक्ति तो, आपके ही अधीन है, अतः हे स्मृतिस्वामिन् ! आप अपने श्रीचरणारविन्दों का स्मरण क्यों नहीं कराते ? ॥२९॥

प्रथममुपगीतिवृत्तमग्रे आर्याद्वयं ज्ञेयम्—

प्रतिदिनविषयध्यानात्, सङ्गस्तेषूपजातो मे।
सङ्गात्कामः कामात्, क्रोधो जातो बलीयान् भोः ! ॥३०॥
क्रोधादपि सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतेर्विभ्रमो जातः।
स्मृतिभ्रंशाद् धीनाशः, प्रज्ञानाशात् प्रणष्टोऽहम् ॥३१॥
रागद्वेषवियुक्तै-,रात्मवश्यैः करणै-र्विधेयात्मा।
कृष्ण ! तथा कुरु करुणां, यथा प्रसादमधिगच्छेयम् ॥३२॥

हे भपवन् ! मेरी दशा तो यह है कि—प्रतिदिन विषयों के अनवरत ध्यान करने से, मेरी उन में आसक्ति हो गई है, आसक्ति से काम और काम की पूर्ति न होने से बड़ा भारी क्रोध उत्पन्न हो गया है ॥३०॥ क्रोध से सम्मोह और सम्पोह से स्मृति का विभ्रम हो गया है, स्मृति के भ्रंश हो जाने से बुद्धि भी नष्ट हो गई है और बुद्धि के नष्ट हो जाने से तो मैं, अपने वास्तविक स्वार्थ से नष्ट हो गया हूँ ॥३१॥ हे कृष्णचन्द्र ! अब तो ऐसी कृपा कीजिये कि, जिससे, रागद्वेष से विमुक्त स्ववशवर्ती इन्द्रियों के द्वारा, मेरा मन मेरे वश में हो जाय, और निर्मल हो जाय, -और मैं, आप की प्रसन्नता का लाभ कर लूँ ॥३२॥

यस्य यादृशी व्रतसाधना तेन तादृशमेव फलं लब्धमित्याह कुलकेन श्लोक-पंचकेऽन्वयात्, तत्र प्रथमं शिखरिणीद्वयं तदनु ह्येका उपजातिः पश्चाच्छार्दूलविक्रीडितं द्रुतविलम्बितं च तथाहि—

पदेनैकेनैव स्थितमिह जले साधु भवति
हसित्वा वृष्टिं चाऽऽतपमपि च शीतं च सहते ।
तदा प्रेष्ठस्येदं पदनयनहस्ताऽऽननमुखैः
शुभैरङ्गैः सार्धं कमलमुपमानं च लभते ।।३३।।

अयं चन्द्रः पूर्वं निवसति सदा शून्यसदने
तथा राहुग्रास-प्रमुखबहुकष्टं च सहते ।
तदा प्रेष्ठस्य भ्रू नखरयुगसाम्यं ह्यनुभवन्
नवः पूर्णो भूत्वा प्रियवदनसाम्यं च लभते ।।३४।।

उभाविमौ यद्यपि कंजचन्द्रौ, सौन्दर्यद्रव्येण च द्रव्यवन्तौ ।
तथापि मे नैव प्रियाननस्य, शोभात आधिक्यदशां प्रयातौ ।।३५।।

श्यामस्याऽस्य हि वारिदस्य विपुला भोः साधनापद्धति-
र्येनाऽयं सहते पुरा प्रियबियोगाग्निं महान्तं मुदा ।
नैवाऽस्मै खलु रोचते त्वमहमित्याकारभेद-प्रथा
भूत्वा प्रेष्ठमयः समग्र उदितो विज्ञैर्घनश्यामलः ।।३६।।

इति विचारपरा खलु राधिका, कथयति स्वपतेर्विरहाकुला ।
अधिगतं खलु तेन हि तादृशं, व्रतमिहाचरितं खलु यादृशम् ।।३७।।

जिसकी जैसी व्रत साधना उसने उतना ही फल प्राप्त कर लिया इसी बात को श्रीराधिकाजो के वचन द्वारा कहते हैं ।

टीका पद्यमयी यथा—

एक पैर से खड़ा सदा जल में है रहता,
आतप वर्षा शीत सभी हँसकर है सहता ।
तब प्रिय का पदपद्म पुनः करकंज कहाता,
बनकर नीरज नयन अम्बुजानन छवि पाता ।।३३।।

शून्य सदन के बीच सदा ही है यह रहता,
राहुग्रास का विपुल त्रासमय संकट सहता ।
तब प्रिय के नख भ्रू से नव शशि उपमा पाता,
पूर्णचन्द्र हो फिर मुख का है साम्य कहाता ।।३४।।

दोनों ही हैं रंग रूप के धनी कहाते ।
पर न अधिक प्रिय-आनन की छवि से बढ़ पाते ।।३५।।

पर इस काले बादल की साधना बड़ी है,
प्रिय-वियोग की झेली इसने आँच कड़ी है ।

'मैं', 'तू', का कब भेद भाव है इसको भाता,
प्रियतम मय हो यह समग्र घनश्याम कहाता ।।३६।।
सोच रही थी यही विरह से व्याकुल राधा ।
उसे मिला उतना जिसने जितना व्रत साधा ।।३७।।

प्रेमकलहो यथा श्लोक-चतुष्के तत्र प्रथमं शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं तदनु वसन्ततिलकावृत्तं पश्चान्मन्दाक्रान्ता-द्वयमिति ज्ञेयम्—

श्रेष्ठाश्रेष्ठविभेदमत्र न मनाग् जानामि हे माधव !
कालं तर्हि कियन्तमस्मृतिपथे विस्मारयिष्यस्यहो ।
पूजा-पाठ-तपो-जपादिकधनं ग्रन्थौ न मे वर्तते
पापस्यैव प्रपंचकेन नितरां प्राप्तासि पूर्णं हि माम् ।।३८।।
चिन्तां तथापि न करोमि प्रसन्न एव,
निर्वाहयिष्यसि न किं मम सर्ववोढा ।
सम्बन्धतः सजललोचनयोर्घनाभ !,
मां स्वीकरिष्यसि बलादसि चेत्पयोयुक् ।।३९।।
सर्पाहर्तुर्यदि शिरसि ते नो मयूरस्य पक्षः
स्या उद्धर्ता ननु यदुपते ! दीनपक्षस्य तर्हि ।
छिद्राऽऽधारा यदि न मुखयुक् स्याज्जडा वंशिका ते
छिद्रं तर्हि द्रुतमपहरेर्देशधर्मस्य कृष्ण ! ।।४०।।
वृद्धिं प्राप्तो यदि न वनमालाकृतो वन्यभावः
स्याद् भक्तास्ते मधुमथन ! हे नो म्रियेरन्ननन्याः ।
त्रातुं शक्तो भवति नहि निष्किञ्चनं कंजनाभो
नीचास्त्वां हि व्रजपसुत हे ! नोज्ज्वलं कुर्युरेते ।।४१।।

प्रेम-कलहो यथा भाषाटीका पद्यमय—

बुरे भले का न भेदभाव कुछ भी है ज्ञात,
कबतक हाय ! और भ्रम में भुलाओगे ।
जप तप पूजा पाठ की न पूँजी गाँठ में है,
पाप के प्रपंच से ही भरपूर पाओगे ।।३८।।
चिन्ता नहीं करता प्रसन्न रहता हूँ तो भी,
सब की निभाते क्या न मेरी ही निभाओगे ?
सजल दृगों के एक नाते से ही घनश्याम !
पानीवाले हो तो हाँ अवश्य अपनाओगे ।।३९।।

सर्पभक्षी मोरपक्षी का न पक्ष शिर होता,
तो अवश्य दीन दुखियों का पक्ष धरते।
छिद्रभरी जड़ बाँसुरी न मुँह होती लगी,
देश धर्म के तो छिद्र क्षण में ही हरते ॥४०॥
वनमाला ने न वन्य भावना बढ़ाई होती,
तो अनन्य आप के न अन्य हो के मरते।
कञ्जनाभ पीतपट जाने क्या अकिंचन को,
यहीं नीच तुम्हें कृष्ण ! उज्ज्वल न करते ॥४१॥

श्रीकृष्णदर्शनं प्रार्थयते तोटकेन—

व्रजराजकुमार ! सखे मम हे, त्वमुपैष्यसि कर्हि नु दृष्टिपथम् ।
जननी-जनक-व्रजवासिगते !, सबलः ससखः सहधेनुतते ! ॥४२॥

हे श्रीनन्द यशोदा प्रभृति व्रजवासियों की गति ! हे गोपाल ! हे सखे ! व्रजराजकुमार ! आप सम्पूर्ण सखामण्डल एवं श्रीबलदेवजी के सहित, मेरे नेत्रों के मार्ग में कब आवोगे ? ॥४२॥

शिखरिणी-वृत्तमेतत्—

निषादे सुग्रीवे दशमुखलघुभ्रातरि तथा
सुदाम्नि श्रीदाम्न्यर्जुन-सुबलयोर्मद्गुरुवरे ।
कृपा या सख्येन प्रकटमजनि प्राक् तव तु तां
कदा कर्तासि त्वं सुखिसुखद ! सख्यौ मयि सखे ! ॥४३॥

पूर्व पूर्व युगों में, सख्यभाव से, जो कृपा आपने मित्रवर्य निषादराज-पर, श्रीसुग्रीवजीपर, विभीषणजीपर, सुदामा, श्रीदामा, अर्जुन, सुबलादि सखाओंपर एवं मित्रभाव प्रचारार्थ आप ही के द्वारा भेजे हुए, सख्य रसावतारस्वरूप आपके मित्रवर्य मेरे श्रीगुरुदेवजीपर, साक्षात् प्रकट करके दिखाई थी, हे सखाओं को सुख देनेवाले सखे ! उसी मित्रभावान्विता कृपा को, मुझ सखापर कब प्रगट करोगे ? ॥४३॥

अनुष्टुब्वृत्तमेतच्चतुष्टयम्—

योग्यताविरहाद् भ्रातः ! कथं मयि दयिष्यसे ।
दयिष्दसेऽपि नितरां मित्रभावेन साम्प्रतम् ॥४४॥
मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यादितिवाचं प्रमाणयन् ॥४५॥
मित्रभावेन सम्प्राप्ते कृपां मयि कुरुष्व भोः ! ।
कुरुष्व वा स्ववाचं तां मृषामार्गावलम्बिनीम् ॥४६॥

दोषाढ्यमपि मां कृत्वा निजपादावलम्बिनम् ।
सखे ! शीघ्रं हि स्वां वाचं कुरु सत्यावलम्बिनीम् ।।४७।।

हे भ्रातः ! योग्यता से रहित मुझपर आप कैसे दया करेंगे ? हाँ मित्र-भाव से तो मुझपर यथेष्ट कृपा करोगे, यह मुझे विश्वास है क्योंकि, **"निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमागतिः"** (वा० रा० ४।८।८) इस प्रमाण से—अतः विभीषण शरणागति में कहे हुए—

"मित्रभाव से मो शरणि, आवै जो नर कोय ।
त्यागूं नहिं कौनिहू दशा, दोषवन्त हू होय ।।"

इन अपने ही वचनों को प्रमाणित करते हुए—मित्रभाव से आपकी शरणागति लेनेवाले मुझपर भी शीघ्र ही कृपा कर दजिये । अथवा पूर्वोक्त अपनी वाणी को मिथ्या-मार्गानुगामिनी कर दीजिये । हे सखे ! मेरा कहना तो यही है कि—मुझ दोषाकर को भी निजपदावलम्बी बनाकर शीघ्र ही अपनी वाणी को सत्यावलम्बिनी कर लीजिये ।।४४-४७।।

स्रग्धरा-वृत्तेन पुनरर्थयते—

भूलिङ्गो नाम पक्षी निगदति नितरां साहसं मा कुरुध्वं
हा पाषाणं भिनत्ति स्वयमिह तदपि व्याघ्रतुण्डाच्च मांसम् ।
तद्वत्पापं विनिन्दन्नपि नियतमहो पापमेव प्रकुर्वे
तस्मान्मौढ्याद् विषादं गतमिह कृपया कृष्ण ! मां रक्ष रक्ष ।।४८।।

पर्वतों में "भूलिङ्ग"-नामक एक पक्षी रहता है वह निरन्तर अपनी भाषा में यही कहता रहता है कि,—"साहस मत करौ" हाय ! हाय ! तथापि स्वयं पत्थरों को फोड़ता है और व्याघ्र के मुख से भी मांस को निकार ले जाता है, ठीक इसी प्रकार मैं भी परोपदेशाय पाप की निन्दा करता हुआ भी, निश्चितरूप से पाप ही करता हूँ । अतः हे श्रीकृष्ण ! मूढ़ता से परम दुःख को प्राप्त हुये मेरी, अपनी विश्वद्रीची कृपा से रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ।।४८।।

मन्दाक्रान्तया पुनरप्याक्रन्दति—

प्रायश्चित्तं सुकृतिनि जने स्वल्पपापे प्रयुक्तं
शीघ्रं शुद्धं विरचयति तं प्रोक्तमित्थं च विद्धिः ।
दोषाक्रान्तं परमकुमतिं गौरिव व्याघ्रभीतेः
क्षिप्रं दूरं तदपि मतिमन् ! मामुदीक्ष्याऽपयाति ।।४९।।

अर्थात् प्रायश्चितमपि मत्तो विभेति कथमतो मे समुद्धाराशा अतस्त्वमेव कृपया मां समुद्धरेति भावः ।

हे मतिमन् ! भगवन् ! प्रायश्चित्त के विषय में भी विद्वानों ने ऐसा कहा है कि,—यदि किसी पुण्यात्मा से भूल में कोई स्वल्प पाप बन जाय तो, तत्काल प्रयुक्त प्रायश्चित, उसको शीघ्र शुद्ध कर देता है, परन्तु दोषाक्रान्त परम कुमति मुझको देखकर तो वह प्रायश्चित्त भी इस प्रकार शीघ्र दूर भागता है कि—जिस प्रकार व्याघ्र के भय से गैया, अर्थात् प्रायश्चित भी मुझ से डरता है कि—इतने बड़े पापी को कैसे शुद्ध करूँ, अतः मेरे उद्धार की मुझे तो आशा भी नहीं है, अतः कृपा करके आप ही मेरा उद्धार कर दीजिये ॥४६॥

स्रग्धरा-छन्दसा पुनरर्थयते—

पूर्वं नाराधितोऽसि क्वचिदपि समये नाऽधुनाऽऽराधयामि
वाञ्छामि स्वस्य चेष्टं तदपि सुखद ! हे किन्न मे मूढतेयम् ।
दुर्बुद्धिं दुश्चरित्रं भवति च विमुखं मां यदि त्रायसे त्वं
तर्हि त्वेषा क्षमा ते जगति विजयते सर्वमेव क्षमं ते ॥५०॥

"हे सखिसुखद ! पहले जन्मों में तो मैंने, आपका आराधन कभी भी किया नहीं, अतः पूर्वानभ्यास के कारण अब भी आपका आराधन करता नहीं हूँ—तथापि अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहता हूँ" यह क्या मेरी कोरी मूढ़ता नहीं है ? अपितु है ही, अतः हे भगवन् ! दुर्बुद्धि, दुश्चरित एवं आप से विमुख मुझको यदि आप, संसार-सागर से बचा लोगे तो, आपकी यह क्षमा, सम्पूर्ण जगत में सर्वोत्कृष्टरूपेण विख्यात हो जायगी; आपको तो सब कुछ करना योग्य है ॥५०॥

दोधकपंचकेनाऽधुनार्थयते—

शत्रुगणोऽपि तवाऽन्तिकमागाद्, द्वेषणभावनया वरलाभाद् ।
सख्ययुतोऽपि कथं न सखा ते, पार्श्वमुपैमि गता प्रभुता ते ॥५१॥

मामपराधिनमीश्वर ! मत्वा, नैव दयां कुरुषे यदि नत्वा ।
त्वच्चरणाम्बुजमापदि हित्वा, कस्य पुरः परिरोदिमि गत्वा ॥५२॥

कोऽपि न देववरः प्रतिभाता, त्वां तु विना सुहृदां सुखदाता ।
तत् त्वमहो सुहृदं सहदोषं, स्वीकुरु वा कुरु मां गतदोषम् ॥५३॥

दोषविहीनजनं मनुषे स्वं, शेष्व तदा सुखमेव नु शेषे ।
कोऽपि न तादृगुपैष्यति दृष्टौ, हे शरणागतवत्सल ! सृष्टौ ॥५४॥

द्रक्ष्यसि मां कृपया यदि कृष्ण !, कालमहो गणये न महान्तम् ।
द्रक्ष्यसि नो कृपया यदि तर्हि, कालमयं तृणमेव नितान्तम् ॥५५॥

हे प्रभो ! आपकी गति बड़ी विचित्र है, क्योंकि, आपके शत्रुगण भी, शत्रुभावना से त्वदाकारमय वृत्ति के लाभरूप वर के लाभ से आपके पास पहुँच गये, परन्तु न जाने क्या कारण है कि, सख्य-भाव से युक्त तुम्हारा सखा भी मैं, आपके पास नहीं पहुँच रहा हूँ, क्या आपकी प्रभुता कहीं चली गई है ? ।।५१।। हे ईश्वर ! यदि मुझको अपराधी मानकर दया नहीं करते हो तो, आपके चरणारविन्दों में शिर झुकाकर एवं आपत्ति में उनको त्यागकर, किस देवान्तर के सामने जाकर रोऊँ ।।५२।। क्योंकि, मुझे तो आपके बिना, मित्रों को सुख देनेवाला कोई भी देव, श्रेष्ठ नहीं प्रतिभात होगा। इस कारण से हे सखे ! या तो दोष सहित मुझ मित्र को स्वीकार कर लो या दोष रहित ही बना दो ।।५३।। यदि आप दोषहीन जन को ही अपना मानते हो तो, दुपट्टा तानकर सुखपूर्वक शेषजी पर सो जाइये ? क्योंकि, हे शरणागतवत्सल ! आपकी त्रिगुणमयी सृष्टि में तो, ऐसा कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होगा ।।५४।। हे श्रीकृष्ण ! यदि आप मुझको कृपा भरी दृष्टि से एकबार भी देख लेंगे तो मैं, महान् काल को भी कुछ न गिनूँगा। यदि कृपा भरी नजर से नहीं देखोगे तो, तृण भी मेरे लिये नितांत (विशेष) कालमय हो जायगा ।।५५।।

तोटकवृत्तमेतत्—

अपराधयुतेऽपि मयि प्रसभं, तव सा करुणा करुणाजलधे ! ।
वलते बलतोऽपि यतो मम भो, रसना तव नामरसं पिबति ।।५६।।

हे अपार करुणावरुणालय ! आपकी लोक शास्त्र-प्रसिद्ध वह करुणा, अपराध से युक्त मुझपर भी, हठात् अपना प्रभाव दिखा रही है, कारण कि जिसके बल से मेरी रसना आपके नानामृत का पान कर रही है ।।५६।।

शिखरिणीयम्—

कृपालेशो यस्मिन नरि तव मनागस्ति न सखे !
कथंकारं सोऽयं तव जपतु वै नाम विमलम् ।
अतस्तृष्णाव्यालप्रबलविषजीर्णं सुविकलं
कृपादृष्ट्या तूर्णं ननु गरुडकेतो ! सुखय माम् ।।५७।।

हे सखे ! जिस मनुष्यपर आपकी कृपा का लेश नहीं है वह, आपके विमल मङ्गलमय नाम को किस प्रकार जप सकता है। अतः हे गरुड़ध्वज ! तृष्णारूपी सर्प के प्रबल विष से जीर्ण एवं महान् दुखी मुझ को, अपनी कृपादृष्टि से शीघ्र ही सुखी कर दीजिये ।।५७।।

प्रमाणिका-वृत्तम्—

न मित्रमात्रदोष-दर्शनं त्वया विधीयते।
तथाऽपि नो कथं सखे! स्वपार्श्वमेष नीयते ।।५८।।

हे सखे ! शास्त्रों में मैंने, आपके श्रीमुख के वचनों से ही सुना है कि, आप मित्रमात्र के दोषों को नहीं देखते हो, तथापि इस अपने जन को आप अपने पास क्यों नहीं ले जाते, क्या कारण है ? ।।५८।।

पंचचामर-वृत्तमेतत्—

अजातपक्ष-पक्षिणामिवाऽस्ति मे दशा सखे !
न कर्तुमत्र कार्यजातमल्पमेव पारये।
मनोरथेन पीडितोऽस्मि दर्शनाह्वयेन ते
तथापि नो ददासि दर्शनं कथं दयानिधे ! ।।५९।।

हे सखे ! मेरी दशा तो अजातपक्ष पक्षियों की-सी है, आप के कृपाबल के बिना तो, मैं अल्प भी कार्य नहीं कर सकता, परन्तु आपके 'दर्शन'-नामक मनोरथ से पीड़ित हूँ, तथापि हे दयानिधे ! आप दर्शन क्यों नहीं देते ? ।।५९।।

इतः स्रग्धरात्रितयम्—

सेवा नो मानसी ते श्रमधनरहिता जायते कृष्ण ! मत्तः
कुर्यां शारीरिकीं वा कथमिह भगवन्नालसोऽहं नितान्तम्।
चित्ते वाढं दुनोमि व्रजपतिसुतके हा मनो नैव लग्नं
लग्नं संसारमध्ये कथमिति भगवानुद्धरिष्यत्यहो माम् ।।६०।।

हे श्रीकृष्ण ! श्रम एवं धन से रहित सुलभता से हो जानेवाली आपकी मानसी सेवा भी, मुझ से नहीं होती है। तब शारीरिकी षोडशोपचारमयी आपकी पूजा, मैं, यहाँ कैसे करूँ ? क्योंकि, भगवान् ! मैं तो, अत्यन्त आलसी हूँ। चित्त में तो बहुत दुखी होता हूँ कि—हाय ! श्रीव्रजराजकुमार में मेरा मन नहीं लगा, संसार के बीच में तो खूब लगा हुआ है, अतः न जाने भगवान् मेरा कैसे उद्धार करेंगे ? ।।६०।।

प्राचीना यादृशं ते भजनमनुलवं चक्रुरेवं न मत्तः
स्यान्नैराश्येन तस्माज्ज्वलति हि हृदयं भक्तिलेशालसस्य।
विश्वद्रीचीं कृपां ते भृशमनुभवतः शास्त्रतः साधुतो द्रा-
गाशाबिन्दूक्षितं मे हृदयमसुपते ! शान्तिमाप्नोति पूर्णाम् ।।६१।।

हे भगवन् ! श्रीप्रह्लाद एवं अम्बरीषादि प्राचीन महापुरुषों ने, जैसा आपका निरन्तर भजन किया है, वैसा तो मुझसे त्रिकाल में भी हो नहीं

सकता; अतः महती निराशा के कारण, भक्ति के लेश में भी आलस्य करनेवाले मेरा हृदय, नितान्त जलता रहता है, परन्तु जब शास्त्र एवं साधुओं द्वारा ऐसा अनुभव करता हूँ कि,--आपकी कृपा तो भक्तमात्रपर समान ही है यथा—

पारसा झूठे भगत को, हरि राखत सनमान।
जैसे कुपढ़ पुरोहितहिं, देत दान यजमान॥

तब तो हे प्राणेश्वर! शीघ्र हो आशारूप बिन्दु से सिंचित हुआ मेरा हृदय, पूर्ण शान्ति को प्राप्त कर लेता है ॥६१॥

जानन्भक्तिं पुमर्थादपि खलु सकलाच्चाधिकां च स्वतन्त्रा-
मन्येभ्योऽपि ब्रुवँस्त्वामहमिह न भजे तेऽकृपैवाऽत्र हेतुः।
तस्मात् क्षिप्रं प्रसीद प्रखरकरसुता-तीरदेशे विनम्रो
मूढोऽहं प्रार्थये त्वां कुरु मयि करुणां हे दयावारिराशे! ॥६२॥

हे भगवन्! आपकी प्रेमलक्षणा भक्ति तो, धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थ से भी अधिक एवं स्वतन्त्र है, ऐसे मैं, स्वयं जानता हुआ और दूसरों से कहता हुआ भी, स्वयं आपका भजन नहीं करता हूँ; इस विषय में आपकी अकृपा ही कारण है, अर्थात् जिस आपकी कृपा ने, मुझे भक्ति के स्वरूप समझने की एवं दूसरों को समझाने की शक्ति प्रदान की है, उसी कृपा से आप मुझे स्वयं भजन करने की शक्ति क्यों नहीं देते? अतः हे दयासागर! मैं मन्दमति, श्रीयमुनाजी के तीरपर विनम्र भाव से आपकी प्रार्थना करता हूँ कि—आप मुझपर शीघ्र ही, स्वभजनकारिणी कृपा कर दीजिये ॥६२॥

इयं पुष्पिताग्रा—

प्रतिपदममृताब्धिकोटि-मिष्टे, वहति झरे तव कृष्ण! लीलिकायाः।
विषयगरलमेति मे तु पातुं, हृदयमहो करुणाढ्य! रक्ष रक्ष॥६३॥

हे श्रीकृष्ण! प्रतिपद करोड़ों अमृत समुद्रों से भी मीठे आपके लीलारूप झरने—"इतिहास पुराणरूप पर्वतों से" प्रतिक्षण बह रहे हैं। परन्तु हे करुणाढ्य! मेरा हृदय तो इतना दुष्ट एवं विवेक शून्य है कि, उन अमृतमय लीला झरनों को छोड़कर विषयरूप विष को पान करने के लिये क्षुद्र गर्तों में ही जाता रहता है, रक्षा करो! रक्षा करो प्रभो! ॥६३॥

मालिनी-वृत्तमग्रिमम्—

विषयदुषमिहात्तुं नीरसं याति नित्यं
मम तु हृदयवत्सो दुर्ममो मादृशां तु।

स्वसुखसरस-शष्पं स्वादयन्नीषदेतं
दमय करुण-यष्ट्या सत्वरं वत्सपाल ! ।।६४।।

हे भगवन् ! मेरा हृदयरूपी बछड़ा, नीरस विषयरूपी भुस को खाने के लिये नित्य ही जाता है, हम जैसे दुर्बलों के तो यह वश में आता नहीं, अतः हे वत्सपाल ! आप ही स्वसुखरूप सरस हरी-हरी घास का किञ्चित् आस्वादन कराकर करुणारूपी लकुट से इसका शीघ्र ही दमन कीजिये ।।६४।।

स्रग्धरा-वृत्तमिदम्—

पापानां कोटिभिस्त्वं मम यदि भगवन् ! खेदमायासि नूनं
बालैः सन्ताडिता वै कथमिह जननी मानुषी तोषमेति ।
सत्यं ब्रूहि व्रजेन्दो ! मयि तव रुडियं मेऽपराधेन केन
क्षान्त्वा तं मेऽपराधं सदयहृदय ! हे दर्शनं देहि शीघ्रम् ।।६५।।

हे भगवन् ! यदि आप मेरे करोड़ों अपराधों से दुखित होते हो तो निश्चय कहिये कि, बालकों द्वारा ताड़ित भी मानुषी माता, यहाँ सन्तुष्ट क्यों हो जाती है ? अर्थात् प्राकृत माता की अपेक्षा आप तो कोटि-वात्सल्य-जलधि हो, अतः आपको तो, स्व-स्वभावानुसार विशेष सन्तुष्ट हो जाना चाहिये । हे व्रजचन्द्र ! सत्य कहिये, मेरे ऊपर आपका यह कोप, मेरे कौन से अपराध से है । हे सदय-हृदय ! उस मेरे अपराध को क्षमा करके शीघ्र ही दर्शन दीजिये ।।६५।।

शालिनी-वृत्तमेतत्—

सेवां दृष्ट्वा यो ददातीह दाता, नो दाताऽयं प्रोच्यते भक्तिशास्त्रे ।
सेवाहीने किंच दीने मयीश !, प्रीतो भूत्वा देहि स्वं दर्शनं मे ।।६६।।

जो दाता, सेवा को देखकर तदनुसार फल देता है तो वह, भक्तिशास्त्र में दाता नहीं कहा जाता । अतः हे ईश ! सेवा से हीन दीन मलीन मुझपर प्रसन्न होकर अपना दिव्य दर्शन दे दीजिये ।।६६।।

वंशस्थ-वृत्तमेतत्—

स्वनायकं प्रोषितभर्तृका यथा, जने जने पश्यति तत्प्रतीक्षया ।
तथा कदा हा विकलाः प्रतीक्षया, त्वदीयया त्वामवलोकितास्महे ।।६७।।

हे भगवन् ! जिसका पति परदेश चला गया हो, ऐसी नववधू जैसे अपने पति की विशेष प्रतीक्षा से तदाकार होकर प्रत्येक जन में अपने पति का ही दर्शन करती है; ठीक उसी प्रकार आपके मिलने की प्रतीक्षा से व्याकुल होकर हम भी, दृष्टि गोचर होनेवाले प्रत्येक जन में आपका दर्शन

कब किया करेंगे। हा प्रभो! ऐसी मिलन प्रतीक्षामयी व्याकुलता शीघ्र प्रदान कीजिये ॥६७॥

अथ कमप्यनिर्वचनीयं मनोरथं श्रीकृष्णतः पूर्णमभिलषन् प्रार्थयते कुलकेन श्लोकपंचकेऽन्वयात् कुलकं ज्ञेयं कुलकलक्षणं यथा—

द्वाभ्यां युग्ममिति प्राहुस्त्रिभिः श्लोकैर्बिशेषकम्।
कलापकं चतुर्भिःस्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्॥

तत्र प्रथमश्लोके गीतिछन्दो द्वितीये उपगीतिस्तृतीयचतुर्थयोरार्या पंचमे उद्गीतिरिति बोध्यम्—

विज्ञप्तिं शृणु मम भोः, शीघ्रं पूर्णां च तां सखे! कुरु मे।
मधुपुर्यामधिवसता, भवता व्रजमनु यदोद्धवः प्रहितः॥६८॥
तदनु भवान् व्रजवार्ता-,श्रवणे धृततृष्णतां प्रथयन्।
प्रतिदिनमपगतदिवसान्, खिन्नः क्रमगणनया गणयन्॥६९॥
उन्नतचन्द्रशालिकां, मनोरथपालिकामिव समारूढः।
उद्धवपथधृत-दृष्टि-,रकस्माच्च तमागतं पश्यन्॥७०॥
उच्चैरुत्सुकताभाग्, जातः प्रसभं सखे! यथैव तथा।
अहमपि कदा नु कृष्ण!, त्वद्वार्ता-श्रवण-धृततृष्णः॥७१॥
वृन्दावनमधितिष्ठन्, त्वद्वर्त्मनि निहितदृष्टिश्च।
त्वां समुपेत्याकस्मा-,दालिङ्‌च स्यां सखे! महान् मुदितः॥७२॥

अब किसी अनिर्वचनीय मनोरथ की पूर्ति, श्रीकृष्ण से चाहते हुए प्रार्थना करते हैं—यथा—हे मेरे प्रिय! सखे! आपके श्रीचरणों में मेरी एक विज्ञप्ति है, उसे सस्नेह सुनिये और शीघ्र ही पूर्ण भी कर दीजिये, वह यह है कि—श्रीमथुराजी में वास करते समय, व्रजवासियों के विरह से व्याकुल होकर आपने अपने विरह से व्याकुल व्रजवासियों को सान्त्वना प्रदान करने के लिये, अपना सन्देश देकर जब श्रीउद्धवजी को भेजा था उस के पश्चात् आप व्रजवासियों के वृत्तान्त के श्रवण विषय में विशेष तृष्णा करते हुए और प्रतिदिन दुखित होकर बीते हुए दिनों को क्रम से गिनते हुए, एवं मनोरथ की पूर्ति स्वरूप उन्नत चन्द्रशाला (चौवारा) पर आरूढ़ होकर—उद्धवजी के आनेवाले मार्ग में दृष्टि लगाकर बैठे हुए और अकस्मात् श्रीउद्धवजी को आये देखकर जिसप्रकार आप सहसा उत्सुक, अर्थात् विशेष प्रसन्न हो गये थे, हे सखे! श्रीकृष्ण! ठीक उसीप्रकार मैं भी, आपकी मनोहर वार्त्ता श्रवण करने में विशेष सतृष्ण होकर, श्रीवृन्दावन में बैठकर आपके

आने के मार्ग में ही दृष्टि लगाकर बैठा हुआ, अकस्मात् आपको प्राप्तकर और भुजभर के आप से मिलकर कब विशेष प्रसन्न होऊँगा। हे सखे ! सख्यभावेन ऐसी कृपा शीघ्र ही कर दीजिये ॥६८-७२॥

शिखरिणी-द्वयकेन स्वाभिलाषमाह—

मनो मे दौरात्म्यं त्यजति न सखे ! किन्नु करवै
कुतो नैनद् वाढं द्रढयति भवान् पादयुगले।
यदाऽस्याऽशक्तोऽसि त्वमपि भगवन् ! बन्धनविधौ
तदा को वा वक्ता तव जगति ना सर्ववशिताम् ॥७३॥

मदीयं ते भ्रातः ! पदकमलयोः प्रार्थनमिदं
मयि प्रीतस्त्वं चेन्मयि विमलसख्यं विनिवपन्।
समं मात्रा पित्रा सखिभिरखिलैश्चापि हलिना
सखीभिर्दासैःस्वैर्नयनपथमायाहि तु तदा ॥७४॥

अब दो श्लोकों से अपनी अभिलाषा प्रगट करते हैं कि, हे सखे ! मेरा मन अपने दुरात्मापन को नहीं त्यागता है मैं, इस विषय में महान् दुखी हूँ क्या करूँ ? आप इस चञ्चल मेरे मन को अपने श्रीचरण युगल में क्यों नहीं दृढ़ कर लेते ? हे भगवन् षडैश्वर्य पूर्ण ! यदि इसके बाँधने में आप भी अशक्त हैं तो "अनन्त ब्रह्माण्ड आपके वश में हैं" ऐसा संसार में कौन मनुष्य कहेगा ? तात्पर्य यह है कि, जबतक मेरे चंचल मन को आप अपने वश में नहीं करोगे तबतक प्यारे सखे ! सर्ववशी न कहाओगे; मेरा तो यही मत है ॥७३॥ अतः हे भ्रातः ! आपके श्रीचरणारविन्दों में मेरी यही करवद्ध प्रार्थना है कि—यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो, मेरे हृदय में विमल सख्यभाव का बीजारोपण करते हुए, माता श्रीयशोदाजी, पिता श्रीनन्दजी श्रीसुबल श्रीदामा आदि सम्पूर्ण सखा, बड़े भ्राता श्रीबलदेवजी, श्रीराधा, ललिता आदि सखियाँ और रक्तक-पत्रक आदि सम्पूर्ण अपने दास—इत्यादि परिकर सहित एवं वंशी बजाते गैया चराते मन को लुभाते मेरे नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष हो जाइये ॥७४॥

तूणकेन पुनरप्यर्थयते—

हार्दिकोऽभिलाष एष मे कदा नु पूर्णतां
यास्यति व्रजेन्दुवर्य ! वर्यपूज्यपाद हे।
अस्त्वनाद्यनन्त-संसृति-प्रवाह-संजयो
मानसं सदा सदाश्रिताङ्घ्रियुग्मकंजयोः ॥७५॥

हे श्रीव्रजेन्दुवर्य ! हे श्रीशिव ब्रह्मादि देव श्रेष्ठों द्वारा पूज्यपाद सखे ! मेरा यह हार्दिक मनोरथ कब पूर्ण होगा कि,—आदि अन्त रहित इस संसृति प्रवाह से तो मेरी विजय हो जाय और मेरा मन सदैव, उन दोनों चरणारविन्दों में लगा रहे, जिनका कि, सत्पुरुषों ने सदैव से आश्रय ग्रहण किया है ।।७५।।

अनुष्टुप्-चतुष्केण पुनरर्थयते—

यथाऽहं सात्विकैर्भावै स्तम्भस्वेदादिभिर्हरे ! ।
अलंकृतशरीरः सन् स्मराणि त्वां तथा कुरु ।।७६।।
यथाऽस्खलितभावेन स्मरन्ती मम शेमुषी ।
त्वामवस्थासु सर्वासु शोभेतैव तथा कुरु ।।७७।।
अहन्ता च यथा श्रीमँस्तव सेवोपयोगिनि ।
सिद्धदेहे विशन्तीव विराजेत तथा कुरु ।।७८।।
ममता तव पादाब्ज-मकरन्द-पिपासया ।
भ्रमरीवाऽऽकुलास्तां मे तव पादाब्जयोर्दृढा ।।७९।।

हे हरे ! आप मुझपर ऐसी कृपा करें कि, जिससे स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्चादि अष्ट सात्विक भावों से अलंकृत शरीरवाला होकर प्रतिक्षण आपका स्मरण कर सकूँ ।।७६।। और ऐसा सुयोग दीजिये कि जिस प्रकार मेरी बुद्धि, सब अवस्थाओं में अस्खलित भाव से, अर्थात् निरन्तर आपका स्मरण करती हुई ही सुशोभित हो जाय ।।७७।। हे श्रीमन् ! मेरी अहन्ता, आपकी सेवा के योग्य दिव्य मित्रभाव से युक्त सिद्ध देह में प्रविष्ट होती हुई जैसे सुशोभित हो तैसे ही कीजिये ।।७८।। और मेरी ममता, आपके चारु-चरणारविन्दों के मकरन्द रस की पिपासा (प्यास) से व्याकुल भ्रमरी की तरह आपके पाद-पद्मों में ही दृढ़ हो जाय ।।७९।।

शार्दूलविक्रीडितेन पुनरप्यर्थयते—

आसक्तिस्तव पादयोर्मम दृढा यस्मिन् दिने भाविनी
तस्मिन्नेव दिने ममोपरि कृपा तेऽस्तीति वेत्स्याम्यहम् ।
तस्मात् तद्दिनमानयाशु नितरामासक्तिदं पादयो-
र्हा श्रीमद्व्रजराजनन्दन ! सखे ! मां दीनमानन्दय ।।८०।।

हे श्रीमद्व्रजराजनन्दन ! आपके श्रीचरणों में, जिस दिन मेरी दृढ़ आसक्ति हो जायगी, उसी दिन "मेरे ऊपर आपकी कृपा है" ऐसा मैं जानूँगा । अतः आपके श्रीचरणों में गाढ़ासक्ति प्रदान करनेवाले उस दिन

के सुयोग को शीघ्र ही उपस्थित कीजिये । हा सखे ! मुझ दीन को शीघ्र ही आनन्दित कर दीजिये ।।८०।।

उपगीतिद्वयकेन स्वसखं प्रार्थयते—

रक्षितवान् व्रजलोकं, श्रीमद्गोवर्धनं धृत्वा ।
मामपि गिरिवरधारिन् !, रक्ष तथेन्द्रियेन्द्रदुर्दृष्टेः ।।८१।।
गोवर्धनधर ! धर मां, ध्रियमाणं स्मरपिशाचेन ।
नहि को वा स्वं मित्रं, रक्षति रक्षा-समर्थः सन् ।।८२।।

हे श्रीगिरिवरधारिन् ! आपने द्वापर युग में, श्रीमद्गोवर्धन को धारण करके जिसप्रकार व्रज की रक्षा की थी, उसीप्रकार इन्द्रियों के इन्द्र (मनीराम) की, दुर्विषयों में आसक्तिरूप दुर्वृष्टि से मेरी भी रक्षा कोजिये ।।८१।। हे श्रीगिरिधारीलालजी ! स्मर—अर्थात् कामरूपी पिशाच के द्वारा मुझ जकड़े हुए की रक्षा कोजिये । क्योंकि, संसार में ऐसा कौन है, जो कि, रक्षा करने में समर्थ होकर भी अपने मित्र की रक्षा नहीं करता ? फिर आप तो अधिक-साम्य-विमुक्त प्रभाववाले हो ।।८२।।

स्रग्धरया पुनरपि दैन्येनार्थयते—

प्रीतेर्गन्धोऽपि नास्ते मम तव पदयोर्हा सखे ! कृष्णचन्द्र !
सम्बन्धः सख्यगन्धः परमिह बलवाञ्श्रीमदाचार्यदत्तः ।
तेनैव त्वं दयालो ! यदि मयि दयसे तर्हि ते मित्रभावो
मित्राणां सौख्यदायी कलियुगसमयेऽस्मिन्नपि स्याद् द्रढीयान् ।।८३।।

हा सखे ! कृष्णचन्द्र ! आपके श्रीचरणों में मेरा प्रीति का तो लेश-मात्र भी नहीं है, परन्तु सख्यावतारस्वरूप हमारे श्रीगुरुदेव द्वारा दिया हुआ केवल मित्रभाव की सुगन्धि ये युक्त, परम बलवान् सम्बन्ध विशेष है। हे दयालो ! मित्रवर्य ! यदि उस परम विशुद्ध मित्रभाव के सम्बन्ध से ही, आप मुझपर दया करते हो तो आपके मित्रों को परमसुख देनेवाला मित्र-भाव, कलियुग के इस भयङ्कर समय में भी अत्यन्त दृढ़ हो जायगा ।।८३।।

शार्दूलविक्रीडितेन शार्दूलविक्रीतमिव तनोति—

देवानामपि दुर्लभेन सुलभेनाऽस्मादृशां भूतले
सख्याऽऽचार्यकृपालवेन भगवँस्ते मित्रभावेन मे ।
चेतोऽन्तर्मुदमेति तेन नितरां ते स्यात् कृपा मय्यपि
वाढं ते सहचारिणां परिषदि स्यान्मे प्रवेशोऽप्यरम् ।।८४।।

हे भगवन् ! देवताओं को भी अत्यन्त दुर्लभ परन्तु हम जैसों को पृथ्वीतलपर भी—सख्याचार्यवर्य हमारे श्रीगुरुदेव की कृपा के लेशमात्र से

सुलभ, आपके मित्रभाव से मेरा चित्त अन्दर ही अन्दर अत्यन्त हर्षित होता है, इससे प्रतीत होता है कि, मुझ दीन दुखी आपके सखापर भी आपकी कृपा अवश्य होगी और आपके सखाओं की सभा में भी मेरा शीघ्र ही प्रवेश होगा, यह दृढ़ निश्चय है ।।८४।।

तूणकवृत्तेन पुनरर्थयते—

प्रीति-पूर्वकं भजेय ते सदा पदाम्बुजं
देहि बुद्धि-योगमीदृशं नु योगसम्भव ! ।
ज्ञानदीपकेन नाशय त्वमात्म-भावगोऽ-
ज्ञानजं तमोऽनुकम्पया मम स्वकीयया ।।८५।।

हे कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि त्रिविध योगों के उत्पत्ति स्थान भगवन् ! अथवा भक्ति योग में ही प्रगट होनेवाले प्रभो ! मुझे भी आप कृपा करके ऐसा बुद्धियोग दीजिये जिससे कि, प्रीतिपूर्वक आपके चरणारविन्दों का भजन कर सकूँ । और अपनी अहैतुकी अनुकम्पा से मेरे हृदय में प्रत्यक्षरूपेण पधारकर ज्ञानरूपी दीपक से, अज्ञान से जायमान अन्धकार को नष्ट कर दीजिये ।।८५।।

स्रग्धरया पुनरप्यर्थयते—

मित्र ! श्रीकृष्ण ! प्रीत्यै तव भवतु ममैवाऽखिलं कार्यजातं
कार्यं तत्कारयेथा भवति हि तव मुद् येन मत्तो मुरारे ! ।
उर्ध्वं यं ह्युन्निनीषुस्त्वमु भवसि ततः कारयस्येव साधु
यन्त्रं तेऽहन्तु यन्त्री त्वमिति यदुचितं स्वेच्छया तत्कुरुष्व ।।८६।।

हे भैया श्रीकृष्ण ! देखो, मेरे सब कार्य, आपकी प्रसन्नता के हेतु हो जायँ और हे मुरारे ! मुझसे भी, आप, वही कार्य करवाइये जिससे आपकी प्रसन्नता हो, क्यों कि, आप, जिसको ऊपर के लोकों में ले जाना चाहते हैं तो, उससे अच्छा ही कार्य कराते हैं, मैं तो, आपका यन्त्र हूँ, आप इसके संचालक हो, अतः हे सखे ! जो उचित हो वही स्वेच्छा से कीजिये ।।८६।।

प्रहर्षिणीद्वयकेन स्वमित्रमर्थयते—

प्राप्य त्वां तव कृपया व्रजेन्द्रसूनो !, दुःखाढ्यां जनिमसतीं पुनर्न यायाम् ।
खिन्नोऽहं तिरवधि गर्भवासदुःखा-,च्छीघ्रं स्वां कुरु करुणां वयस्यवर्य ! ।।८७।।

हे श्रीव्रजेन्द्रसूनो ! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि, आपकी कृपा से ही आपको प्राप्त करके पुनः दुखमय निकृष्ट जन्म को प्राप्त न होऊँ । क्योंकि, हे मित्रवर्य ! मैं, निरन्तर गर्भवास के दुःख से महान् दुखित हूँ ।।८७।।

कंसारे ! मम जनिरेव चेत्तवेष्टा, बारम्बारमु समसह्यकर्महेतोः ।
तर्ह्यास्तां मम मनसोऽपि वृत्तिरारात्, पादाम्भोरुहयुगयोस्तवैव मित्र!।।८८।।

हे कंसारे ! यदि मेरे अक्षम्य महान् अपराधों से, मेरा संसार में बारम्बार जन्म लेना ही आपको इष्ट है तो, मित्रवर्य ! इतना सुयोग तो कृपया अवश्य प्रदान करना कि—मेरे मन की वृत्ति तो आपके पदारविन्द-द्वन्द्व के समीप में लगी रहे ।।८८।।

वसन्ततिलकया पुनरर्थयते—

ज्ञात्वापि मे नु मनसः कुदशां मुरारे !
संशोधयस्यहह दीनतमस्य किन्नो ।
कामादिभी रिपुकुलैः शरणागतानां
हाऽनादरो मधुरिपो ! नहि तेऽनुरूपः ।।८९।।

हे मुरारे ! मुझ अत्यन्त दीन दुखी के मन की दुर्दशा को जान करके भी क्यों नहीं सुधारते ? । हे मधुरिपो ! आपके शरणागतों का क्षुद्र कामादि शत्रुओं द्वारा अनादर होना, आपके स्वरूप के अनुरूप नहीं है, हा सखे ! आप ही विचारिये ।।८९।।

शिखरिण्या प्रार्थयते—

तवाऽऽस्तां रागो मे पदकमलयोर्हा मधुरिपो !
विरागः संसारात् सपदि समपारादसुखदात् ।
न जाने कस्मान्मे हृदयमनिशं त्वां स्मरति नो
स्मृतिस्वामिन् ! स्वं मे स्वयमिह हृदि स्मारय सदा ।।९०।।

हे मधुरिपो ! मैं अत्यन्त दुखी होकर कह रहा हूँ कि—आपके श्री चरणारविन्दयुगल में, मेरी प्रीति हो जाय, और महान् दुःखप्रद, अपार संसार-सागर से शीघ्र ही विराग हो जाय । न जाने प्राचीन ऐसा कौन-सा पाप है कि, जिसके प्रतिबन्धक होने के कारण, मेरा मन, आपका निरन्तर स्मरण नहीं करता, अतः हे स्मृतिस्वामिन् ! आप स्वयं ही मेरे हृदय में, निरन्तर अपना स्मरण कराइये ।।९०।।

अनुष्टुब्वृत्तद्वयेन पुनरर्थयते—

ममास्ते यादृशी प्रीति-र्विषयेष्वनपायिनी ।
तादृशी त्वयि विश्वात्मन् ! कथन्नेति दुनोम्यहम् ।।९१।।
यथैव दिवसा यान्ति विषयान् स्मरतोऽसकृत् ।
तथा कदा गमिष्यन्ति स्मरतस्ते पदाम्बुजम् ।।९२।।

हे सर्वान्तर्यामिन् ! मैं, इस बात से बड़ा दुखी हूँ कि—मेरी जैसी विषयों में अनपायिनी प्रीति है, ऐसी प्रीति, आप में क्यों नहीं हुई ? ।।९१।। और जिस प्रकार विषयों का निरन्तर स्मरण करते हुए मेरे दिन व्यतीत हो रहे हैं, ऐसे ही निरन्तर आपके पदाम्बुजों का स्मरण करते हुए कब व्यतीत होंगे ? ।।९२।।

पुनरपि शिखरिणीवृत्तेनार्थयते—

कदा गोलोकीयां तव मधुरलीलां कलयतः
सखे ! सख्युर्घस्त्रा मम तु प्रियताऽस्त्राणि सृजतः ।
त्वया सार्धं व्रीडारहित-रसक्रीडां रचयतः
सुखं यातस्त्वत्तः सखिसुखद ! यास्यन्ति सुखतः ।।९३।।

हे सखाओं को सुख देनेवाले सखे ! आपकी दिव्य-गोलोक में होनेवाली, परममधुर विशुद्ध सख्यरस की लीला का दर्शन करते हुए, लीला दर्शन से जायमान प्रीति के कारण, प्रेमाश्रुओं का विमोचन करते हुए, आपके साथ संकोच रहित रसमयी सख्य क्रीड़ा को करते हुए, एवं आपसे ही परमसुख को प्राप्त होते हुए मेरे दिन, सुखपूर्वक कब व्यतीत होंगे ? ऐसा सुयोग, शीघ्र दीजिये सखे ! ।।९३।।

विधुन्माला इयमग्रिमा—

कामादीनां सच्छत्रूणां, वश्यो जातस्तेऽहं बन्धुः ।
कः स्वं बन्धुं नो शत्रुभ्यो, बन्धो ! पाति श्रेष्ठो वीरः ।।९४।।

हे भगवन् ! मैं आपका बन्धु (सखा) होकर भी, सज्जनों के शत्रु कामक्रोधादिकों के वशीभूत होगया हूँ । हे बन्धो ! सर्वश्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध वीर, ऐसा कौन है ? जो कि, अपने बन्धु को, शत्रुओं से नहीं बचाता । **इति त्वयैव विचारणीयं सखे** ! ।।९४।।

तोटकद्वयेन स्वाभिलाषं प्रकटयति—

अधुनाऽऽव्रज नाऽऽव्रज वा व्रजरा-,जशिशो ! भविताऽपि तवाऽऽव्रजनम् ।
यदि भक्तजनास्तव सन्ति प्रिया, भविता हि कदापि तवाऽऽहसनम् ।।९५।।
अयि कृष्ण ! ममाऽसुखितस्य हृदः, सुखमस्य कदापि विधास्यसि किम् ।
कृपया निजया निजरूपसुधां, मम लोचनयोरपि धास्यसि किम् ।।९६।।

हे व्रजराजशिशो ! अब आप, मुझे दर्शन देने आइये या न आइये, परन्तु आपका आना तो कभी न कभी अवश्य ही होगा । और यदि आपको भक्तजन प्यारे हैं तो, कभी न कभी हमारे सामने भी आपका मधुर हास्य-परिहास अवश्य ही होगा ।।९५।। हे सखे ! श्रीकृष्णचन्द्र ! मेरे इस महान्

दुखित हृदय को भी आप कभी सुखित करोगे क्या ? और अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी रूपसुधा को मेरे दोनों नेत्रों में भी धारण करोगे क्या ? ॥९६॥

अपूर्वाभिलाषमेवाह शिखरिणीयुग्मकेन—

अदृष्ट्वा लावण्यं व्रजति न दिदृक्षा नयनयो-
रनाकर्ण्य श्रोत्रं मधुरवचनं मे न मनुते ।
अनाघ्राय घ्राणं विमलवपुषस्ते परिमलं
धुनोत्येवात्मानं तव नतिविहीनं मम शिरः ॥९७॥

उरोऽनाश्लिष्य त्वां सहभुजयुगं कम्पमयते
त्वगप्येषा स्पर्शं तव न भजमाना न सुखमैत् ।
अपीत्वा मे जिह्वा तव चरणपङ्केरुहजलं
ममाऽङ्गानामेषां शमय सुविवादं मम सखे ! ॥९८॥

हे भगवन् ! आपको भी लुभानेवाले आपके लोकोत्तर लावण्य (सौन्दर्य) को न देखकर, मेरे नेत्रों की दिदृक्षा (देखने की इच्छा) शान्त नहीं होती है, और आपके परमधुर वचनों को न सुनकर, मेरे कान भी नहीं मानते हैं, एवं आपके दिव्य मङ्गलमय श्रीविग्रह की दिव्य सुगन्धि के सूँघे बिना, नासिका भी चुप नहीं रहती है और आपके चारुचरणारविन्दों में, साक्षात् नमस्कार किये बिना, मेरा मस्तक भी आपे को धुनता रहता है ॥९७॥ और मेरा वक्षःस्थल भी, आपका आलिङ्गन प्राप्त न करके दोनों भुजाओं के सहित, कम्पित होता रहता है। और यह मेरी त्वचा भी, आपके स्पर्श सुख को न प्राप्त कर महान् दुखित रहती है। और आपके चरणामृत का पान किये बिना, मेरी जिह्वा की भी वही दशा है। हे सखे ! मेरी तो आपके श्रीचरणों में यही प्रार्थना है कि—आप शीघ्र ही कृपया मेरे इन अङ्गों के सुविवाद को शान्त कर दीजिये ॥९८॥

पुनरपि स्वाभिलाषमाह शिखरिण्या—

कदा ते पादाम्भोरुह-युगलसंवाहनमहं
करिष्ये रोहिण्यास्तनयबलभद्रस्य च मुदा ।
वयस्यैर्गानं वा तव समययोग्यं च व्यजनं
नियुद्धक्रीडां वा सखिसुखद ! गो-चारणमपि ॥९९॥

हे मित्रों को सुख देनेवाले मित्रवर्य ! हतभाग्यवाले मेरे भाग्य में, ऐसा सुयोग कब संघटित होगा कि, जब आपके चरणारविन्दद्वन्द का एवं रोहिणीनन्दन परमउदार श्रीबलभद्रजी के युगल चरणों का संवाहन (सेवन) करूँगा। तथा आपकी प्रसन्नतार्थ, सखाओं सहित पद्य-गान, समययोग्य

व्यजन (बीजना) और आपके साथ द्वन्द युद्धलीला एवं गोचारण लीला भी कर सकूँगा ? ।।९९।।

वाञ्छाविशेषं पुनरपि व्यनक्ति शिखरिणीत्रयेण—

यदा श्रीकृष्णो मे सबल उपयाताऽक्षिविषये
तदा स्वं द्रष्टुं मां परममसमर्थं कथयिता ।
सखे ! शीघ्रं पश्य त्वमिति वचनं शक्तिरचनं
स चैतादृक्कालो मम हतविधेरैष्यति कदा ।।१००।।

जिस समय, श्रीबलदेवजी के सहित श्रीकृष्णचन्द्र, मेरे नेत्रों के सामने उपस्थित होंगे तब, मुझको अपने दर्शन करने में परम असमर्थ जानकर, दर्शनशक्ति देनेवाले परम मधुर—"हे सखे ! शीघ्र ही मेरा दर्शन करो मैं, तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ" ऐसे वचन कहेंगे । हाय ! मुझ हतभाग्य के भाग्य में, ऐसा मनोहर समय कब उपस्थित होगा ? ।।१००।।

इमे नेत्रे द्रष्टं ह्यभिलषत आस्याम्बुजवरं
श्रुती श्रोतुं वाक्यं परममधुरं सर्वचतुरम् ।
परिष्वक्तुं वक्षःस्थलमपि मम त्वां सहभुजं
सखे ! सख्युर्वाञ्छां मम सपदि पूर्णां विरचय ।।१०१।।

ममाऽऽशानामासां मम सखिवरः श्रीहरिरहो
विनाश्य प्रारब्धं सपदि ननु पूर्तिं प्रथयिता ।
प्रभोस्तस्याऽशक्यं भवति किमु कार्यं सुरतरो-
रिवाशां सर्वेषां निजमनुगतानां रचयितुः ।।१०२।।

हे भगवन् ! ये मेरे दोनों नेत्र, आपके श्रीमुखारविन्द का दर्शन करना चाहते हैं, एवं दोनों कान, सबसे चतुर, परममधुर आपके वाग्विलास (वाणी) को सुनना चाहते हैं और मेरा वक्षःस्थल भी, भुजाओं के सहित गाढ़ालिङ्गन को प्राप्त करने की अभिलाषा करता है । हे प्यारे सखे ! मुझ अपने सखा की अभिलाषा को शीघ्र ही पूर्ण कर दीजिये ।।१०१।। मेरी इन पूर्वोक्त आशाओं को मेरे प्यारे मित्रवर्य श्रीहरि, अपनी कृपा से मेरा प्रारब्ध नष्ट करके शीघ्र ही पूर्ण करेंगे—यह मेरा दृढ़ विश्वास है । और उन **"कर्तुम-मकर्तुमण्यथा कर्तुं समर्थ"** प्रभु के लिये कौन-सा कार्य अशक्य है अर्थात् अपने भक्तों के लिये सब कुछ कर सकते हैं । क्योंकि, वे तो कल्पवृक्ष की भाँति, अपने शरणागतों की सम्पूर्ण अभिलाषाओं को सदैव से पूर्ण करते आ रहे हैं ।।१०२।।

पंचचामरवृत्तेन स्वाशयमभिव्यनक्ति—

तवाऽऽप्तये न काऽपि जायते मुकुन्द ! साधना
भवत्यतीव दुस्तरा यतो मनोजबाधना ।
परन्त्वमुष्य किं करिष्यति द्विषः प्रतारणा
विमुक्तये ममाऽस्ति चेत् प्रभोस्तवैव भारणा ।।१०३।।

अब, कतिपय श्लोकों से अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं यथा—हे मुकुन्द ! आपकी प्राप्ति के लिये मुझसे तो कोई भी साधना नहीं बन रही है कारण कि मादृक् पामर पुरुष पशुओं से अत्यन्त दुस्तर, मनोज की बाधना प्रतिबन्धक-रूपेण उपस्थित हो जाती है । परन्तु सज्जनों के बैरी इस मनोज की प्रतारणा, हमारा क्या बिगाड़ सकेगी ? जब कि, सर्वसमर्थ मेरे मित्रवर्य आपकी ही धारगा, संसार सागर से मेरे मुक्त करने की है तो ।।१०३।।

स्वमनोनिरोद्धुं प्रार्थयते तोटकेन—

न मनो मम याति वशं प्रसभं, व्रजति व्रजराजशिशो ! विषभम् ।
तददो निवधान निजाङ्घ्रियुगे, कृपया निजया निजबाहुयुगे ।।१०४।।

हे श्रीव्रजराजकुमार ! मेरा मन मेरे वश में नहीं आता है, अपितु हठात् विषतुल्य विषयों में ही भागता रहता है । अतः कृपया आप ही इस चंचल चित्त को अपने श्रीचरणयुगल में अथवा श्रीभुजयुगल में, दृढ़ बाँध लीजिये ।।१०४।।

पंचचारवृत्तेन पुनरपि स्वाभिलाषमाह—

कदा प्रसन्नतां गतस्त्वमेत्य साग्रजः सखे !
स्वबाहुमध्यगं करिष्यसीह मामनारतम् ।
तथा कराम्बुजद्वयेन मस्तकस्य लालनं
मुखेन स्वस्य मे मुखस्य चुम्बनेन सत्क्रियाम् ।।१०५।।

हे सखे ! ऐसा समय कब आवेगा, जब कि—आप मुझपर प्रसन्न होकर मेरे समीप, श्रीबलरामजी के सहित पधार कर बहुत काल तक भुज भर के मुझ से मिलते रहोगे । और अपने करकमल युगल से मेरे मस्तक का लालन एवं अपने श्रीमुख से मेरे मुख का चुम्बनादि द्वारा सत्कार करोगे ।।१०५।।

स्रग्धरया स्वप्नेऽपि दर्शनाभिलाषमाह—

स्वप्नेऽप्यागत्य मह्यं विनिदिश भगवन्नेवमाशु प्रसन्न-
स्तस्मिन्कालेऽथ तस्मिञ्जनुषि तव मया संगमः स्यान्नितान्तम् ।

वाक्येनाऽनेन तेऽहं बहुजनिसमयं यापयिष्येऽतिशीघ्रं
कालःस्याज्जन्मनोऽस्य व्रजभव ! सुतरामन्यथा कल्पकल्पः ॥१०६॥

हे भगवन् ! आप कृपया शीघ्र प्रसन्न होकर, स्वप्न में भी आकर, मुझसे यों कह दीजिये कि—हे प्यारे सखे ! उस समय और उस जन्म में, तेरा मुझसे शाश्वतिक संयोग हो जायगा। वश, आपके इस वचनरूपी शम्बल के बलपर बहुत से जन्मों का समय भी, शीघ्र ही व्यतीत कर दूँगा, अन्यथा तो हे व्रजसंभव ! इस जन्म का समय भी कल्प के समान प्रतीत हो जायगा ॥१०६॥

वंशस्थेन पुनरप्यर्थयते—

अनुक्षणं ते चरणारविन्दयोः, स्मृतिःकुतो नो भवतीह माधव ! ।
विहाय कामानितरान्निरन्तरं, यथैव जायेत तथा विधीयताम् ॥१०७॥

हे माधव ! मेरा ऐसा कौन-सा प्राचीन पातक प्रतिबन्धक है जिससे कि—आपके चरणारविन्दों की स्मृति प्रतिक्षण नहीं होती। हे भगवन् ! इतर कामनाओं को त्यागकर जिसप्रकार निरन्तर आपकी स्मृति बनी रहे वैसी ही कृपा कीजिये ॥१०७॥

आर्याछन्दोऽभिरर्थयतेऽधुना—

विषयेभ्यो मम चेतो, दूरीभवितुं नहीच्छतीषदपि ।
अनादिकालत एव, त्वत्तो ननु विमुखताहेतोः ॥१०८॥
तस्मात् त्वं निजकृपया, तेभ्यो माधव ! हठात्परावर्त्य ।
निजपदयो-र्विनिवेशय, स्वल्पां निजमाधुरीं दत्त्वा ॥१०९॥
किं खलु सुदृढं पापं, पूर्वं निरवधि कृतं न जानीमः ।
त्वत्प्राप्तिराजमार्गे, भवति दृढाऽर्गलं यदद्यापि ॥११०॥

हे भगवन् ! मेरा चित्त, विषयों से किंचिद् भी दूर नहीं होना चाहता, इस विषय में तो, अनादिकाल से आपसे विमुखता ही कारण है ॥१०८॥ अतः हे माधव ! आप अपनी कृपा से हठपूर्वक उन विषयों से मेरे मन को लौटाकर—थोड़ी-सी निजानन्द माधुरी का दान करके अपने श्रीचरणों में निविष्ट कर लीजिये ॥१०९॥ हम नहीं जानते कि, हमने पहले जन्मों में ऐसा कौनसा सुदृढ़ पाप किया है, जो कि, आज भी आपकी प्राप्ति के राजमार्ग में अर्थात् भक्ति मार्ग में, सुदृढ़ अर्गल (अड़वंगा) अर्थात् विघ्न स्वरूप हो रहा है ॥११०॥

पुष्पिताग्रा-वृत्तेन स्वाभिलषितमाह—

शृणु मम विनयं विनीतबन्धो !, कुरु यदि रोचत एव मित्र ! तुभ्यम् ।
लघु लघु सुहसन् ममाऽक्षिमार्गे, त्वमु समुपेत्य परिष्वजस्व दोर्भ्याम् ॥१११॥

हे विनीतबन्धो ! पहले मेरी विनय सुनिये ! मित्रवर्य ! यदि आपको अच्छी लगे तो पूर्ण कर दीजिये, यथा—आप प्रेमपूर्वक मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मेरे नेत्रों के सामने आकर, दोनों भुजाओं से मेरा आलिङ्गन कीजिये ।।१११।।

अनुष्टुप् छन्दः—

प्रार्थनाशतकानां ते, शतकं कुर्वतो मम ।
जन्मनां शतकं यातु, व्यर्थं नैकमपि प्रभो ! ।।११२।।

हे प्रभो ! आपके श्रीचरणों में, मेरी तो यही प्रार्थना है कि—आपके सैकड़ों प्रार्थनाशतक बनाते हुए तो, मेरे सैकड़ों जन्म भले ही व्यतीत हो जायँ, परन्तु व्यर्थ एक भी नं जाय ।।११२।।

आर्यावृत्तेन नूतनाभिलाषमाह—

अयमपि ममभिलाषः, कृपया निजया नु पूर्यतां भगवन् ! ।
प्राणविसर्जनकाले, निःसरतु प्रार्थनापद्यम् ।।११३।।

हे भगवन् ! मेरी एक नवीन-अभिलाषा यह भी है कि—मेरे प्राण विसर्जन के समय में भी, मेरे मुख से आपकी प्रार्थनामय एक पद्य (श्लोक) अवश्य निकल जाय । इसको आप, अपनी अहैतुकी कृपा से ही पूर्ण कर दीजियेगा ।।११३।।

पुनरप्यार्यया वेणुश्रवणाभिलाषमाह—

यस्य निनादं श्रुत्वा, स्वयमपि मोहं भजसि श्रीकृष्ण ! ।
मामपि मोहय मित्र !, तं वेणुं वादयित्वैव ।।११४।।

हे श्रीकृष्ण ! जिसके माधुर्यमय मनोहर शब्द को सुनकर आप स्वयं भी विमोहित हो जाते हो, हे मित्रवर्य ! उसी वेणु को बजाकर मुझको भी कृपया विमुग्ध कर दीजिये ।।११४।।

नित्यलीलाप्रवेशाभिलाषमाह आर्यया—

गोचारणमपि कर्तुं, नित्यं यत्रैसि साग्रजः सखिभिः ।
मामपि कृपया गिरिधर !, तस्यां नय नित्यलीलायाम् ।।११५।।

हे भगवन् ! जिस दिव्यातिदिव्य गोलोक की नित्यलीला में आप श्रीबलदेवजी एवं सखाओं के सहित, नित्य ही गोचारण करने जाते हो, हे गिरिधरलालजी ! मुझको भी उसी गोलोकीय-नित्यलीला में प्राप्त कर लीजिये, यही आपकी महती कृपा होगी ।।११५।।

अनुष्टुब्वृत्ताभ्यां पुनरप्यर्थयते—

वाध्यमानोऽस्मि त्वद्भक्तो विषयै-रजितेन्द्रियः ।
प्रगल्भा दीयतां भक्तिर्यथा न स्यां पराजितः ।।११६।।

बालस्याऽव्यक्तया वाचा प्रसीदति यथा पिता।
तथा ममाऽनया वाचा प्रसीदतु भवानपि ।।११७।।

हे भगवन् ! मैं, प्राकृत-विषयों से अत्यन्त वाध्यमान (पीड़ित) हूँ अतएव आपका अजितेन्द्रिय भक्त हूँ परन्तु प्रभो ! कृपया ऐसी प्रगल्भा भक्ति दीजिये कि, जिसके प्रभाव से मैं, विषयों से पराजित न हो सकूँ ।।११६।। हे मित्रवर्य ! आप मेरी इस प्रार्थनाशतकमयी वाणी से इस प्रकार प्रसन्न हो जाइये जैसे कि, पिता, बालक की तोतली बोलीपर भी रीझ जाता है ।।११७।।

स्रग्धरा-छन्दसा पुनरर्थयते—

कः प्राचीनोऽपराधो मम ननु बलवान् येन रुष्टोऽसि मित्र !
नो चेद् रुष्टोऽसि तर्हि व्रजपसुत ! कुतः प्रार्थनां नो शृणोषि।
क्षान्त्वा मन्तूननन्तान्निरवधि विहितान् रक्ष तान्तं सखायं
मित्रामोदप्रदायिन् ! नय निजसविधं मायया पीड्यमानम् ।।११८।।

हे मित्र ! मेरा ऐसा कौन-सा प्राचीन बलवान् अपराध है, जिससे कि, आप मुझपर रुष्ट (अप्रसन्न) हो रहे हो। यदि रुष्ट नहीं हो तो हे व्रजराजकुमार ! मेरी इस विनम्र प्रार्थना को क्यों नहीं सुनते ? हे मित्रों को सुख देनेवाले सखे ! निरन्तर किये हुए अनन्त अपराधों को क्षमा करके, महान् दुखित मुझ अपने सखा की रक्षा कर लीजिये और माया से पीड़ित मुझको अपने पास बुला लीजिये ।।११८।।

शतकोक्तभावानां पूर्तिमभिवाञ्छति आर्यया—

कृपया यया मुरारे !, पूरितमेतन्नु प्रार्थनाशतकम्।
पूरयसि कथं न तया, शतकोक्त भावनाशतकम् ।।११९।।

हे मुरारे ! जिस अपनी अहैतुकी कृपा से, यह 'प्रार्थनाशतक', आपने पूर्ण किया है उसी कृपा से, इस शतक में कहे हुए भावना-शतक को भी, पूर्ण क्यों नहीं करते ? ।।११९।।

अनुष्टुभा पूर्वोक्तमेव विशदयति—

शतकोक्ता इमे भावास्त्वयैव हृदि भाविताः।
स्वयं भावितभावानां स्वयं पूर्तिरथोचिता ।।१२०।।

पूर्वोक्त अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं यथा—हे सखे ! इस शतक में कहे हुए ये सब भाव, आपने ही मेरे हृदय में उत्पन्न किये हैं, अतः स्वयं उत्पादित भावों की पूर्ति भी, आप को स्वयं करनी ही उचित है ।।१२०।।

शतकान्ते स्वेष्टदेवं प्रणमति आर्यया—

हृदि यस्य प्रेरणया, व्यलिखं यस्यैव प्रार्थनाशतकम् ।
तस्मै नमोऽस्तु हरये, सबलाय वयस्यवर्याय ।।१२१।।

अब, शतक के अन्त में अपने इष्टदेव को नमस्कार करते हैं, हृद्गत अन्तर्यामीरूप जिनकी प्रेरणा से, मैंने, यह प्रार्थनाशतक लिखा, उन्हीं मेरे मित्रवर्य श्रीहरि को श्रीबलदेवजी के सहित मेरा प्रणाम है ।।१२१।।

सदोषत्वेऽपि निर्दोषत्वं काव्यस्याह—

दोषा यद्यपि भूयांसः शतकेऽत्र भ्रमादयः ।
गुणायन्ते स्म ते सर्वे तथापि हरिकीर्तनात् ।।१२२।।

"दोष-सहित होनेपर भी, यह काव्य, निर्दोष है" इस बात का प्रतिपादन करते हैं, यथा—हे सज्जनो ! यद्यपि इस प्रार्थनाशतक में, भ्रम प्रमादादि और काव्यगत भी बहुत से दोष हैं तथापि वे सब, इस काव्य में अनवरत श्रीहरि का कीर्त्तन होने के कारण, गुणों का-सा ही आचरण कर रहे हैं अर्थात् गुण ही हो गये हैं । कारण कि, सच्छास्त्रों में इस विषय का इसी प्रकार निर्णय है कि—जिस काव्य में यथेष्ट तो शब्दालंकार अनुप्रास यमकादि हों और अर्थालंकार उपमा, अतिशयोक्ति आदि हों तथापि, जगत् को परम पवित्र करनेवाले श्रीहरि के नाम गुणादि का जिसमें किंचिद् भी यदि वर्णन न हो तो वह काव्य, परमहंसों के असेव्य काकतीर्थ ही बताया है । और जिस काव्य में रचना भी शिथिल हो, एवं अलंकारों का भी सर्वथा अभाव हो, परन्तु जनता के पापों को दूर करनेवाले भगवान् के यश से अंकित, नामों का उच्चारण यदि पद-पदपर हुआ है तो, वही सत्सेव्य परम कल्याण कारक वाक्य-विन्यास अर्थात् श्रेष्ठ काव्य है । कल्याणेच्छुकों को उसका ही सेवन करना चाहिये । श्रीहरि ने भी, श्रीउद्धवजी के प्रति एकादशस्कन्ध में यही कहा है कि हे उद्धव ! मेरे नाम, रूप, गुण, लीला आदि के वर्णन से रहित जो वाणी है वह वन्ध्या है, बुद्धिमान् को ऐसी बन्ध्या वाणी कभी भी धारणा नहीं करनी चाहिये ।।१२२।।

शतकं चैतत्स्वगुरुकरकमलयोः सादरं समर्पयति वसन्ततिलकावृत्तेन—

आचार्यवर्यकरपङ्कजयुग्ममध्ये
प्रेम्णाऽर्प्यते शतकमेतदु तत्कृपाप्तम् ।
गोलोकगोऽपि सुविलोक्य च दिव्यदृष्ट्या
दृष्ट्याऽऽर्द्रया स्वकरुणां मयि स प्रकुर्यात् ।।१२३।।

अब, इस शतक को मित्रभाव-संवलित ज्ञान भक्ति, शास्त्रावलोकन की शक्ति के देनेवाले अपने श्रीगुरुदेव के कर कमलों में सादर समर्पित करते हैं—श्रीगुरुदेवजू की कृपा से ही प्राप्त इस "प्रार्थनाशतक" को मैं, श्रीगुरुवर्य के युगल करकमलों में ही प्रेमपूर्वक अर्पण करता हूँ इस समय, दिव्यधाम श्रीगोलोक में विराजमान भी मेरे श्रीगुरुदेव, दिव्यदृष्टि से इसका अवलोकन करके, स्नेहमयी दृष्टि से मेरे ऊपर अपनी अहैतुकी कृपा करें। उनके श्रीचरणों में, मेरी यही करबद्ध प्रार्थना है ।।१२३।।

कार्पण्येन स्वस्वरूपं स्वगुरवे निवेदयति शिखरिण्या—

न ते वाक्ये श्रद्धाऽभवदहह किं पूर्तिविषये
न चाऽकार्षं किंचित् तव प्रियकरं कार्यममलम् ।
न जाने आचार्यप्रवर ! मम का स्यान्नु गतिः
समेषां शिष्याणामिव कुलकलङ्कं कलय माम् ।।१२४।।

हे श्रीगुरुदेव ! मैं अपने स्वरूप का आपके सामने क्या वर्णन करूँ ? मुझ हतभागे की तो यह दशा है कि—आपके वचनों का पालन करना तो दूर रहा उनमें मेरी हाय ? श्रद्धा भी नहीं हुई। और आपको प्रिय लगनेवाला कोई निर्मल कार्य भी मैंने नहीं किया, अतः हे आचार्यप्रवर ! मैं, नहीं जानता कि, मेरी क्या गति होगी ? आप तो मुझको अपने सम्पूर्ण शिष्य कुल का कलङ्क ही समझिये ।।१२४।।

निजाचार्यस्वरूपं दर्शयति शिखरिण्या—

गुरूणामस्माकं हरिचरणविश्वासविषये
वदामः किं मूढाः खलु वयमविश्वासविभवाः ।
अभूवन् विश्वासा इव जगति मूर्त्ता प्रकटिता-
स्तथाकर्तुं मादृग् जगति मनुजः कः प्रभवति ।।१२५।।

अब, अपने श्रीगुरुदेव के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं, यथा—हे सज्जनो ! अविश्वास ही जिनका वैभव है ऐसे महामूढ़ हमलोग, हमारे श्रीगुरुदेव के, श्रीहरिचरणों में विश्वास के विषय में क्या कहें ? वे तो मूर्तिमान् विश्वास ही जगत में प्रगट हुए थे। हमारे जैसा कुटिल-जन इस जगत में, श्रीहरिचरणों में उनका-सा विश्वास करने को कोई भी समर्थ नहीं है ।।१२५।।

पुष्पिताग्रा-वृत्तद्वयेन स्वगुरुमेव स्तौति—

गुणगणगणनां विधातुमीश-,स्तव किमु दीनजनोऽयमेकजिह्वः ।
सुरतरुतलमेत्य किं दरिद्र-,मतिरवगच्छति तं यथावदीश ! ।।१२६।।

गुरुवर ! विधुरे भवाटवीतो, मयि हतमेधसि सा कृपा विधेया ।
निरवधि ययका पदाब्जयोस्ते, मम रतिरस्तु च रामकृष्णपादे ।।१२७।।

हे सर्वसमर्थ श्रीगुरुदेव ! एक जिह्वावाला यह दीनजन, क्या आपके गुणों की गणना कर सकता है ? अपितु नहीं। दरिद्र-बुद्धिवाला मनुष्य, कल्पवृक्ष के नीचे जाकर भी, क्या उसके स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लेता है ? ।।१२६।। हे गुरुवर ! संसाररूप वन में, अनादिकाल से भ्रमण करने से, महान् दुखित एवं मन्दबुद्धि मुझपर भी, वह कृपा कीजिये जिससे कि, निरन्तर आपके श्रीचरणों में एवं चिरसुहृद श्रीराम-कृष्ण के श्रीचरणों में मेरी अटल प्रीति हो जाय ।।१२७।।

शार्दूलविक्रीडित-द्वयेन तमेव स्तौति—

काठिन्येन तवाप्तिरद्य घटिता संसेविते शङ्करे
वाञ्छा यादृशदेशिकस्य समभूत् तादृक् त्वमाप्तो मया ।
सच्छास्त्राणि सनैगमानि हृदये कञ्जानि वाप्यामिव
नित्यं यस्य लसन्ति तस्य तव को मादृग् गुणान् कीर्तयेत् ।।१२८।।

श्रीशंकरजी की सेवा करनेपर बड़ी कठिनता से, आज आपकी प्राप्ति हुई है। जैसे श्रीगुरुजी की इच्छा थी वैसे ही आप मुझको मिल गये। जिनके हृदय में वेद, पुराणादि सब शास्त्र, सरोवर में कमलों के समान, नित्य ही खिले रहते हैं, ऐसे आपके गुणों को यथार्थरूप से मुझ जैसा पामर, कैसे कह सकता है ? ।।१२८।।

हे श्रीदेशिकवर्य ! वर्यचरित ! प्रज्ञावधे ! ज्ञावधे !
मिथ्यादृष्टिमहीध्रपक्षभिदुराऽशान्ताय शान्तिप्रद ! ।
मादृक्पामरजीवभीषणपशोर्मोक्षाय दीक्षागुरो !
मां दुष्टप्रवरं समुद्धर विभो ! संसारवारां निधेः ।।१२९।।

हे श्रीगुरुवर्य ! आपका चरित्र बहुत ही सुन्दर है ! आप प्रज्ञा की अवधि हैं ! और ज्ञान की भी अवधि है ! और नास्तिकतारूपी पहाड़ के पक्ष छेदन करने को तो आप, वज्र के समान ही हो ! और अशान्त पुरुषों को भी शान्ति प्रदान करनेवाले हो ! और मेरे जैसे पामर जीव ही भयंकर पशु तुल्य हैं, उनकी मोक्ष के लिये भी आप बद्धपरिकर हैं !। हे विभो ! मुझ दुष्टप्रवर का, संसार-सागर से उद्धार कर दीजिये ।।१२९।।

ग्रन्थपूर्तिकालमभिधत्ते वसन्ततिलकया—

शून्येन्दुशून्यनयनैश्च मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कनृपतेरपि माघमासे ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति-,रेतल्लिलेख शतकं वनमालिदासः ।।१३०।।

श्रीवृन्दावनवास की महिमा से ही जिसको कविता शक्ति का लाभ हुआ है, उसी "वनमालिदास" ने श्रीवृन्दावन में ही एकान्त में बैठकर—वि० सं० २०१० के माघ मास में इस "श्रीवनमालिप्रार्थनाशतक" को लिखकर सम्पूर्ण किया है ॥१३०॥

पठन्ति ये नरा नित्यं प्रार्थनाशतकं त्विदम् ।
भावनां पूरयँस्तेषां तेषु कृष्णः प्रसीदति ॥१३१॥

जो मनुष्य, श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक इस प्रार्थनाशतक का, नित्यप्रति पाठ करते हैं, उनकी सम्पूर्ण भावना को पूर्ण करते हुए श्रीकृष्ण, उनपर परम प्रसन्न हो जाते हैं ॥१३१॥

इति श्रीनिखिलशास्त्रपारावारपारदृश्व-सख्यावताराष्टोत्तरशत-स्वामि-श्रीकृष्णानन्ददासजी-महाराज-शिष्येण काव्यतीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा विरचितं भाषाटीकासहितं "श्रीवनमालिप्रार्थनाशतकं" सम्पूर्णम्

अथ सूक्ष्मं श्रीचैतन्यलीलामृतम्

अद्वैतार्थनया पुरा तु जननं शच्यां जगन्नाथतः
पश्चादध्ययनञ्च कीर्तनमहायज्ञस्य सञ्चारणम् ।
काजीशाक्तमनुष्यमाधवजगन्नाथद्विजोद्धारणम्
सन्न्यासग्रहणं ततश्च भगवत्प्रेम्णा जगत्तारणम् ॥१॥

षड्गोस्वामिगणं ततः स्वकृपया प्रापय्य वृन्दावनम्
गूढस्थानविघाटनं तदनु भक्तैस्तावकोद्घाटनम् ।
नीलाद्रिस्थितसार्वभौममतमायावादिनां खण्डनम्
इत्युक्तं वनमालिदासशिशुना चैतन्यलीलामृतम् ॥२॥

निर्माणकालः—
वि० सं० २००२ भाद्रपद कृष्णजन्माष्टमी ।

❀ श्रीगुरुदेव-प्रार्थना ❀

[ले०—श्रीअमरचन्दजी गौड़, मु० बुडाला, जि० जालन्धर]

गुरुदेव तुम्हीं सरवस मेरे, सब झूँठा जग का नाता है।
है आप बिना अब कौन मेरा, कोई पिता नहीं नहिं माता है॥
यह देश विराना लगता है, घरवार न हमें सुहाता है।
यह मन मलिन्द थिर नहीं होता, पदपङ्कज को ललचाता है॥
श्रीवृन्दावन की भूमि में, मेरा भी रहना हो जावे।
हो जावे जन्म सुफल मेरा, चरणों में रहना हो जावे॥
यह प्रथम आपका कहना है, गुरुजी सों बात छिपावे ना।
सन्देह-रहित सब कह देवै, जो बात समझ में आवे ना॥
यह लगन लगी रहती हरदम, चरणों के बीच निवास करूँ।
आँखों से रूप-सुधा पीकर, मन प्रेम के सिंधु डुवाया करूँ॥
यह बड़े भाग्य से योग हुआ, चरणों से परे हटाना ना।
है प्यास आपके दर्शन की, बिन दर्शन के तड़पाना ना॥
शेष हैं दिन जो जीवन के, इन चरणों ही में कट जावें।
गुरुदेव कृपा की कोरों से, सब दुःख जन्म के मिट जावें॥
बाँह पकड़ कर तुमने ही, कितनों को जग में तारा है।
मुझ दीन हीन पै कृपा करो, ये ही सन्देश हमारा है॥
यह सीस गुरु के चरणों में, मैंने अब अर्पण कर दीन्हा।
इसको अब परे हटाना ना, जो सीस चरण पर धर दीन्हा॥
असली है अर्ज यही मेरी, मुझे अपने पास बुला लेना।
इस 'अमरचन्द' को दास समझ, पदपङ्कज से लिपटा लेना॥

श्रीराधारमणो जयति

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम्

श्रीमन्माध्वगौडेश्वरौ विजयेतेतमाम्

श्रीराधारमणशतकम्

निखिलशास्त्रपारावारपारदृश्व-सख्याऽवताराष्टोत्तरशत-स्वामि
श्रीकृष्णानन्ददासजीमहाराज-शिष्येण श्रीगोपालचम्पू-
श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू-श्रीपद्यावली-श्रीभक्ति-
ग्रन्थमाला-श्रीस्तवरत्ननिधि-प्रभृतिप्राचीन-
ग्रन्थानां टीकाकारेण काव्यवेदान्त-
तीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना
श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा
प्रणीतम् ।

●

तेनैवाऽनूदितं संशोधितं प्रकाशितं च

द्वितीयावृत्तिः ५०० } **शिवचतुर्दशी वि० सं० २०३२** { निछावर प्रेम पूर्वक पाठ

॥ सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम् ॥

भूमिका

आज से बत्तीस वर्ष पहले वि० सं० १९९९ में वैशाख शुक्ला पौर्णमासी के दिन श्रीवृन्दावन में राधारमणजी के मन्दिर में, श्रीराधारमणजी की चतुःशताब्दी जयन्ती का महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया था। उसके अन्तर्गत एक कविसम्मेलन भी हुआ था, उसके सभापति पूज्यपाद गो० श्रीवनमालीलालजी महाराज थे। उस समय अभिनव व्याकरणाचार्य गो० श्रीरासविहारीजी शास्त्री के समीप में मैं व्या० शा० का प्रथम खण्ड दे रहा था। आपने मुझे कुछ समस्या पूर्ति के लिये दीं और कहा कि, तुम श्रीराधारमणजी के प्रागट्य के विषय में कोई काव्य लिखो, जयन्ती के दिन सभा में सुना दिया जायगा। बस, उनकी कृपा का शंबल और बल श्रीराधारमणजी का प्राप्त हुआ, पश्चात् तत्काल उसी दिन "श्रीराधारमण-शतक" मेरे मुख से प्रगट हुआ। वै० शु० पौर्णमासी की रात्रि के ८ बजे से सभा का कार्य प्रारम्भ हुआ। क्रमशः सभी विद्वानों ने अपनी-अपनी समस्यायें सुनाईं, पश्चात् मेरी भी वारी आई। समस्या पूर्ति सुनाकर 'श्रीराधारमणशतक" सुनाया। श्रीवृन्दावन व मथुरा के प्रमुख-प्रमुख सभी विद्वान् सभा में उपस्थित थे। सभापति महोदय मुझ अत्यल्पवयस्क बालक की रचना पर विशेष प्रसन्न हुए और पुरस्कार देते हुए कहा कि— "श्रीराधारमणशतक" एकबार और सुनाओ। मैंने भी उनकी आज्ञानुसार सुनाया। उपस्थित सभी विज्ञजन और सभासद् सुनकर परम प्रसन्न हुए। उसी समय प्रसन्न होकर पूज्य गोस्वामीजी ने मुझे "घटिका-शतक" उपाधि से अलंकृत कर दिया। अब सुनिये—"श्रीराधारमणशतक" में वर्णित विषय का दिग्दर्शन यथा—आज से ४९१ वर्ष पहले स्वभजन-विभजन-प्रयोजनाय पतित-जन-पावनाय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही नवद्वीप में श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी के स्वरूप में अवतीर्ण हुए थे। २४ वर्ष गृहस्थाश्रम में बिताकर सन्यास ग्रहण किया। तदनन्तर श्रीहरिनाम का प्रचार करते हुये दक्षिण दिशा में आये। वहाँ पर कावेरी नदी के किनारे श्रीरङ्गनाथ नाम के नगर में, श्रीवेंकटभट्टजी से आपका सम्मेलन हुआ। वर्षा के आजाने के कारण श्रीमहाप्रभुजी ने वहीं चातुर्मास्य व्रत किया। श्रीभट्टजी ने अपने सुपुत्र श्रीगोपालभट्टजी को श्रीमहाप्रभुजी की सेवा में सदैव के लिये समर्पण कर दिया। श्रीमहाप्रभुजी ने शिक्षा दीक्षा देकर श्रीगोपालभट्टजी को श्रीवृन्दावन भेज दिया। वहाँपर रहकर श्रीभट्टजी ने

"श्रीहरिभक्तिविलास" प्रभृति ग्रन्थों की रचना की। एक समय आप भक्ति का प्रचार करते हुये श्रीगण्डकी नदी में स्नान करने गये। स्नान के अनन्तर सूर्य को अर्घ देते समय आपकी अंजलि में एक अत्यन्त सुन्दर शालग्राम की मूर्ति आ गयी, पश्चात् जल भरने के लिये कमण्डलु, ज्यों ही जल में डुबाया त्यों ही कमण्डलु में भी ११ शालग्राम आ गये। पश्चात् आप वृन्दावन पधारे, इन्हीं प्रथम प्राप्त शालग्राम मूर्ति से श्रीराधारमणजी का प्रागट्य हुआ है। जो इस शतक में विस्तारपूर्वक वर्णित है। वही दिव्यमूर्ति श्रीधाम वृन्दावन में, श्रीराधारमणजी के मन्दिर में आज भी विराजमान है। भाग्यशील जन प्रतिदिन दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। वस, मैंने तो महापुरुषों से यथाश्रुतं यथाधीतं यथामति के अनुसार लिख दिया है। यदि कोई त्रुटि भी रह गई हो तो विज्ञजन सुधार लेंगे। बालक ने तो अपना पाठ सुना दिया।

इति निवेदयति—विनीतो—**वनमालिदासः**

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

(लेखक—कुँवर हरिश्चन्द्रदेव वर्मा "चातक")

श्रीमदनवद्य श्रद्धेय शास्त्री जी सादरं स्नेहाञ्जलयः।

चि० गं० प्र० द्वारा आपका करकमलाङ्कित पत्र प्राप्तकर परमानन्द-सन्दोह हुआ। १—श्रीसख्य-सुधाकरः। २—श्रीभक्तनाममालिका पुस्तकद्वय प्राप्त हुई। अनिर्वचनीयानन्द उपलब्ध हुआ। आप काव्यकला निष्णात हैं—पदे पदे आपकी प्रतिभा दृग्गोचर हो रही है।

'सख्यसुधाकर' के दर्शन कर शीतल हृदय हुआ मेरा
'भक्तनाममालिका' पहिन कर मिटा भेद मेरा तेरा।
श्रीवनमालिदास बन पहिले पुनः सखा का पद पाया
भव-से तप्त प्राणियों के हित 'सख्य-सुधाकर' प्रगटाया॥

अस्तु मैं तो, यत्र-तत्र पुस्तकों को देखकर खिल उठा। आपका अनुवाद इतना सुन्दर है कि, जी चाहता है आपकी लेखनी को, नहीं नहीं उन अँगुलियों को, नहीं नहीं उस हृदय को ही चूम लूँ आलिङ्गन में भर लूँ। धन्य हैं आप कृतविद्य वश्यवाक् कविरत्न।

★

* श्रीराधारमणो जयति *

श्रीराधारमणशतकम्

उपगीतिछन्दः प्रथमम्—

श्रीराधारमणाख्यं, शतकं वनमालिदासेन ।
क्रियते तद् वनमालिन् !, वनमालेवाऽऽत्मसात् क्रियताम् ।।१।।
देवभाषाऽनभिज्ञैस्तु दुर्ज्ञेयं शतकं त्विदम् ।
इति मत्वा मूलकर्त्रा भाषाटीकाऽपि लिख्यते ।।

हे श्रीमन् ! सखे ! वनमालिन् ! यह "श्रीराधारमणशतक"-नाम का जो शतक, आपके ही सखा "वनमालिदास" बना रहे हैं, इसे आप वनमाला की भाँति सहर्ष स्वीकार कर लीजिये ।।१।।

सख्यसंवलितज्ञानभक्तिदं स्वगुरुं स्तौति, आर्याछन्दसा—

यस्य कृपालव-शक्त्या, शक्तः शतकं त्वहं विनिर्मातुम् ।
स जयति गुरुदेवो मे, श्रीकृष्णानन्ददासाख्यः ।।२।।

अब सख्य-भाव युक्त ज्ञान एवं भक्ति के देनेवाले निज गुरुवर को स्तुति करते हैं कि—जिनकी कृपा के लेशमात्र से, सर्वथा असमर्थ भी मैं, शतक निर्माण करने को समर्थ हुआ हूँ, वे ही पूज्यपाद १०८ "स्वामि श्रीकृष्णानन्ददासजी"-नामक मेरे श्रीगुरुदेवजी की जय हो ।।२।।

स्वेष्टदेवसहितान् स्वसम्प्रदायाचार्यान् स्तौतिअनुष्टुब्वृत्तेन—

सखायौ रामकृष्णौ मे जयतः स्म निरन्तरम् ।
जयन्ति मध्वगौराङ्ग-नित्यानन्दा जगद्धिताः ।।३।।

अब अपने इष्टदेव सहित अपने सम्प्रदायाचार्यों की स्तुति करते हैं यथा—मेरे सनातन सखा श्रीरामकृष्ण की जय हो. और जगत् के हित के लिये ही जिनका पृथ्वीतल पर अवतार हुआ है वही मेरे पूज्य-चरण आचार्य-वर्य "श्रीमध्व" "श्रीगौराङ्ग महाप्रभु" "श्रीनित्यानन्द महाप्रभु जी" की सदा जय हो ।।३।।

वाणीविनायकौ स्तौति आर्यावृत्तेन सादरम्—

सा जयति श्री वाणी, भक्तिग्रन्थेषु मोदमाना या ।
स जयति गणाधिराजो, विघ्नान् हन्तुं समर्थो यः ।।४।।

अब आदर-पूर्वक श्रीवाणी विनायक की स्तुति करते हैं यथा—उन श्रीसरस्वतीजी की जब हो कि जो, भक्ति प्रतिपादक ग्रन्थों में ही सदा प्रसन्न रहती हैं। और उन श्रीगणेशजी महाराज की सदा जय हो कि—जो, विघ्नों को निवारण करने में परमसमर्थ हैं ॥४॥

विद्यागुरूनभिनन्दति अनुष्टुभा—

जयन्ति विद्यागुरवो येभ्यो विद्यां समध्यगाम्।
यद्दत्त-विद्याविभवै-र्ग्रन्थान् प्राचीकटं बहून् ॥५॥

अब विद्यागुरुओं का अभिनन्दन करते हैं यथा—मेरे पूज्यपाद उन सब विद्यागुरुओं की जय हो कि, निज के द्वारा दी हुई विद्या के वैभव से मैंने बहुत से ग्रन्थ प्रगट किये हैं ॥५॥

शार्दूलविक्रीडितद्वयेन श्रीगोपालभट्टगोस्वामिनं तदिष्टदेवं श्रीराधारमणं च स्तौति—

येषां चित्तसरोवरे प्रकटितं त्वासीत् पदाब्जं हरे-
नैवेद्यं च निवेदयन्ति विविधं नानानुरागं स्म ये।
श्रीवृन्दावनजं निपीय रसकं जाताः स्वयं ये रसा
गृह्णन्ति स्म गृणांस्त्यजन्त्यगुणकान् ये भक्तभूपा मताः ॥६॥

शीलौदार्य-कृपा-क्षमादिनिलया धर्मस्य ये सेतव
आसँस्ताँस्तु मुहुर्नतोऽस्मि शिरसा गोपालभट्टानहम्।
श्रीराधारामणं तथैव शिरसा नत्वा ततो वर्णये
शालग्रामतनोर्यथा प्रकटितं रूपं हरेः सुन्दरम् ॥७॥

अब दो श्लोकों से पूज्यचरण १०८ श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी महाराज की तथा उनके इष्टदेव श्रीराधारमणजी की स्तुति करते हैं यथा—मैं, पूज्यपाद उन श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी महाराज को बारम्बार साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करता हूँ, जिनके कि, चित्तरूपी-सरोवर में श्रीहरि के चरणकमल सदा ही खिले रहते थे, और जो अनेक प्रकार के नैवेद्य को अनुराग पूर्वक श्रीहरि के समर्पण करते थे, एवं जो वृन्दावन से जायमान दिव्यरस का पान कर स्वयं रसस्वरूप हो गये थे, और जो प्राणीमात्र में गुणों का ही ग्रहण करते थे, अवगुणों को त्याग देते थे और जो भक्त भूप थे, और जो शील, उदारता, कृपा, क्षमा, आदि के स्थान एवं धर्म के सेतु थे। उसी प्रकार श्रीराधारमणलालजी को भी प्रणाम करके अब उस विषय का वर्णन करता हूँ कि, जिस प्रकार "शालग्राम" जी से अत्यन्त सुन्दर श्रीराधारमणजी का प्रागटच हुआ था ॥६-७॥

विदुषः प्रणमति वसन्ततिलकावृत्तेन—

विद्वज्जनास्तु मम मूर्खवरस्य दोषान्, बालोऽयमित्यविगणय्य पुनः प्रसन्नाः ।
भक्तिं हरेश्चरणपंकजयुग्ममध्ये, दास्यन्ति नूनमिति ताञ्शिरसा नतोऽस्मि ।।८

विद्वज्जन तो "यह बालक है" ऐसा समझ कर, मुझ मूर्ख श्रेष्ठ के दोषों को ध्यान में न लाकर, अपितु प्रसन्न होकर श्रीहरि के पादारविन्द द्वन्द्व में भक्ति ही प्रदान करेंगे । अतः नत मस्तक हो मैं, उनको भी प्रणाम करता हूँ ।।८।।

उपोद्घातमाह-तत्र पूर्वमुपेन्द्रवज्रा वंशस्थद्वयं ततः कतिपयानि अनुष्टुब्वृत्तानि ज्ञेयानि—

अहैतुकी जीवसमूहकेषु, कृपा हरेर्वर्तत एव नित्यम् ।
जना हरिं बुद्धिपथात् कथंचि-,न्निवारयन्तां न हरिर्हि ताँस्तु ।।९।।

अब प्रकृत वस्तु की सिद्धि के लिये कुछ उपोद्घात वर्णन करते हैं यथा—करुणावरुणालय श्रीहरि की तो जीव समूहोंपर सदैव से अहैतुकी कृपा विद्यमान है, जीव चाहे अपने बुद्धि पथ से श्रीहरि को हटा दें, परन्तु श्रीहरि तो उनको कभी भी नहीं हटाते हैं ।।९।।

शरीरिणो यान्ति यदा हरिं मुधा, त्वधिक्षिपन्तो हि पराङ्मुखाग्रताम् ।
हरिस्तदैवोद्धरणाय संसृते-,र्युगे युगे स्वां तनुमाप्रकाशते ।।१०।।

जीव जब श्रीहरि की निन्दा करते करते विमुखता की पराकाष्ठापर पहुँच जाते हैं, कृपालु हरि तभी उनका संसार से उद्धार करने के लिये युग-युग में अवतार धारण करते रहते हैं ।।१०।।

केनाऽपि कर्हिचिज्जीवान् रूपेण नयते हरिः ।
सविधे च वितीर्य स्वां प्रेमभक्तिमलौकिकीम् ।।११।।

और श्रीहरि, कभी किसी रूप से अपनी अलौकिक प्रेम भक्ति का दान कर जीवों को अपने पास बुला लेते हैं ।।११।।

भक्तेश्चैव प्रचारार्थं गुर्वाचार्यमहात्मनाम् ।
अवतीर्य स्वरूपेण कदाचित्कुरुते दयाम् ।।१२।।

और कभी भक्ति के प्रचार के लिये श्रीगुरु, आचार्य एवं महापुरुषों के रूप से अवतीर्ण होकर जीवोंपर दया दृष्टि करते हैं ।।१२।।

तथ्येन चोपदेशेन सर्वदोपकरोति वै ।
दयालुः सततं विष्णुराचर्य च तथाऽऽत्मना ।।१३।।

और सर्वदा दयालु प्रभु स्वयं आचरण करके सत्य उपदेश से जीवों का सदा उपकार ही करते रहते हैं ।।१३।।

एवं निरन्तरं जीवान् धर्ममार्गच्युतान्मुहुः ।
दर्शयन् सत्यमध्वानं हरिरुद्धरत्युत्पथात् ।।१४।।

इस प्रकार निरन्तर धर्ममार्ग से च्युत हुए जीवों को बारम्बार सच्चा रास्ता दिखाते हुये बुरे मार्ग से रक्षा करते रहते हैं ।।१४।।

एवं यदा कलेर्दोषाज्जीवा उत्पथगामिनः ।
अधर्मे धर्म मन्वाना जाताः सद्भावनाशकाः ।।१५।।
स्वप्रतिज्ञानुसारेण हरिणा बन्धुरूपिणा ।
तदाऽवतीर्य श्रीकृष्ण-चैतन्यप्रभुरूपके ।।१६।।
उच्चावचजेनेभ्योऽपि दानं नाम्नो हरेः कृतम् ।
एवं चैतन्यदेवोऽपि जीवानुद्धार्य संसृतेः ।।१७।।
अन्तर्धानं गतः किन्तु भक्तेच्छापूर्तिहेतवे ।
पुनः प्रकटितं रूपं शश्वद् भक्तजनप्रियम् ।।१८।।

और इसी प्रकार कलि के दोषों से जीव जब उत्पथगामी होगये और अधर्म में धर्म को मानते हुये सद्भाव के नाशक हो गये, तब अपनी गीतोक्त प्रतिज्ञानुसार प्राणीमात्र के बन्धुस्वरूप श्रीहरि ने "नवद्वीप में" श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतार लेकर उच्च नीच सभी श्रेणी के जीवों को अपनी अहैतुकी कृपा से श्रीहरि नाम का वितरण किया। इस प्रकार श्रीचैतन्य देव भी जीवों का संसार सागर से उद्धार करके अन्तर्धान होगये। परन्तु भक्तों की इच्छा पूर्ति के लिये निरन्तर भक्तजन मनोहर रूप को श्रीहरि ने पुनः प्रगट कर दिखाया ।।१५-१८।।

एवं मुहुर्मुहू रूपं प्रकटय्य दयालुना ।
हरिणा कार्यते प्रेम-रसास्वादो जनाय वै ।।१९।।

इसी प्रकार दयालु श्रीहरि, अपने मनोहर श्रीविग्रह को बारम्बार प्रगट कर अपने भक्तों को प्रेमलक्षणा भक्ति के रस को चखाते रहते हैं ।।१९

यद्-भक्तप्रेमरशना-वद्धैः प्रकटितं यथा ।
मधुरं हरिभी रूपं तदिदानीं निवर्ण्यते ।।२०।।

श्रीहरि ने जिन भक्तवर्य की प्रेम रूपी डोरी में बँधकर, परम मधुर रूप को जिस प्रकार प्रगट किया था उसको अब वर्णन करते हैं ।।२०।।

कथांशः प्रारभ्यते—

वैक्रमीये मिते वर्षे द्व्यब्धिभूतसुधांशुभिः ।
श्रीनवद्वीपके चैव कलिपावन-हेतवे ।।२१।।

कृष्णचैतन्यरूपेण हरिराविर्बभूव ह ।
चतुर्विंशतिवर्षाणि गृहस्थाश्रममध्यके ।।२२।।
यापयित्वा तु जग्राह ततः संन्यासकं किल ।
प्रचारयन् स्वकं नाम ततो दक्षिणमागतः ।।२३।।

विक्रम सम्वत् १५४२ में फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन सायंकाल में श्रीहरि कलियुग को पवित्र करने के लिये श्रीनवद्वीप धाम में पं० श्रीजगन्नाथ मिश्र जी के घर, श्रीमती पूजनीया माता शचीदेवी के द्वारा, श्रीकृष्णचैतन्य-रूप से प्रगट हुए थे। २४ वर्ष गृहस्थाश्रम में बिताकर, पूज्यपाद श्रीकेशव-भारतीजी से सन्यास ग्रहण कर लिया। और अपने श्रीहरिनाम का प्रचार करते हुए दक्षिण दिशा में पधारे ।।२१-२३।।

इतः शार्दूलविक्रीडितत्रयम्—

कावेरीतटवर्त्तिपत्तनवरे श्रीरङ्गनाथाख्यके
श्रीचैतन्यप्रभोर्यदा सुगमनं तर्ह्येव वर्षाऽऽगता ।
श्रीरङ्गेऽपि च मेलनं समजनि श्रीवेङ्कटाख्यैर्बुधै-
र्भट्टोपाह्वयुतैः पुनश्च प्रभुणा तत्रैव वासःकृतः ।।२४।।

श्रीकावेरी नदी के किनारेपर वर्तमान 'श्रीरङ्गनाथ' नामक नगर में, श्रीचैंतन्य महाप्रभुजी जब पधारे उसी समय इनकी सेवा के लिये ही मानो अगवानी वर्षा ऋतु भी उपस्थित होगई। श्रीरङ्गक्षेत्र में भी, 'श्रीवेङ्कटभट्ट' नामक विज्ञवर्य से, श्रीप्रभुजी का सम्मेलन हुआ और भट्टजी के आग्रह से वहीं चातुर्मास्य व्रत करना आरम्भ कर दिया ।।२४।।

आसीद् भट्टमहोदयस्य च शिशुर्गोपालभट्टाख्यको
यः सेवाकरणे प्रभोः पटुतमः सेवानिमग्नोऽभवत् ।
कस्मिंश्चित्तु दिने प्रसंगवशतो वाक्यं प्रभोः श्रीमुखाद्
भट्टं बोधयितुं द्रुतं विनिसृतं पुत्रो न ते लौकिकः ।।२५।।
श्रीराधावरकुञ्जगा हि गुणमञ्जर्येव तेऽयं शिशु-
रुद्धारो भविता शिशोस्तव बलाज्जीवावलेः संसृतेः ।
यत्नेनाऽयमतो विचार्य मनसा संरक्षितव्यस्त्वया
श्रुत्वैवंबिधमात्मजं प्रमदकं भट्टस्त्वु लेभे मुहुः ।।२६।।

श्रीवेङ्कटभट्टजी के 'श्रीगोपालभट्ट'-नामक सुपुत्र जो थे वे सेवा करने में अत्यन्त चतुर थे, अतः श्रीमहाप्रभुजी की सेवा में निमग्न हो गये। प्रदनन्तर प्रसङ्गवशात् किसी दिन, प्रभुजी के श्रीमुख से भट्टजी को समझाने के उद्देश्य से यह वाक्य सहसा निकल पड़ा कि—हे भट्टजी ! आपका यह

पुत्र, लौकिक नहीं है, अपितु श्रीराधारमणजी की निकुञ्जगामिनी "श्रीगुण-मंजरी" सखी का ही अवतार है, और तुम्हारे पुत्र के द्वारा बहुत से जीवों का संसार सागर से उद्धार होगा। अतः मन से विचार कर यत्नपूर्वक आपको इसकी रक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार के वचनों को सुनकर भट्टजी को महान् आनन्द प्राप्त हुआ ॥२५-२६॥

वेङ्कटाख्यास्ततो भट्टा अर्पयन्तो मुदा शिशुम्।
ऊचुरेवंविधं वाक्यं नेतव्योऽयं शिशुः प्रभो! ॥२७॥

तदनन्तर श्रीवेङ्कटभट्टजी, अपने सुपुत्र को श्रीप्रभुजी के समर्पण करते हुए यों बोले कि—हे प्रभो! इस बालक को आप सदैव के लिये अपनी सेवा में ही ले लीजिये ॥२७॥

वैक्रमीये मिते वर्षे त्वष्टषड्भूतभूमिभिः।
मासे तु कार्तिके चैव शुक्ले पक्षे तथैव च ॥२८॥
एकादश्यां तु गोपालभट्टः श्रीप्रभुणा कृतः।
दीक्षितो मन्त्रराजेन गोपालाख्येन चैव हि ॥२९॥

तदनन्तर वि० सं० १५६८ में कार्तिक मास के शुक्लपक्ष में एकादशी के दिन श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीगोपालभट्टजी को मन्त्रराज 'श्रीगोपाल'-नामक मन्त्र से दीक्षित कर दिया ॥२८-२९॥

ततस्तु बोधयन् गुप्तं रहस्यं प्रभुरुक्तवान्।
वत्स! गोपाल! गन्तव्यं त्वया वृन्दावने शुभे ॥३०॥

तदनन्तर गुप्त रहस्य को समझाते हुए श्रीप्रभुजी ने कहा कि—हे वत्स! गोपाल! तुम मेरी आज्ञा से मङ्गलमय श्रीधाम वृन्दावन चले जाओ ॥३०॥

तत्राऽन्तरङ्गभक्ता मे बहवो निवसन्ति हि।
श्री सनातनरूपाद्याः सङ्गमस्तैर्भविष्तति ॥३१॥

वहाँपर श्रीसनातन एवं श्रीरूपादिक मेरे बहुत से अन्तरङ्ग भक्त रहते हैं उनसे तुम्हारा समागम होगा ॥३१॥

साकं तैर्भक्तितत्त्वस्य प्रचारः क्रियतां त्वया।
तथा श्रीकृष्णचन्द्रस्य लीलाभूमेः प्रकाशनम् ॥३२॥

वहाँ जाकर तुम उन सबके साथ भक्तितत्त्व का प्रचार करना और श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाभूमि को भी प्रकाशित करना ॥३२॥

ततश्चैतन्यदेवोऽपि विरहाकुलितान् हि तान्।
परित्यज्य तथा मार्गे बहूञ्जीवान् समुद्धरन् ॥३३॥

हरिनामोपदेशं च कुर्वन्नीलाचलं ययौ ।
इतो गोपालभट्टाश्च बभूवुर्विरहाकुलाः ।।३४।।

इस प्रकार का उपदेश कर तदनन्तर श्रीचैतन्य महाप्रभुजी भी, अपने विरह से व्याकुल श्रीगोपालभट्टजी को छोड़कर तथा मार्ग में बहुत से विमुख जीवों का उद्धार करते हुए और श्रीहरिनाम का उपदेश करते हुए नीलाचल अर्थात् श्रीजगन्नाथजी पधारे । इधर श्रीगोपालभट्टजी भी श्रीप्रभुजी के विरह से व्याकुल होगये ।।३३-३४।।

पुनश्चाज्ञामनुस्मृत्य प्रभो-र्वृन्दावनं प्रति ।
यातुं तु दधिरे चेतो यायासुर्वा ततः कथम् ।।३५।।
पित्रोः स्थविरयोराज्ञां विना यानं सुदुष्करम् ।
अतो गोपालभट्टानां चित्ते चिन्ता बलीयसी ।।३६।।

तदनन्तर श्रीप्रभुजी की आज्ञा का अनुस्मरण करते हुए श्रीवृन्दावन जाने को, श्रीभट्टजी मन तो करते थे, परन्तु सहसा वहाँ से जायँ कैसे ? कारण कि, वृद्ध माता पिता की आज्ञा बिना तो जाना अत्यन्त कठिन था, अतः श्रीगोपालभट्टजी के चित्त में महती चिन्ता रहती थी ।।३५-३६।।

वैक्रमीये मिते वर्षे सिद्धचष्टभूतभूमिभिः ।
यातुं वृन्दावनं पित्रोराज्ञा जाता सुखप्रदा ।।३७।।
तत्क्षणं पञ्जरान्मुक्तो यथोड्डीय शुको व्रजेत् ।
तथा गोपालभट्टाश्च श्रीमद्-वृन्दावनं ययुः ।।३८।।

तदनन्तर वि० सं० १५८८ में श्रीवृन्दावन जाने के लिये माता पिता की सुखप्रद आज्ञा सहर्ष होगई । आज्ञा पाते ही श्रीगोपालभट्टजी, तत्क्षण इस प्रकार सहर्ष वृन्दावन चल दिये जैसे कि, पिंजरे के बन्धन से मुक्त होकर तोता उड़ कर चला जाता है ।।३७-३८।।

यत्र श्रीकृष्णचैतन्यप्रभोराज्ञानुगामिनौ ।
भक्तौ श्रीकृष्णरक्तौ चोषतू रूपसनातनौ ।।३९।।
ताभ्यां गोपालभट्टानां सङ्गमः प्रागभूत् किल ।
ततो गोपालभट्टैश्च रचितोऽप्यति-सुन्दरः ।।४०।।
भक्तेस्तत्त्वप्रबोधाय रुजामिव निदानवत् ।
हरिभक्तिविलासाख्यो ग्रन्थो भक्त-मनोरमः ।।४१।।

जिस वृन्दावन में, श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की आज्ञानुसार चलनेवाले, एवं श्रीकृष्ण में परमानुराग रखनेवाले, भक्तवर्य श्रीरूप सनातनजी दोनों भाई रहते थे । श्रीगोपालभट्टजी का सर्वप्रथम इन्हीं महापुरुषों से समागम

हुआ। तदनन्तर श्रीगोपालभट्टजी ने भक्ति के सम्पूर्ण रहस्यमय तत्त्व को जानने के लिये "श्रीहरिभक्ति-विलास"-नामक अत्यन्त सुन्दर भक्तजन मनोरम ग्रन्थ बनाया। रोगों के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये जैसे "माधव निदान" है तद्वत् ।।३९-४१।।

ततः कतिपयाहःसु यातेषु प्रेषितस्तु तैः।
वृन्दावनेऽहमायात इत्युदन्तः स्वकः प्रभोः ।।४२।।
समीपं वैष्णव-द्वारा शुभे नीलाचले पुरे।
वैष्णवेन ततो गत्वा वाचिकं श्रावितं द्रुतम् ।।४३।।

तदनन्तर कुछ दिन व्यतीत होजाने पर श्रीभट्टजी ने, श्रीमहाप्रभुजी के पास, श्रीजगन्नाथजी में, एक वैष्णव द्वारा अपना यह वृत्तान्त कहला भेजा कि—प्रभो ! मैं श्रीवृन्दावन में आगया हूँ। वृत्तान्तवाहक उस वैष्णव ने जाकर शीघ्र ही यह वृत्तान्त सुना दिया ।।४२-४३।।

श्रुत्वा स्वशिष्यवृत्तान्तं तुष्टः प्रभुरभूद् बहु।
ततश्च प्रभुणाप्येकं लिखित्वा पत्रकं द्रुतम् ।।४४।।
प्रेषितं च तथा सार्धं दामकौपीनपट्टकाः।
गोपालभट्टसविधे प्रेषिताः प्रेमसूचकाः ।।४५।।

अपने शिष्य के वृत्तान्त को सुनकर श्रीप्रभुजी अत्यन्त प्रसन्न हो गये। तदनन्तर श्रीप्रभुजी ने भी, एक पत्र लिखकर श्रीगोपालभट्टजी के पास भेज दिया। तथा स्वप्रेमसूचक दाम, कौपीन और एक पट्ठा भी साथ ही भेज दिया ।।४४-४५।।

ततो गोपालभट्टाश्च दामकौपीनपट्टकान्।
लब्ध्वा प्रमुदिता भूत्वा त्वगाहन्त रसाम्बुधौ ।।४६।।

श्रीगोपालभट्टजी भी श्रीमहाप्रभुजी के कृपा स्वरूप दाम, कौपीन और पट्टे को प्राप्तकर प्रसन्न होकर रस समुद्र में गोता लगाने लगे ।।४६।।

ततो गोपालभट्टैश्च विचारितमिदं मुहुः।
कथमेतानि वस्तूनि प्रभुणा प्रेषितानि मे ।।४७।।
कुतः पिताऽथवा श्रीमद्गुरवो ददति स्वयम्।
एतादृशं वस्तुजातमार्यांति तु विचार्य वै ।।४८।।
गुरवः किमिदानीं मे लोकादस्मात् स्वलीलिकाम्।
कर्तुं तिरोहितां नूनमिच्छन्तीति मतिर्मम ।।४९।।

तदनन्तर श्रीभट्टजी ने बारम्बार यह विचार किया कि श्रीमहाप्रभुजी ने ये वस्तुएं मेरे लिये क्यों भेजी हैं ? कारण कि, पिता अथवा श्रीगुरुजी

आगे का विचार कर ही स्वयं अपने पुत्र या शिष्य को ऐसी वस्तुएँ स्वयं देते हैं, तो क्या मेरे प्राणप्रिय श्रीगुरुदेवजी अपनी लीला को इस लोक से अन्तर्हित करना चाहते हैं ? मेरा तो यही निश्चित विचार है ।।४७-४६।।

यदैवं विचारोऽभूच्चित्ते तेषां महात्मनाम् ।
तदैवाऽश्रुप्रवाहोऽभूदभूवन् व्याकुलास्तथा ।।५०।।

श्रीसनातनरूपाभ्यां तस्मिन्नेव दिने किल ।
दृष्टं स्वप्ने यदाधाय तेजो गोपालभट्टके ।।५१।।

स्वकं चैतन्यदेवोऽपि तत्रैवान्तरधीयत ।
दृष्ट्वैवं व्याकुलौ भूत्वा स्वप्नं तौ लघु जागृतौ ।।५२।।

ततश्च वैष्णवैः साकं भट्टपार्श्वमुपागतौ ।
निवेद्य स्वप्नजां वार्तां ततः सर्वेऽपि चुक्रुशुः ।।५३।।

महापुरुष उन श्रीगोपालभट्टजी के चित्त में जब ऐसा विचार हुआ तभी नेत्रों से अश्रुओं का प्रवाह होने लग गया तथा स्वयं अत्यन्त व्याकुल हो उठे । उसी दिन श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीरूप गोस्वामीजी ने स्वप्न में यह देखा कि—श्रीचैतन्य महाप्रभुजी, अपने दिव्य तेज को, श्रीगोपाल-भट्टजी में स्थापित कर, अन्तर्हित हो गये । ऐसा स्वप्न देखते ही दोनों भाई व्याकुल होकर जाग उठे । पश्चाद् कुछ वैष्णवों को साथ लेकर श्रीभट्टजी के समीप पधारे और स्वप्न का वृत्तान्त निवेदन कर, सबके सब रुदन करने लग गये ।।५०-५३।।

ततो वृन्दावनं शीघ्रमायातं वाचिकं प्रभोः ।
भक्तेष्विरम्मद इव रूपेणाऽलौकिकेन हि ।।५४।।
ततो वियोगजो वह्निर्भक्तवृन्देष्ववर्धत ।
श्रीमद्गोपालभट्टानां दशां को वर्णयेन्ननु ।।५५।।

गौरचन्द्रोऽभवद् येषां प्राणेभ्योप्यधिकः प्रियः ।
ततस्तु मूर्च्छिता भूत्वा निपेतुर्धरणीतले ।।५६।।

मूर्च्छितायामवस्थायां गौरचन्द्रो बभूव ह ।
भक्तदुःखेन दुःखाढ्यो प्रादुर्गौरिव वत्सला ।।५७।।

तदनन्तर स्वप्न में जो देखा था, वही श्रीप्रभु का सन्देश बिजली के समान अलौकिक रूप से श्रीवृन्दावन में सब भक्तों में संचारित हो गया । और भक्तवृन्दों में तत्क्षण वियोगरूपी अग्नि बढ़ गई । श्रीगोपालभट्टजी की दशा का कोई कैसे वर्णन करे । जिनके कि—श्रीगौरचन्द्र प्राणों से भी

अधिक प्यारे थे, श्रीभट्टजी मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े, उस मूर्छित अवस्था में ही, भक्तों के दुःखों से दुखित श्रीप्रभु, वात्सल्यमयी गैया के समान प्रगट हो गये ।।५४-५७।।

उक्तं च प्रभुणा तत्र वत्स ! गोपाल ! मा खिद ।
प्रियेभ्योऽहं तु भक्तेभ्यो नास्मि दूरं कदाचन ।।५८।।

गण्डकीमापगां गच्छ द्रुतं हे पुत्र ! लप्स्यते ।
तत्र द्वादशरुपेण शालग्रामस्य मूर्तिका ।।५९।।

सर्वतः प्रथमं तत्र मूर्तिर्दामोदरस्य या ।
लभ्येत तत्र जानीहि मामव्यक्तमवस्थितम् ।।६०।।

और श्रीप्रभुजी ने कहा कि, हे वत्स ! गोपाल ! तुम इतने दुखित मत होओ क्योंकि, मैं, अपने प्रिय भक्तों से कभी भी दूर नहीं हूँ, सदा पास ही रहता हूँ; हे पुत्र ! अब तुम मेरी आज्ञानुसार शीघ्र ही "गण्डकी" नदी को चले जाओ, वहाँ पर तुम्हें १२ शालग्राम की मूर्तियाँ मिलेंगी, उनमें से सर्वप्रथम जो "दामोदर" की मूर्ति प्राप्त हो, उसमें ही तुम, मुझको अव्यक्त रूप से सदा विराजमान ही जानना ।।५८-६०।।

पट्ट एको मया पूर्वं समीपे प्रेषितस्तव ।
उपविश्य त्वया तत्र भक्तेः कार्या प्रचारता ।।६१।।
त्वत्तः पश्चाद्भविष्यन्ति शिष्यका बान्धवास्तथा ।
पट्टाधिकारिणस्तेऽपि वत्स ! धर्मप्रचारकाः ।।६२।।
एवमुक्त्वा प्रभुः पश्चाद् भट्टमालिङ्ग्य वक्षसा ।
तथा च मूर्ध्न्युपाघ्राय तत्रैवान्तरधीयत ।।६३।।

और मैंने तुम्हारे पास पहले एक पट्टा भी भेजा था, तुम्हें मिला होगा, उसी पर बैठकर तुम, भक्ति का प्रचार किया करना । और तुम्हारे पीछे भी जो तुम्हारे शिष्य या बान्धव होंगे; हे वत्स ! वे भी भक्ति धर्म प्रचारक इस पट्टा के अधिकारी होंगे । इसप्रकार कहकर पश्चात् श्रीभट्टजी को वक्षस्थल से आलिगन कर एवं मस्तक में सूँघकर श्रीमहाप्रभुजी वहीं अन्तर्धान हो गये ।।६१-६३।।

श्रीसनातनरूपाद्या भक्ताश्चान्येपि तादृशम् ।
प्रभुं प्रेमपरं दृष्ट्वा विसंज्ञा मुमुहु-र्मुहुः ।।६४।।

संज्ञां लब्ध्वा ततो भट्टैर्मनसीदं विचारितम् ।
पूजनीये प्रभोः पट्टे कथं चोपविशाम्यहम् ।।६५।।

श्रीसनातनरूपाद्या बोधयामासुराशु तान्।
गुरूणां भट्ट ! नैवाज्ञा लङ्घनीया कदाचन ॥६६॥

श्रीसनातन एवं श्रीरूप गोस्वामी प्रभृति अन्य भक्त भी प्रभु को इस प्रकार प्रेम परायण देखकर संज्ञा रहित होकर बारम्बार विमुग्ध हो गये। तदनन्तर मूर्छा को त्यागकर श्रीभट्टजी ने मन में यों विचारा कि, और सब आदेश तो ठीक है परन्तु पूजनीय प्रभुजी के पट्ट पर मैं कैसे बैठ जाऊँ। आपने अपने इस विचार को जब प्रगट किया तो श्रीसनातन रूपादि महा-पुरुषों ने उनको तत्क्षण समझाया कि,—हे श्रीभट्टजी गुरुओं की आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥६४-६६॥

ततो गोपालभट्टाँस्ते प्रभुदत्ते सुपट्टके।
विधिवत्कारयामासुरभिषिक्तांस्ततः परम् ॥६७॥
हर्षिता भूषयामासुः श्रीगोस्वामीत्युपधिना।
ततः प्रभृति तद्वंशे महासम्मानसूचकम् ॥६८॥
गोस्वामीति पदं सर्वैरुच्यते नामधेयके।
ततो गोपालभट्टाश्च प्रभोराज्ञानुसारतः ॥६९॥
प्रस्थिता गण्डकीं शीघ्रं समानेतुं प्रभुं ततः।
भक्तिं प्रचारयद्भिस्तैः प्राप्ता पुण्यजला नदी ॥७०॥
प्रथमे दिवसे तत्र चोपवासः कृतस्तु तैः।
ततोऽन्यदिवसे स्नात्वा प्रभोरन्वेषणं कृतम् ॥७१॥

तदनन्तर उन महात्माओं ने श्रीप्रभुजी के दिये हुए पट्ट पर श्रीगोपालभट्टजी को विधि पूर्वक अभिषिक्त कर दिया—तथा "श्रीगोस्वामी" इस उपाधि से विभूषित कर दिया। बस, उसी दिन से उनके वंश में महा सम्मान सूचक "गोस्वामी" यह पद सबके नाम के पीछे सब लोग उच्चारण करते हैं। तदनन्तर श्रीभट्टजी श्रीप्रभुजी की आज्ञा के अनुसार अपने प्रभु को लेने के लिये शीघ्र ही गण्डकी नदी को चल दिये, तथा मार्ग में भक्ति का प्रचार करते हुए गण्डकी नदी पर पहुँच गये। वहाँ पर उस पुण्यजलमयी नदी के किनारे प्रथम दिन तो आपने उपवास किया—दूसरे दिन स्नान कर अपने प्रभु का अन्वेषण किया ॥६७-७१॥

कृतेऽप्यन्वेषणे र्यहि प्राप्ता नो हृदयेश्वराः।
प्रार्थना कर्तुमारब्धा तदा तत्प्राप्तिहेतवे ॥७२॥

अन्वेषण करने पर भी जब हृदयेश्वर प्रभु प्राप्त न हुए तब उनकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना प्रारम्भ कर दी ॥७२॥

भाण्डीरेश ! शिखण्डमण्डनवर ! श्रीखण्डलिप्ताङ्ग हे
वृन्दारण्यपुरन्दर ! स्फुटदमन्देन्दीवरश्यामल !।
कालिन्दीप्रिय ! नन्दनन्दन ! परानन्दारविन्देक्षण !
श्रीगोविन्द ! मुकुन्द ! सुन्दरतनो ! मां दीनमानन्दय ।।७३।।

हे भाण्डीर वट के स्वामिन् ! हे सुन्दर मयूर-मुकुट-धारिन् ! हे चन्दन-चर्चित-कलेवर ! हे वृन्दावन-पुरन्दर ! हे खिले हुए दिव्य नील-कमल के समान श्यामसुन्दर ! हे कालिन्दी प्रिय ! हे नन्दनन्दन ! हे परमानन्द ! हे कमलनयन ! हे श्रीगोविन्द ! हे मुकुन्द ! हे सुन्दर तनो ! आपके विरह से व्याकुल मुझ दीन को आनन्दित कर दीजिये ।।७३।।

इत्येवं प्रार्थनां कृत्वा यदार्घं दातुमुद्यताः ।
तदाऽञ्जलौ सतायातः शालग्रामोऽतिसुन्दरः ।।७४।।

इस प्रकार प्रार्थना करके जब सूर्यदेव को अर्घ देने को उद्यत हुये तभी आपकी अञ्जलि में एक सुन्दर शालिग्रामजी आ गये ।।७४।।

लब्ध्वाऽगाहन्त ते तर्हि दुष्पारे हर्षसागरे ।
ततोऽश्रूणां प्रवाहोऽभूद् गौरकृष्णेति तन्मुखे ।।७५।।

प्राप्त करते ही वे दुष्पार हर्ष सागर में गोते लगाने लग गये । नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की झरी लग गयी, तथा उनके श्रीमुख में 'हा गौर कृष्ण !' यही शब्द विराजमान था ।।७५।।

ततः स्तुत्वा यदा तैस्तु जलमध्ये कमण्डलुः ।
पूरणार्थं कृतस्तर्हि स्वयमेव कमण्डलौ ।।७६।।
शालग्रामाः समाजग्मू रुद्रसंख्या मनोहराः ।
ततो वृन्दावनं जग्मुः पूरयित्वा मनोरथम् ।।७७।।
एको मासो व्यतीयाय मार्गे तेषां महात्मनाम् ।
ततो वृन्दावनं प्राप्य बभूबुर्मुदिता भृशम् ।।७८।।
प्राप्य गोपालभट्टाँश्च मुदितं भक्तमण्डलम् ।
प्रशशंस ह तद्भाग्यं बारम्बारं मुदा युतम् ।।७९।।
विद्वांसौ भक्तवर्यौ च श्रीमद्रूप-सनातनौ ।
अप्यालिङ्ग्य प्रेमपूर्वं तेषां मानं प्रचक्रतुः ।।८०।।

स्तुति करने के पश्चात् जल भरने के लिये ज्योंहीं कमण्डलु जल में डुबाया त्यों ही अत्यन्त मनोहर ११ शालग्राम स्वयं ही कमण्डलु में आगये । पश्चात् अपना मनोरथ पूरण कर श्रीवृन्दावन चले आये । आपको मार्ग में एक मास व्यतीत हो गया । वृन्दावन को प्राप्त कर आप विशेष प्रसन्न

हो गये। श्रीगोपाल भट्टजी को प्राप्त कर, भक्त-मण्डल भी मुदित होगया। और प्रसन्नता से युक्त होकर उनके भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लग गया। तथा भक्ति के रहस्यमय तत्त्व वेत्ताओं के अग्रगण्य भक्तवर्य श्रीरूप सनातनजी महाराज ने प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करके आपका सम्मान किया ।।७६-८०।।

श्रीसनातनगोस्वामी श्रीमन्मदनमोहनम् ।
गोविन्दं रूपगोस्वामी सेवतेष्म निरन्तरम् ।।८१।।

उस समय श्रीमदनमोहनजी के श्रीविग्रह की सेवा तो श्रीसनातन गोस्वामी एवं श्रीगोविन्ददेवजी की सेवा, श्रीरूप गोस्वामीजी निरन्तर किया करते थे ।।८१।।

गोपीनाथं मधुबुधः पूजयामास सादरम् ।
गोपालभट्टगोस्वामी ददर्श मुदितोऽन्वहम् ।।८२।।

और पं० मधु गोस्वामीजी श्रीगोपीनाथजी की पूजा आदर पूर्वक किया करते थे। और गो० श्रीगोपालभट्टजी प्रतिदिन आनन्दित हो सबका दर्शन किया करते थे ।।८२।।

श्रीगोविन्दमुखं गोपी-नाथवक्षःस्थलं तथा ।
श्रीमन्मदनमोहन-पादावतिमनोरमौ ।।८३।।

कदाचिद् भट्टवर्योऽपि पूजयामास तत्त्रिकम् ।
पूजाकाले प्रभून् दृष्ट्वा प्रार्थयामास मानसे ।।८४।।

अहैतुकी सा करुणा किंकरे मयि माधव ! ।
भविष्यति कदा स्वामिन् ! यया ते विग्रहत्रयम् ।।८५।।

एकस्मिन्नेव पश्येयं विग्रहे त्वैक्यमागतम् ।
पूजयेयं कृतार्थस्ते प्रतिमां च मनोरमाम् ।।८६।।

श्रीगोविन्ददेवजी का मुखारविन्द, श्रीगोपीनाथजी का वक्षःस्थल एवं श्रीमदनमोहनजी के चरणकमल बहुत ही सुन्दर हैं। कभी कभी श्रीभट्टजी भी उन तीनों श्रीविग्रहों की सेवा पूजा किया करते थे। पूजा करते समय प्रभुओं का दर्शन करके अपने मन में ऐसी प्रार्थना किया करते थे कि— हे माधव ! मुझ किंकर पर भी वह आपकी अहैतुकी कृपा कब होगी जिससे कि, स्वामिन् ! आपने तीनों श्रीविग्रहों को एक ही श्रीविग्रह में एकता प्राप्त हुए देख सकूँ और कृतार्थ होकर प्रतिदिन आपकी उस मनोहर प्रतिमा का पूजन किया करूँ ।।८३-८६।।

एवं विचारयुक्तानामुत्कण्ठा वृद्धिमागता ।
प्रत्यहं भट्टवर्याणां मनो व्याकुलतां गतम् ।।८७।।
वैशाखे च तथा मासे शुक्ले पक्षे तथैव च ।
संवत्सरे परिमिते ग्रहनन्दशरेन्दुभिः ।।८८।।
सायंकाले चतुर्दश्यां शालग्रामशिलाः शुभाः ।
पूजयित्वा यदा सर्वाः शयनार्थं समुद्यताः ।।८९।।
श्रीमद्गोपालभट्टाश्च तदा निद्रा न चागता ।
तथा विग्रहरूपेण प्रभुं प्राप्तुं मनोऽभवत् ।।९०।।
तस्मिन्नेव दिने कश्चिद् भक्तः सेवाऽभिकांक्षया ।
अर्पयित्वा गतस्तेभ्यो वस्त्राण्याभरणानि च ।।९१।।
ततश्चिन्ता समुत्पन्ना वस्त्रादीन् धारयामि क्व ।
यदि विग्रहरूपेण प्रभुरद्य भवेन्मम ।।९२।।
तदा तु सुखितो भूत्वा धारयेयं यथारुचि ।
प्रभुस्त्वतिदयालुर्नो भाग्यहीना वयं ननु ।।९३।।
अतो मनोरथोऽयं नः पूर्तिं याति न मे मतिः ।
यद्यस्माकं भवेत्प्रीतिः सत्या श्रीप्रभुपादयोः ।।९४।।
तदा प्रकटिता नूनं भविष्यन्ति न संशयः ।
यथा प्रह्लादभक्तस्य सत्प्रीति-वशगा द्रुतम् ।।९५।।
स्तम्भादपि प्रकटिताः प्रभवो भक्तवत्सलाः ।
एवं तर्कवितर्कैश्च सम्पूर्णा शर्वरी गता ।।९६।।

पूर्वोक्त विचारों से युक्त श्रीभट्टजी की उत्कण्ठा प्रतिदिन बढ़ती ही गयी और मन व्याकुल हो उठा। वि० सं० १५९९ में वैशाख मास शुक्लपक्ष की चतुर्दशी के सायंकाल मङ्गलमय द्वादश शालग्राम शिलाओं का पूजन कर जब श्रीगोपालभट्टजी शयन करने के लिये उद्यत हुए तो उस समय आपको निद्रा नहीं आयी और विग्रह रूप में प्रभु को प्राप्त करने के लिये मन लालायित हो गया। उसी दिन कोई भक्त सेवा की अभिलाषा से श्रीभट्टजी को ठाकुरजी के लिये वस्त्र एवं आभूषण अर्पण करके चला गया। तदनन्तर श्रीभट्टजी के हृदय में चिन्ता हुई कि—इन वस्त्रादिओं को कहाँ धारण करवाऊँ। यदि आज मेरे भी प्रभु, विग्रह-रूप से होते तो सुखित हो अपनी रुचि के अनुसार धारण करवाता।

"हमारे प्रभु तो अत्यन्त दयालु हैं, परन्तु हम ही भाग्यहीन हैं। इसीलिए हमारा मनोरथ पूर्ण नहीं हो रहा है," यही मेरा विचार है। परन्तु

यदि श्रीप्रभु के चरणों में हमारी सच्ची प्रीति हागो तो दयालु प्रभु अवश्य ही उसी प्रकार प्रगट हो जायेंगे जैसे कि, भक्तवर्य श्रीप्रह्लादजी की प्रीति के वशीभूत होकर, स्तम्भ से भी प्रगट हुये थे, क्योंकि, प्रभु तो भक्तवत्सल हैं। इस प्रकार के तर्क वितर्कों से सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत प्राय हो गयी ।।८७-९६।।

तथाऽश्रूणां प्रवाहैश्च बभूवुः प्लाविताङ्गकाः ।
ततः किञ्चित्समायाता निद्रा तेषां कृते हठात् ।।९७।।
स्वप्नेऽपि भक्तवात्सल्यात् प्रभुणोक्तं द्रुतं ततः ।
वत्स ! मा खिद ते त्विच्छां पूर्णां कर्तुं समागतः ।।९८।।

और अश्रुओं के प्रवाह से सम्पूर्ण अङ्ग भीग गये, तदनन्तर उनके लिये श्रीहरि इच्छा से हठात् किंचित् निद्रा आ गयी। प्रभु ने भी स्वप्न में भक्त वत्सलता से प्रगट होकर यों कहा कि, हे वत्स ! तुम दुःखी मत होओ, मैं, तुम्हारी इच्छा को पूर्ण करने के लिये आ गया हूँ ।।९७-९८।।

ततो निद्राप्यपगता बभूवुश्चोत्थितास्ततः ।
सूर्योदयात्तु प्रागेव कृत्वा स्नानादिकं ततः ।।९९।।
सेवां कर्तुं समुद्युक्ता बभूवुः श्रीहरेर्द्रुतम् ।
प्रभोरुत्थापनं यर्हि कृतं तर्ह्येव दर्शनम् ।।१००।।
श्रीकृष्णचन्द्ररूपेण प्रादुर्भूतस्य वै प्रभोः ।
कृत्वा च दर्शनं भट्टा महानन्दपरिप्लुताः ।।१०१।।
दृष्टाश्च द्वादशस्थाने शालग्रामस्य मूर्तिकाः ।
एकादशमिता नैव श्रीदामोदरमूर्तिका ।।१०२।।
द्वादशी किन्तु तत्स्थाने द्वादशाङ्गुलसम्मिता ।
श्रीकृष्णचन्द्रप्रतिमा मूर्तिरेका मनोहरा ।।१०३।।

पश्चात् निद्रा दूर हुई, आप उठकर बैठ गये। तदनन्तर सूर्योदय से पहले ही स्नानादि नित्य कर्म करके शीघ्र ही श्रीहरि की सेवा करने के लिये तत्पर होगये। आपने जब श्रीहरि का उत्थापन कराया तभी श्रीकृष्णचन्द्र-रूप से प्रादुर्भूत प्रभु का दर्शन किया, दर्शन करते ही श्रीभट्टजी आनन्द में विभोर हो गये और बारह शालग्राम मूर्तियों के स्थान पर, ग्यारह ही शालग्राम देखे, किन्तु बारहवीं शालग्राम की दामोदर मूर्ति नहीं देखी, अपितु उसके स्थान पर बारह अँगुल की अत्यन्त मनोहर श्रीकृष्णचन्द्र की मूर्ति के समान एक मूर्ति का दर्शन किया ।।९९-१०३।।

दृष्ट्वा मनोहरां मूर्तिं हर्षो माति न मानसे ।
प्रेमाश्रूणि च भट्टानां भूषयामासुराननम् ।।१०४।।

उपजातिरियम्—

यथा यथा पश्यति भट्टवर्यः प्रेमाकुलः श्रीहरिसौम्यमूर्तिम् ।
तथा तथा श्रीहरिदर्शनस्य वाञ्छा सुवृद्धिं हि गता बभूव ।।१०५।।

मनमोहिनी मूर्ति का दर्शन कर, हर्ष मन में नहीं समाता था, श्रीभट्टजी के मुखारविन्द को प्रेमाश्रुओं ने विभूषित कर दिया। प्रेमाकुल श्रीभट्टजी, जैसे जैसे श्रीहरि की सौम्य-मूर्ति का दर्शन करते हैं तैसे तैसे ही श्रीहरि-दर्शन की अभिलाषा और भी वृद्धि को प्राप्त होती जा रही थी ।।१०४-१०५।।

एष सर्वस्तु वृत्तान्तो ज्ञातो भक्तैर्यदा तदा ।
श्रीसनातनरूपाद्यैः सहिताः शीघ्रमायपुः ।।१०६।।

कृत्वा च दर्शनं तेऽपि निमग्ना हर्षसागरे ।
भाग्यं गोपालभट्टानां प्रशशंसुर्मुहुर्मुहुः ।।१०७।।

शालिनीवृत्तमेतत्—

मूर्तं भाग्यं भट्टवर्यस्य दृष्टं, मूर्तः प्रेमा किन्न दृष्टोऽस्मकाभिः ।
शालग्रामादप्यहो प्राणनाथं, प्रादुर्भूतं येन पश्याम सर्वे ।।१०८।।

यह सम्पूर्ण वृत्तान्त जब भक्तों को विदित हुआ तो वे सब, श्रीसनातन रूपादिकों के सहित शीघ्र ही वहाँ पधारे। वे भी श्रीश्यामसुन्दर का दर्शन करके हर्ष सागर में निमग्न हो गये, और बारम्बार श्रीगोपालभट्टजी के भाग्य की प्रशंसा करने लग गये कि, अहह ! श्रीभट्टवर्य के मूर्तिमान् भाग्य का हमने दर्शन कर लिया, और श्रीभट्टजी के मूर्तिमान् प्रेम का भी दर्शन हमने कर लिया, कारण कि, इन्हीं के भाग्य एवं प्रेम के बलपर हम सब भी, श्रीशालग्रामजी से प्रगट हुए,अपने प्राणनाथ का दर्शन कर रहे हैं ।।१०६-१०८।।

आनन्दपूर्वकं पश्चादभिषेकः कृतः प्रभोः ।
शृङ्गारश्च कृतः सम्यक् सुन्दरैर्वस्त्रभूषणैः ।।१०९।।
ततः सिंहासने शुभ्रे प्रभुः सज्जो विराजितः ।
अन्तर्दधे हरिर्यत्र त्यक्त्वा राधां सुदुःखिताम् ।।११०।।

आविर्भूतो यथा वारम्वारं सम्प्रार्थितस्तया ।
तथा गोपालभट्टानां प्रेमप्रार्थनया मुहुः ।।१११।।

पुनः प्रकटितस्तत्र विचार्याऽतस्तु साधुभिः ।
नामधेयं हरेस्तर्हि श्रीराधारमणं कृतम् ।।११२।।

पश्चात् आनन्द पूर्वक सब भक्तों ने मिलकर प्रभु का अभिषेक किया, और सुन्दर सुन्दर वस्त्र आभूषणादिकों से शृङ्गार किया, तदनन्तर सुसज्जित प्रभु को शुभ्र सिंहासन पर विराजमान करवा दिया, और जिस स्थान पर रासलीला में परम दुखित हुई श्रीराधिकाजी को छोड़कर, श्रीहरि अन्तर्हित हुये थे, तथा श्रीराधिकाजी के द्वारा बारम्बार प्रार्थना करनेपर जिस-प्रकार प्रगट हुये थे, बस उसी प्रकार उसी स्थानपर आज भी श्रीगोपालभट्ट की प्रेममयी प्रार्थना से प्रभु पुनः प्रकट हुये हैं, इसी अभिप्राय से साधुओं ने विचारकर प्रभु का "श्रीराधारमण" ऐसा नाम-करण कर दिया ॥१०९-११२॥

आविर्भावोऽप्यसौ प्रोक्तो दासेन वनमालिनः।
अस्त्वसौ प्रीतये श्रीमद्भट्टगोपालस्वामिनः ॥११३॥

बोलो भक्त-वत्सल भगवान् श्रीराधारमणलालजी की जय। यह श्रीराधारमणजी का आविर्भाव महोत्सव भी 'वनमालिदास'-नामक व्यक्ति ने कह सुनाया। यह ग्रन्थ "श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी की प्रसन्नता का कारण हो जाय" यही ग्रन्थकार की अभिलाषा है ॥११३॥

गोलोके वर्तमानस्य स्वाचार्यस्य कराब्जयोः।
भावेन दीयते चेदं दिव्य-दृष्ट्या स पश्यतु ॥११४॥

इस समय दिव्य-धाम श्रीगोलोक में श्रीकृष्णचन्द्र के मित्र-रूपेण विराजमान हमारे श्रीगुरुदेवजू के कर-कमलों में यह "शतक" मैं भावपूर्वक अर्पण करता हूँ। मेरे प्यारे दयालु श्रीगुरुदेवजी इसको मेरे सहित दिव्य दृष्टि से देखैं ॥११४॥

द्रुतविलम्बितद्वयमितः—

यदपि चित्रमलंकृतिमद्वचो, भवति यत्र हरेर्न यशोऽमलम्।
परमहंसकुलैरनिषेवितं, तदिह वायसतीर्थमुदीरितम् ॥११५॥

"जो वाक्य विन्यास अर्थात् काव्य, यद्यपि चित्रकाव्य एवं अलंकारों से युक्त है, तथापि जिसमें श्रीहरि का निर्मल यश नहीं गाया है तो वह काव्य, परमहंसों के द्वारा असेवित होने के कारण, काक-तीर्थ तुल्य तुच्छ ही है", ऐसा श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों में कहा गया है ॥११५॥

यदनलंकृतिमद् वचनं समं, परमनन्तयशोऽङ्कितनामवत्।
सदसि साधुजना निगदन्ति त-,न्निखिलपापिजनाघविनाशनम् ॥११६॥

और जो काव्य, सम्पूर्ण अलङ्कारों से रहित भी है परन्तु यदि अनन्त भगवान् के यश से अंकित नामोंवाला है तो, साधुजन उस काव्य को "सब पापियों के पापों को दूर करनेवाला है" ऐसा सत्सभा में कहते हैं ।।११६।।

शार्दूलविक्रीडितमिदम्—

येषां प्रेमसुदामबद्धहरिणा रूपं स्वकं दर्शितं
नित्यस्थायि तथा च भट्टपरिवारं भाग्यवन्तं तु यत् ।
संसारे निगदत्यहो किमधिकं ब्रूमस्ततो नित्यदा
पापास्ताँस्तु मुहुर्नताः स्म शिरसा गोपालभट्टान् वयम् ।।११७।।

जिनकी प्रेमरूपी डोरी में बँधकर, श्रीहरि ने नित्य-स्थायी अपना परम-मनोहर रूप प्रगट कर दिखलाया, तथा जो श्रीराधारमणजी का रूप ही भट्टजी के परिवार को संसार में सर्वश्रेष्ठ भाग्यवान् बतला रहा है, अतः अधिक क्या कहैं, हम पतित तो, उन्हीं पूज्यचरण श्रीगोपालभट्टजी को प्रतिदिन बारम्बार नत मस्तक होकर प्रणाम करते हैं ।।११७।।

मालिनीवृत्तमेतत्—

प्रणयगुणनिबद्धो यस्य साक्षात्स राधा-
रमण इह तु शालग्रामतश्चाविरासीत् ।
सकलगुणगरिष्ठः सर्वशास्त्रार्थनिष्ठो
वितरतु स हि मह्यं प्रेम गोपालभट्टः ।।११८।।

और जिनकी प्रेमरूपी डोरी में बँधकर साक्षात् श्रीराधारमणजी भी, शालग्राम की शिला से प्रगट हो गये, और जो, सब गुणों से गौरवान्वित थे एवं जो सब शास्त्रों के तात्पर्य को जानते थे वे ही श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी, मेरे लिये प्रेम का वितरण करें ।।११८।।

शार्दूलविक्रीडितम्—

आविर्भावमहर्मया निगदितं राधापतेरद्भुतं
शालग्रामतनोर्यथा समभवद् गोपालभट्टप्रियम् ।
आविर्भावनिवर्णने यदि मया चाऽशुद्धयोऽपीरिता -
विद्वद्भिस्तु तथापि बाल इति मां मत्वा क्षमा दास्यते ।।११९।।

श्रीगोपालभट्टजी को परम प्रिय यह श्रीराधारमणजी का अद्भुत आविर्भाव महोत्सव, श्रीशालग्रामजी की शिला से जिसप्रकार हुआ था, वह मैंने, कह सुनाया । इस आविर्भाव के वर्णन करने में यदि मैंने, कोई त्रुटियाँ

भी कर दी हों तो भी, विद्वज्जन तो यह "अत्यल्पवयस्क बालक है" इस हेतु से क्षमा ही प्रदान करेंगे ॥११९॥

ग्रन्थसमाप्तिकालमधुनाऽभिधत्ते वसन्ततिलकया—

नन्दग्रहग्रहमहीनिमिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कनृपतेरपि पौर्णमास्याम् ।
वैशाखमासि शतकं त्विदमादरेण, वृन्दावने लिखितवान् वनमालिदासः ॥१२०

वि० सं० १९९९ के वैशाख शुक्ला पौर्णमासी के दिन श्रीधाम वृन्दावन में ही इस "श्रीराधारमण शतक" को आदरपूर्वक, शास्त्री श्रीवनमालिदासजी ने लिखा है ॥१२०॥

इति श्रीनिखिलशास्त्रपारावारपारदृश्व-सख्यावताराष्टोत्तरशत-स्वामिश्रीकृष्णानन्ददासजी-महाराज-शिष्येण काव्य-वेदान्त-तीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा विरचितं

श्रीराधारमणशतकं सम्पूर्णम्

★

समाधि-लेखः

(लेखक—श्रीवनमालिदासजी शास्त्री)

मतिमतां हि समाधितटे जना !, लिखत यैरियमुज्ज्वलिता मही ।
सुरगुरुः पदमादरतस्तथा, धनवतां तु कुबेर इतीव भोः ॥१॥
शूरा भीष्मार्जुनावित्यतिविमलपदैर्माननीया भवद्भिः
सौन्दर्यं योजनीयं विमलकुसुममित्युक्तिभाग्गौरवेण ।
एतल्लेख्यं समाधेरुपरि कविवरस्यापि कर्णे कुरुध्वं
मत्तानां कोकिलानामिव च कुहू कुहूः शब्दयुग्मं वसन्ते ॥२॥

अनुवादक—कुँवर हरिश्चन्द्रदेव वर्मा "चातक"

विद्वानों को लिखो वृहस्पति, उज्ज्वल जिनसे हुई मही ।
श्रीमानों की शुभ-समाधि-पर, धन-कुबेर तुम लिखो सही ॥१॥
शूरवीर को भीष्म और अर्जुन लिखकर सम्मान करो ।
कोमल कुसुम बताकर सुन्दरता को गौरव दान करो ॥
किन्तु सखे ! कवि की समाधि पर लिखना यह सुनलो श्रुति खोल ।
मस्ती भरे वसन्त कोकिला के 'कूऊ' 'कूऊ' दो बोल ॥२॥

●

श्रीहरिभक्तेभ्यो नमः
श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम्

श्रीभक्तनाम-मालिका

उपनाम—

(श्रीभक्त-सहस्रनाम)

श्रीभक्तनामस्रगियं मनुजैः स्वकण्ठे,
यैर्धास्यते प्रतिदिनं हरिसन्निधाने ।
भुक्त्वा हरेः करुणया भुवि सर्वसौख्यं,
सम्प्राप्स्यते सुखतया हरिसन्निधिस्तैः ॥

सा च—

निखिलशास्त्रपारावारपारदृश्व-सख्याऽवताराष्टोत्तरशत-स्वामि
श्रीकृष्णानन्ददासजीमहाराज-शिष्येण श्रीगोपालचम्पू-
श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू-श्रीपद्यावली-श्रीभक्ति-
ग्रन्थमाला-श्रीस्तवरत्ननिधि-प्रभृतिप्राचीन-
ग्रन्थानां टीकाकारेण काव्यवेदान्त-
तीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना
श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा
गुम्फिता ।

●

तेनैव संशोधिता प्रकाशिता च

द्वितीयावृत्तिः ५०० } श्रीगौराङ्ग जयन्ती वि० सं० २०३२ { निछावर प्रेम पूर्वक पाठ

॥ सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम् ॥

❋ श्रीहरि: शरणम् ❋

श्रीभक्तनाम-मालिका की विशेषता—

इस छोटी-सी पुस्तिका का तात्त्विक माहात्म्य एवं फल-श्रुति का वर्णन करना इस कलिहत जीव के लिये अत्यन्त ही असंभव है, परन्तु फिर भी लेखक महोदय की प्रेरणा आदरणीय है। इस पुस्तिका में महाकवि की सबसे बड़ी यह विशेषतायें हैं कि, जो भावुक-भक्त एवं विद्वानों के लिये परमोपयोगी हैं। प्रथम श्री १०८ श्रीस्वामी नाभाजी ने अपनी भक्तमाल में जिन महापुरुषों के नाम, प्रेम-विस्मृति से नहीं उट्टङ्कित किये थे, उनके नाम भी बड़ी गवेषणा के सहित, पुराणादिकों से चुनकर अंकित किये हैं। द्वितीय—श्लोकों के पूर्व में पाठकों की सुविधा के लिये छन्दों के नाम निदर्शन किये हैं, तृतीय सम्पूर्ण छन्दावली भक्तिभाव परिपूरित है तथा इसमें सहस्रोपरिभक्तों के नाम होने से इसका "भक्तसहस्रनाम" भी उपयुक्त ही है। 'अस्तु' जैसे श्रीभक्तमालाकार (नाभासखी) ने सतयुगादि भक्तों की सूक्ष्म चरित्र सहित नाम-माला, सख्यादिक पाँच रसों की थाक लगाकर अपने प्रियतम श्रीराघवेन्द्र सरकार को भावपूर्वक पहनाई थो, तद्वत् यहाँ भी श्रीयुतवनमालिदासशास्त्रीजी ने स्वकीय मित्र-भाव से अपने सखा श्रीव्रजराज-कुमार को सर्वरस-पूर्ण विविध छन्दों की थाक लगाकर अत्यन्त स्नेह पूर्वक चरणावलम्बिनी यह "भक्तनाम-मालिका" पहनायी है।

माहात्म्य—

दोहा—भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बन्दन किये, नाशत विघ्न अनेक॥

इस स्वामी नाभाजी कृत आदिम मङ्गलाचरण के दोहानुभार भक्तों के नामों का माहात्म्य भक्तवत्सल से न्यून नहीं है बल्कि **'मद्भक्त पूजाभ्यधिका'** इत्यादि श्रीमुख वचनानुसार विशेष ही कहना होगा। किसी कवि ने इस विषय में कैसा अनुपम चित्रण किया है—

दोहा—भक्त वड़े भगवान् से, चारों युग परमान।
सेतु बाँध रघुवर गये, कूदि गये हनुमान॥
भक्तदाम संग्रह करै, पठन श्रवण अनुमोद।
सो प्रभु प्यारौ पुत्र ज्यों, बैठे हरि की गोद॥

भक्तचरणरजोभिलाषी—

वि० सं० २००७ **रामहरिदासः**

* श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् *

श्रीभक्तनाम-मालिका

स्रग्धरा छन्दः—

श्रीकृष्णं प्रापयन्ती सकलजनमनोदोहदं दापयन्ती
पापाद्रिं दारयन्ती गुरुभवजलधेरञ्जसा तारयन्ती।
कामादीन्नाशयन्ती निखिलरिपुगणान् वासनां-शासयन्ती
भक्तानां नामगङ्गाऽवतु मम रसना-भूमिभागे पतन्ती ॥१॥

वसन्ततिलका-वृत्तमेतत्—

लोपं विलोक्य भुवि सख्यरसस्य तस्य, सञ्चारणाय हरिणा कलकण्ठनामा।
सम्प्रेषितो य इह तं व्यतरज्जनेभ्य-,स्तं श्रीगुरुं स्वकमहं शरणं व्रजामि ॥२

इतः श्लोकपञ्चके पञ्चचामर-वृत्तं ज्ञेयम्

हरिः प्रसन्नतां तथा न याति नामकीर्तनैः
स्वकैर्यथा निसर्गतः स्वभक्तनामकीर्तनैः।
इतीव चिन्तयन्नहं करोमि भक्तमालिका-
क्रमेण कृष्णप्रीतये तु भक्तनाम-मालिकाम् ॥३॥

नमामि भक्तमालिका-गतानहं पुरा सतः
ततस्तु प्रार्थये भृशं विनीतभावतः स्थितः।
यदि व्यतिक्रमः[१] क्वचित्तु वृत्तभङ्गभीरुणा
मया कृतो भवेत् तदाऽपि मर्षयन्तु सज्जनाः ॥४॥

विरिञ्चि-नारदौ शिवः कुमार-कर्दमात्मजौ
मनुः कयाधुनन्दनो विदेहजश्च भीष्मकः।
बलिः शुकश्च धर्मराडिमेऽवयन्ति द्वादश
सुधर्ममन्तरङ्गमन्तरङ्गताङ्गता अतः ॥५॥

१—अर्थात् पूर्वं वर्तमानस्य नाम्नः पश्चाल्लेखनं पश्चाद्वर्तमानस्य च पूर्वं लेखनं यन्मया विहितं तत्तु वृत्तस्य भङ्गो माभूदिति भियैव न तु पूज्याऽपूज्यविवेकेनेति वृत्ततत्त्वविद एव विदाङ्कुर्वन्तुतराम्।

अजामिलस्ततो हरेरमी प्रधानपार्षदाः
सुषेण-विश्वगर्वसेनकौ जयो विपूर्वकः ।
जयो बलः प्रपूर्वको बलः सुनन्द-नन्दकौ
सुभद्र-भद्रकौ ततः प्रचण्ड-चण्डकौ मतौ ॥६॥

कुपूर्वको मुदः कुपूर्वको मुदाक्षकस्ततः
सुशील-शीलकौ मतौ कप्रत्ययोऽत्र स्वार्थिकः ।
इमे हरिं सदैव प्रीणयन्ति सर्वभावतो
मनो गतिर्ममाऽस्तु तत्र यत्र पार्षदा हरेः ॥७॥

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्

श्रीलक्ष्मीर्गरुडः समीरतनयः श्रीजाम्बवानुद्धवः
सुग्रीवः शवरी विभीषण-जटायू अम्बरीषो ध्रुवः ।
अक्रूरो विदुरः सुदाम-गजराज-ग्राह-भीमाऽर्जुनाः
मैत्रेयो नकुलो युधिष्ठिर-सदेवौ चन्द्रहासः कृती ॥८॥

कुन्ती द्रौपदिका सदा विजयते श्रीचित्रकेतुः कृती
अङ्गः श्रीश्रुतदेवकश्च मुचुकुन्दः श्रीपरीक्षित्पृथू ।
शेषः शौनकमुख्यकाः प्रियव्रतः सूतः प्रचेतोगणः
आकूतिश्च प्रसूतिरस्ति शतरूपा देवहूतिः सती ॥९॥

गोप्यो यज्ञसती सुनीतिरपरा[1] मन्दालसा पार्वती
वाल्मीकिश्च भगीरथश्च सगरो वाल्मीकिरन्योऽपि च ।
श्रीसत्यव्रत-ताम्रकेतु-सुरथाः प्राचीनर्वाहिः शिविः
श्रीरुक्माङ्गदराडलर्कभरतौ नीलो[2] मयूरध्वजः ॥१०॥

श्रीविन्ध्यावलिजी रहूगण-सुधन्वानौ हरिश्चन्द्रकः
इक्ष्वाकुश्च दधीचिरैल ऋभुगाधी श्रीरघुः श्रीगयः ।
उत्तङ्कश्च रयोऽप्यमूर्तिनहुषौ वैवस्वतः श्रीमनुः
भूरिर्देवलरन्तिदेवशतधन्वानो यतातिर्यदुः ॥११॥

मान्धाता निमि-पिप्पलायन-भरद्वाजा दिलीपो गुहः
पूरुर्दक्ष-शमीक-सञ्जयवरा उत्तानपादस्तथा ।
मत्ताङ्गः शरभङ्गको विजयते श्रीयाज्ञवल्क्यो मुनिः
एतेषां चरणाब्जधूलिषु मनः स्नातुं ममोत्कण्ठते ॥१२॥

१—सुरुचिः ध्रुवस्य विमाता । २—नीलध्वजः ।

हरिणी-वृत्तमेतत्—

कविरथ हरिः पूज्यः श्रीपिप्पलः करभाजनो
द्रुमिल-चमसावाविर्होत्रोऽन्तरिक्ष-प्रबुद्धकौ।
भजनचतुरा जायन्तेया इमे गदिता नव
निमिसदसि ते पूज्यन्ते कौ यथा च नवग्रहाः ॥१३॥

पञ्चचामर-वृत्तमेतत्—

अगस्त्य-सौभरी पुलस्त्य-गर्ग-गौत्तमा भृगु-
र्वसिष्ठ-कर्दमाऽत्रिलोमशा ऋचीक-कश्यपौ।
पराशरोऽङ्गिराश्च दूर्विकाशनश्च पर्वतो
विभाण्डकश्च व्यासशिष्य ऋष्यश्रृङ्ग-दाल्भ्यकौ ॥१४॥

इतः श्लोकद्वये उपजातिः

अरिष्टनेमिः कवषः सुतीक्ष्णो, मेधातिथीन्द्रप्रमदेध्मवाहाः।
उतथ्य और्वोऽप्यरुणः शरद्वान्, धौम्योऽप्ययोध्याधिप आर्ष्टिषेणः ॥१५॥
सरस्वती तुम्बुरुरुग्रसेनो, व्याधो गणेशो नृगदारुकौ च।
अरुन्धतीगार्ग्यनसूयिका च, मैत्रेयिका वायक[1] एव कुब्जा ॥१६॥

इतः श्लोकाष्टकेअनुष्टुब्-वृत्तम्

कौशल्या च सुमित्रा च कैकेयी सरमा रुमा।
सुनयनाऽप्यञ्जनाऽहल्या तारा मन्दोदरी तथा ॥१७॥
पिङ्गला च सुदामा[2] च वैशम्पायन आरुणिः।
जैमिनिर्वरुणश्चैव कुवेरतनयौ तथा ॥१८॥
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः।
अथर्वा सुमतिः पैलः सुमन्तुर्द्रोण आसुरिः ॥१९॥
विश्वामित्रोऽथ जावालिर्माण्डव्यश्च्यवनस्तथा।
मार्कण्डेयोऽथ पुलहो जमदग्निस्तथैव च ॥२०॥
द्वैपायनः शतानन्दो वामदेवोऽसितोऽरुणिः।
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च कण्वो रामश्च गालवः ॥२१॥
रुक्मिणी सत्यभामा च सत्या जाम्बवती तथा।
मित्रविन्दा च कालिन्दी भद्राऽन्या लक्ष्मणा तथा ॥२२॥

१—श्रीरामकृष्णयोर्मथुराऽवलोकन-समये यो वेशमकल्पयत् स इत्यर्थः।
२—मथुरावलोकन-समये श्रीरामकृष्णयोर्गले यो मालामार्पयत् स इत्यर्थः।

भौमगेहगताः कन्याः सहस्राणि च षोडश ।
कृष्णेन मोचिताः काराज्जरासन्धस्य भूभुजः ।।२३।।
अष्टादशपुराणानि स्मृतयोऽष्टादशैव च ।
एते च स्मृतिकर्तारो ज्ञेया निम्नाङ्किता बुधैः ।।२४।।

श्लोकद्वये वसन्ततिलका-वृत्तम्

अत्रिर्मनुर्यमबृहस्पतियाज्ञवल्क्या, हारीतगौत्तमशनैश्चरदक्षशंखाः ।
कात्यायनक्रतुवसिष्ठपराशराश्च, विष्णुः शतातपवराङ्गिरसौ सँवर्तः ।।२५।।
धृष्टिर्जयन्तविजयौ खलु धर्मपालः, श्रीराष्ट्रवर्धनसुराष्ट्रसुमन्त्रवर्याः ।
निष्कोप एत इह राघवमन्त्रिवर्या, अष्टौ मया निगदिता हरिभक्तिप्राप्त्यै ।।२६।।

तोटकवृत्तमेतत्

पनसोऽङ्गद-गन्धमद-द्विविदाः, कुमुदो नल-नील-दरीवदनाः ।
शरभो दधितुण्ड-सुषेण-मय-,न्द-गवाक्षवराः सुभटो गवयः ।।२७।।

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रा-वृत्तम्

श्रीदेवमीढस्य बभूवतुर्द्वे, भार्ये हि विट्क्षत्रियवंशजाते ।
पर्जन्यनामाऽजनि वैश्यपुत्र्या, राजन्यपुत्र्याऽपि च शूरसेनः ।।२८।।
श्रीशूरसेनाद् वसुदेवनामा, भार्याऽभवद् यस्य च देवकीति ।
पर्जन्यनाम्नोऽपि च गोपराजा-,न्नन्दादयो वै नव संबभूवुः ।।२९।।

पज्झटिका-वृत्तम्

उपनन्दो नन्दोऽप्यभिनन्दः, कर्मानन्दो धर्मानन्दः ।
धरानन्द-ध्रुवनन्द-सुनन्दा, वल्लभनन्द इमे नवनन्दाः ।।३०।।

शिखरिखी वृत्तमेतत्

यशोदारोहिण्यावपि च वृषभानुश्च जयति
सुकीर्तिः श्रीराधा पशुपयुवतीमण्डलगता ।
कदम्वाद्या वृक्षा भ्रमर-मृग-वृन्दावनलता
रवेः पुत्री गोवर्धनगिरिरथान्यच्च सकलम् ।।३१।।

इतः श्लोकद्वये अनुष्टुब्-वृत्तम्

ललिता च बिशाखा च रङ्गदेवी सुदेविका ।
चित्रा च चम्पकलता तुङ्गविद्येन्दुलेखिका ।।३२।।
श्रीराधिका-सखीव्यूहे त्वष्टसख्य इमा स्मृताः ।
आसां पादरजश्चित्तं मूर्ध्ना वोढुं ममोत्सुकम् ।।३३।।

द्रुतविलाम्बित-वृतम्

सुबल-कोकिल-भंगुर-भारती-,सुमधुमङ्गल-वन्ध-वसन्तकाः ।
गृहल-गन्ध-कडार-सनन्दनार्जुन-विदग्धक-सांधिक-हंसकाः ।।३४।।

स्वागतावृत्तम् श्लोकद्वये

गोभटर्षभ-सुवाहुक-भोजाः, श्रीसुदाम-विजयौ कलविङ्कः ।
देवप्रस्थ-वसुदाम-सुयक्षाः, श्रीलदाम-वृषभेन्द्रभटाश्च ।।३५।।
वीरभद्र-बलभद्र-सुभद्राः, स्तोककृष्ण-मणिबन्ध-विटङ्काः ।
भद्रसेन-सुविशाल-करण्डा-,दाम-किङ्किणि-वरूथप-वेधाः ।।३६।।

इतः श्लोकद्वये पज्झटिकावृत्तम्

भद्रवर्धन-शिवौ च सुकण्ठः, मञ्जुलांशुकपिलाः कलकण्ठः ।
उज्ज्वलश्च सुमना ओजस्वी, पल्लवश्च वकुलस्तेजस्वी ।।३७।।
पुण्डरीक-कुलवीर-मिलिन्दाः, महाभीम-रणभीम-कलिन्दाः ।
सुरेश-विलासि-शरप्रभ-कुन्दाः, पुष्पहास-रणधीर-मरन्दाः ।।३८।।

उपजाति-वृत्तमेतत्

इमे सखायो व्रजराजसूनोः, सर्वप्रकारैः सुखयन्ति नित्यम् ।
कुर्वन्तु दीने करुणां मयोमे, यथा भवेयं सखिषु प्रविष्टः ।।३९।।

श्लोकद्वये पज्झटिका-वृत्तम्

रक्तक-वकुलौ प्रेमाकन्दः, पत्रक-मधुवर्तौ मकरन्दः ।
पत्रि-रसाल-विशाल-शारदा-,श्चन्द्रहास-मधुकण्ठ-पयोदाः ।।४०।।
सदानन्द-रस-बुद्धिप्रकाशा, उक्ताः कृष्णस्यैते दासाः ।
गृहे वने सर्वत्र दिनान्ते, हरिं यथा-समयं सेवन्ते ।।४१।।

शार्दूलविक्रीडितमेतत्

सप्तद्वीपनिवासिनश्च नवखण्डान्तर्गता ये जनाः
श्वेतद्वीपनिवासिनश्च किल ते भक्तास्तु भूपा मम ।
एला पल्लव-शेष-कम्बल-महापद्मास्तथा वासुकिः
शंकुस्तक्षक इत्यमी उरगराजोऽष्टौ सकर्कोटकाः ।।४२।।

पंचचामरमेतत्

कृतादिकत्रिकेऽभवन्निमे समेऽपि वैष्णवाः
अनन्तकोटिवैष्णवेष्विमे प्रसिद्धिमागताः ।
अतोऽङ्किता मया सहर्षमन्यवैष्णवानहं
कथं लिखामि दिव्यदृष्टिरस्ति नोऽल्पमेधसः ।।४३।।

उपजातिरेषा—

एवं कृतादित्रिकजातभक्त-,नामावलीं हर्षभरेण गायन्।
प्रवर्तते श्रीकलिजातभक्त-,नामानि गातुं वनमालिदासः ॥४४॥

इतः श्लोकाष्टके पज्झटिका-वृत्तम्

कलिहत-जीवानां तरणाय, श्रीहरिपादाम्बुजवरणाय।
चत्वारश्चतुरैरतिललिता, मार्गाः पूर्वाचार्यैः कलिताः ॥४५॥
तेषां नामानीह लिखामः, पूर्वं मूर्ध्ना तान् प्रणमामः।
श्रीरामानुज-मध्वाचार्यौ, श्रीलविष्णु-निम्बार्काचार्यौ ॥४६॥
श्रीशठकोप-वोपदेवौ च, नाथमुनि-पुण्डरीकाक्षौ च।
राममिश्रजि-परांकुशवर्यौ, श्रीयामुनमुनि-पूर्णाचार्यौ ॥४७॥
कूरेशश्च धनुर्दासश्च, श्रुतिप्रज्ञः श्रीश्रुतिदेवश्च।
श्रुतिधामा श्रीश्रुतिउदधिश्च, लालाचार्यः पादपद्मश्च ॥४८॥
देवाचार्यो हर्यानन्दः, राघवानन्दो रामानन्दः।
श्रीलकवीरोऽनन्तानन्दः, सुखानन्दः सुरसुरानन्दः ॥४९॥
पद्मावती नरहर्यानिन्दः, श्रीपीपाः श्रीभावानन्दः।
गालवानन्दो योगानन्दः, रैदासश्च धनाः कर्मचन्दः ॥५०॥
सेनोऽल्हः सुरसुरी गयेशः, पयोव्रतः श्रीलकृष्णदासः।
राणाः सारीरामसुदासः, श्रीरङ्गः श्रीनरहरिदासः ॥५१॥
कुल्हुराज-कील्हावग्रदासः, केवलदासश्चरणसुदासः।
व्रते हठी नारायणदासः, पृथुदासः पुरुषोत्तमदासः ॥५२॥

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रा-वृतम्

श्रीसूर्यदासस्त्रिपुरस्य दासो, गोपालदासश्च हि पद्मनाभः।
श्रीटेकरामश्च गदाधरः श्री-,टीलास्ततः श्रीयुतदेवपण्डाः ॥५३॥
कल्याणदासः खलु हेमदासो, गंगा च रंगा च हि विष्णुदासः।
श्रीचाँदनः कान्हनरदासवर्यो, गोविन्ददासश्च सवीरिवर्यः ॥५४॥

उपजाति-वृतम्

सुमेरदेवश्च हि मानसिंहो, नाभावरः श्रीयुतशंकरार्यः।
पद्मार्य-पृथ्वीधरकार्यवर्यौ, श्रीतोटकाचार्य-स्वरूपकार्यौ ॥५५॥

इन्द्रवज्रा-वृत्तम्

श्रीवामदेवश्च हि नामदेवः, श्रीज्ञानदेवश्च त्रिलोचनश्च।
पद्मावती श्रीजयदेववर्यः, श्रीश्रीधरो बिल्वसुमङ्गलश्च ॥५६॥

पज्झटिका-वृत्तम्

चिन्तामणि: श्रीलक्ष्मणभट्ट:, परमानन्दो वल्लभभट्ट: ।
विष्णुपुरी: कुलशेखरभक्त:, रतिमन्ती लीलारतभक्त: ।।५७।।

उपजातिवृत्तमेतत्

प्रसादनिष्ठ: पुरुषोत्तमे नृप:, सिल्पिल्लभक्तोऽलमुभे हि बालिके ।
कर्मा च भक्तार्थविषप्रदे ह्युभे, स्वस्त्रीयभक्तश्च हि मातुलस्तथा ।।५८।।

शार्दूलविक्रीडितम्

हंसाश्चैव सदाव्रती भुवनचौहानश्च कामध्वजो
ग्वाल: श्रीहरिपालको जयमल: श्रीसाक्षिगोपालक: ।
सस्त्रीकद्विजरामदासवर-जस्सुस्वामि-वाराङ्गना:
अन्तर्निष्ठ-सुवेषनिष्ठ-नृपती श्रीनन्ददासस्तथा ।।५९।।

इत: श्लोकद्वये पज्झटिका

गुरुनिष्ठो लड्डूभक्तश्च, पद्मनाभ-तत्वाजीवाश्च ।
माधवदासविज्ञगोस्वामी, श्रीरघुनाथदास-गोस्वामी ।।६०।।
श्रीबलदेव-कृष्णनामानौ, यावavतीर्णौ भुवि भूमानौ ।
नित्यानन्द-कृष्णचैतन्यौ, तावेव हि गदितौ नहि चान्यौ ।।६१।।

इत: शार्दूलविक्रीडितं श्लोकपंचके

अद्वैतश्च सनातनश्च वररूपो माधवेन्द्र: पुरी
जीव: श्रीरघुनाथभट्ट इतरौ गोपालभट्टस्तथा ।
श्यामानन्द-गदाधरावपि शची लक्ष्मीश्च विष्णुप्रिया
श्रीगोपालगुरुस्तथा नरहरि: श्रीमज्जगन्नाथक: ।।६२।।
श्रीमत्केशवभारतीश्वरपुरीवर्यौ च विद्यानिधि:
श्रीनाथश्च मुकुन्द-राम-हरिदासा: श्रीनृसिंहस्तथा ।
श्रीवासश्च हि सार्वभौम-जगदानन्दौ प्रतापो नृप:
श्रीदामोदर-शंकरावपि मनोहारि-प्रियादासकौ ।।६३।।
श्रीवक्रेश्वर-चन्दनेश्वर-मुरारि-श्रीस्वरूपप्रबो-
धानन्दाश्च हि विश्वनाथ-बलदेव-श्रीलगोविन्दका: ।
श्रीशुक्लाम्बर-कृष्णदासकविराज-श्रीशिवानन्दका:
श्रीकान्त: कविकर्णपूर उदित: श्रीविश्वरूपस्तथा ।।६४।।

श्रीहाडाइरु वीरचन्द्र-वसुधा-पद्मावती-जाह्नवा:
गौरीदास-नरोत्तमौ नकुलवर्णी श्रीनिवासस्तथा ।
भूगर्भश्च सनातनश्च वसुरामानन्दक: श्रीधर:
सीता-भट्टगदाधरौ तपनमिश्रो माधवाचार्यक: ॥६५॥
श्रीनीलाम्बरको मुरारिरसिक: श्रीवल्लभाचार्यक:
प्रद्युम्नश्च हि रामचन्द्र-तुलसीमिश्रौ सुखानन्दक: ।
कृष्णानन्दपुरी नृसिंहसुपुरी श्रीलक्ष्मणाचार्यक:
श्रीवृन्दावनदास-हर्ष-हृदयानन्दाश्च काशीश्वर: ॥६६॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीसूरदासमदनादिकमोहनश्च, श्रीचन्द्रशेखर-हलायुध-विष्णुदासा: ।
वंशीमुखश्च मधु-राघवपण्डितौ च, श्रीवासुदेव-निधिलोचनठक्कुराश्च ॥६७॥

विद्युन्माला-वृत्तमेतत्

गोपीनाथाचार्यो ब्रह्मानन्द: श्रीमत्काशीमिश्र: ।
गंगादास: श्रीमद्रामानन्द: श्रीमद्वाणीनाथ: ॥६८॥

इत: श्लोकद्वये इन्द्रवज्रा-वृत्तम्

आचार्यरत्न: प्रभुवासुदेवाचार्यस्तथा श्रीपतिलोकनाथौ ।
चैतन्यभक्ता: खलु भक्तमालाकारैरनुक्ता अपि ते मयोक्ता: ॥६९॥
चैतन्य भक्ता अपि भक्तमाला-,मध्ये निरुक्ताश्च पृथक्तया ये ।
एकत्र संयोज्य मया निरुक्ता-,स्ते चाऽपि सम्यक् परिशीलनाय ॥७०॥

इत: पज्झटिका-वृत्तत्रयम्

सूरदास-श्रीकेशवभट्टौ, परमानन्ददास-श्रीभट्टौ ।
श्रीहरिव्यास-दिवाकरनाथौ, त्रिपुरदास-श्रीविट्ठलनाथौ ॥७१॥
गिरिधर-गोविन्द-गोकुलनाथा, बालकृष्ण-रघुनाथ-यदुनाथा: ।
श्रीघनश्याम-कृष्णदासौ च, गंगल-वर्धमानभक्तौ च ॥७२॥
भीष्मभट्ट-कमलाकरभट्टौ, विट्ठलदास-नारायणभट्टौ ।
हरिरामहठी क्षेमगोस्वामी, वल्लभश्च हरिवंशस्वामी ॥७३॥

वसन्ततिलका-वृत्तमेतम्

श्रीआशुधीरतनयो हरिदासवर्य:,
श्रीव्यासकोऽलिभगवान् मधुगोपतिश्च ।

श्रीविट्ठलादिविपुलश्च घमण्डिरङ्गौ,
श्रीकृष्णदास-बुधवर्णिवरौ[1] च सोझाः ॥७४॥

इतः पज्झटिका-पञ्चकम्

जगन्नाथथानेश्वरवर्यः, सीवाँ युगलकिशोरो वर्यः।
आधारो हरिनाम-सुवर्यः, आशाधरस्त्रिलोचनवर्यः ॥७५॥
हृषीकेश-द्यौराजनि-वर्यौ, श्रीसदना-काशीश्वरवर्यौ।
कृष्णकिङ्करः कटहरियाजिः, सोभूराम उदारामाजिः ॥७६॥
पद्मो डूँगर-पदारथौ च, रामदास-विमलानन्दौ च।
रामरावलः श्यामः खोजिः, श्रीसोहा दलहा पद्माजिः ॥७७॥
मनोरथो राँका वाँकाजिः, द्यौगुर्जाडागुरुचाचाजिः।
श्रीलसवाई चाँदानीपाः, श्रीपुरुषोत्तम-चतुरौ कीताः ॥७८॥
लक्ष्मण-लड्डू त्यागी लफराः, सूरज-कुम्भनदासौ नफराः।
खेमविरागि-विमानि-भावनाः, विरहिभरत-हरिकेश-पावनाः ॥७९॥

वसन्ततिलका-वृत्तमेतत्—

श्रीचक्रपाणि-हरिदास-तिलोकवर्या,
विज्जुस्तथा पुरखदीरपि सोमनाथः।
सोमस्तथा वनचराऽन्वयजोद्धवश्च,
श्रीभीम-विक्क-लमध्यानवरा विशाखाः ॥८०॥

इतः श्लोकत्रये अनुष्टुब्-वृत्तम्

महदाश्च मुकुन्दश्च गणेशश्च त्रिविक्रमः।
वाल्मीकिश्च रघुश्चैव जननो वृद्धव्यासकः ॥८१॥
झाँझूश्च विट्ठलाचार्यो हरिभूर्हरिदासकः।
लाला बाहुबलो लाखा राघवाचार्य-छीतरौ ॥८२॥
उद्धवश्च कपूरश्च घाटमो घूरिरेव च।
देवानन्द-मुकुन्दौ च नृहर्यानन्द एव च ॥८३॥

वसन्ततिलका-वृत्तमेतत्

श्रीरङ्ग-छीतम-महीपति-सन्तरामाः
श्रीनन्द-विष्णु-बजु-माधव-खेमरामाः।
दामोदरो नृहरि-मण्डन-वींद-रूपाः.
श्रीद्वारिकाशरणको[2] भगवाँश्च बालः ॥८४॥

१—पं० कृष्णदासजी, ब्रह्मचारी कृष्णदासजी। २—द्वारिकादासः।

इन्द्रवज्रा-वृत्तमेतत्

श्रीकान्हरः केशवकेशवौ च, लोहंग-नानू च प्रयागदासः ।
गोपाल-खेता-हरिनाथ-भीमा, गोविन्दवर्णी किल बालकृष्णः ।।८५।।

पज्झटिका-वृत्तम्

बडभरतोऽच्युत-मुकुन्दलालौ, गुणनिधिरपया-जसगोपालौ ।
विद्यापति-गोपीनाथौ[1] च, ब्रह्मदासजि-वहोरनकौ च ।।८६।।

इतः श्लोकद्वये अनुष्टुब्-वृत्ताम्

रामलालो विहारी च गोविन्दस्वामिकस्ततः ।
भक्तभाई-प्रियदया-लौ गंगारामकस्ततः ।।८७।।
श्रीमत्परशुरामश्च खाटीकः केशवस्तथा ।
आशाकरण-पूरण-भीष्मा जनदयालकः ।।८८।।

इतः पज्झटिका-वृत्तद्वयम्

दासूस्वामी श्रीरघुनाथः, गुञ्जामाली गोपीनाथः ।
रामभद्र-वीठलभक्तौ च, चितउत्तम-मरहठ-भक्तौ च ।।८९।।
गोविन्द-यदुनन्दन-रघुनाथाः, भगवत्केशव-मुकुन्दनाथाः ।
मुरलीश्रोत्रिय-रामानन्दौ, श्रीहरिदासमिश्रजि-मुकुन्दौ ।।९०।।

इतः श्लोकद्वये उपजातिः

चरित्रभक्तश्च चतुर्भुजश्च, श्रीविष्णुदासोऽपि च वेनिभक्तः ।
झाली च सीता सुमतिश्च शोभा, उमा च गंगा प्रभुता कुमारी ।।९१।।
गोपाल्युवीठा च गणेशदेवी, कला लखा चैव कृतज्ञढौजी ।
श्रीसत्यभामा यमुना च कोली, रामा मृगा मानवती च देवा ।।९२।।

इन्द्रवज्रा-वृत्तम्

कीकी च जेवाद्वयमेब हीरा, श्रीदेवकी श्रीकमला च गौरी ।
जापूस्तथा श्रीहरिचेरिका च, धारा च रूपा नरवाहनश्च ।।९३।।

पज्झटिका वृत्तमेतत्—

मधुकरशाह-वाहनवरीशौ, जयमल-विन्दावतकावीशौ[2] ।
गम्भीरार्जुनकश्च जयन्तः, श्रीगोविन्द उदारावन्तः ।।९४।।

१—श्रीगोपीनाथपण्डा । २—समर्थाविरयर्थः ।

उपजातिरेषा—

जनार्दनश्चाऽनुभवी च जीता, दामोदरः सांपिलको गदाश्च ।
श्रीईश्वरो हेमविदीतकश्च, श्रीमन्मयानन्द-गुढीलकौ च ॥९५॥

इतः श्लोकचतुष्टये पज्झटिका-वृत्तम्

मोहनवारी-तुलसीदासौ, वनियाँराम-गाँवरीदासौ ।
दाऊराम-जगदीशदासौ, श्रीमल्लक्ष्मण-भगवद्दासौ ॥९६॥
श्रीगोपालो लाखाभक्तः, गोपालश्च जावनेरस्थः ।
नरसीभक्त-श्रीदिवदासौ, श्रीलयशोधर-नन्दसुदासौ ॥९७॥
खिन्नदास उ चतुर्भुजदास-,श्चेतस्वामी माधवदासः ।
चतुर्भुजोंऽगद-जदगोपालौ, मीरा पृथ्वीराड्-जयमालौ ॥९८॥
लवुजन-रामचन्द्र-नीवांश्च, अभयराम-भगवद्धिरमाश्च ।
रायमलोऽक्षयराज ईश्वरः, मधुकरशाहः श्रीलकान्हरः ॥९९॥

उपजाति-वृत्तमेतत्—

खेमालरत्नश्च किशोरसिंहः, स्वधर्मपत्नीयुत-रामरेनः ।
चतुर्भुज-श्रीहरिदास-सन्त-,दासास्तथा चालककृष्णदासः ॥१००॥

इन्द्रवज्रा-वृत्तमेतत्—

कात्यायनी चैव मुरारिदासो, गोस्वामि-पूर्वस्तुलसीसुदासः ।
श्रीमानदासो गिरिधारिलालो, गोस्वामि-श्रीगोकुलनाथवर्यः ॥१०१॥

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

चौड़ा-चौमुख-चंड-कोल्ह-करमानन्दाऽल्हका माधवः
श्रीसाधुर्वनमालिदास-दुदुकौ चौरासिको माण्डनः ।
श्रीनारायणमिश्र-वावनक-जीवानन्द-सीवास्तथा
सीवां-राघवदासकौ परशुरामो दासनारायणः ॥१०२॥
पृथ्वीराजजि-प्रेमसिंह-जुजुवाः कल्याणसिंहस्तथा
श्रीमन्माधवसिंह-वोहिथवरौ राज्ञी च रत्नावती ।
श्रीनारायणदास-नर्तकमणिः श्रीरामदासस्तथा
गोविन्दश्च हि वर्धमान उ जगन्नाथादिपारीषकः ॥१०३॥
छीतस्वामि-गदाधरौ च मथुरादासस्तथा मांडिलः
श्रीगोसू-यशवन्त-कन्हरवराः श्रीरामगोपालकः ।
श्रीश्यामश्च कुमारवर्य-हरिनाभामिश्रकौ नारदो
दीनादासक-वत्सपालकवरौ श्रीरामदासस्तथा ॥१०४॥

श्रीगंगा भगवज्जनावलमनन्तानन्दकश्चोद्धवो
विश्रामश्च हि कृष्णजीवनवरो नारायणान्तो हरिः।
कुंडा-किंकर-ब्रह्मदास-परसा रामा विहारी तथा
श्रीखेमाच्युतरामरेणु-जयदेव-श्यामदासास्तथा ॥१०५॥
गोपानन्द-दयाल-राघववरा दामोदरो मोहनः
श्रीसोठा-बिदुरोद्धवाश्च परमानन्दः प्रधानस्तथा।
श्रीखोरा-चतुरीनगान-रघुनाथाः कृष्णदासस्तथा
श्रीखेमा[1] भगवद्द्वयी[2] च परमानन्दश्च गोमोद्भवः[3]॥१०६॥

वसन्ततिलका-वृत्तमेतम्

श्रीश्यामदास-जयतारण-विट्ठलाश्च, गोपाल-चीधडजि-केवलदास-पीपाः।
जंगी च पूरण-विनोदि-प्रयागदासाः, श्रीमद्दिवाकरवरो वनमालिदासः ॥१०७

इतः पज्झटिकावृत्तं श्लोकसप्तके

नृसिंहदासो भगवद्दासः, किशोरदासश्च जगतदासः।
सल्लूधो जगन्नाथदासः, श्रीखांचीः श्रीखेमादासः ॥१०८॥
टीला लघूद्धवो धर्मदासः, श्रीलीहाः परमानन्ददासः।
खेमदासकः खरतरदासः, श्रीध्यानदासः, केशवदासः ॥१०९॥
श्रीमत्योलाः श्रीहरिदासः, श्रीवीठलसुत-कान्हरदासः।
नीवास्तूवा भगवद्दासः, जसवन्तो भीमो हरिदासः ॥११०॥
विष्णुदासको गोपालश्च, आशकरणराजर्षिवरश्च।
रूपदासको भगवद्दास-,श्चतुरदासकश्छीतरदासः ॥१११॥
रसिकरायमल-देवादासौ, गौरदासजि-रायमलदासौ।
लाखैं-दामोदरभक्तौ च, गोपालदास-नाथभट्टौच ॥११२॥
तूँवरदास-गंगग्वालौ च, परशुरामजा करमेती च।
शेषावतिराडपि तत्रस्थः[4], श्रीमत्खड्गसेनकायस्थः ॥११३॥
सोती-प्रेमनिधी लालदासः, माधवग्वालः प्रयागदासः।
पदुमा राघवदासदुर्बलः, हरिनारायण ऊधा अटलः ॥११४॥

इतः श्लोकद्वये शार्दूलविक्रीडितम्

देमा-खीचनि-पूनिराश्च तुलसीदासश्च हीरामणिः
वीरा रामसुदाकश्च परमानन्दश्च रैदासिनी।

१—खेमा पण्डा। २—कालखेके, सांगरेनके। ३—गोमावाले।
४—यत्र करमेती उत्पन्ना तत्रस्थ इत्यर्थः।

श्रीरामाऽपि च गौमती च यमुना श्रीदेवकल्याणको
वीरां पर्वतजाद्वयी[1] किल धना लालो च लक्ष्मीस्तथा ।।११५।।

श्रीजेवा हरिषा तथा जयसिनी गंगा च केशी तथा
श्रीमत्कान्हरदास-केशवलटेरौ वादरानी तथा ।
कल्याणो हरिवंशकः कुमरिरायो भीमसिंहस्तथा
रङ्गः केवलराम आसकरनः श्रीधर्मदासस्तथा ।।११६।।

लाखै-वीठलदासकौ परशुरामः श्रीसदानन्दकः
कल्याणोऽपि च श्यामदास-हरिदासौ वंशनारायणः ।
श्रीमच्छङ्कर-कृष्णदास-जगदेवा ग्वालगोपालकः
श्रीदामोदरतीर्थकः खडगुकः श्रीचित्सुखानन्दकः ।।११७।।

अनुष्टुब्-वृत्तमेतम्

माधवानन्दकः श्रील-मधुसूदन-सरस्वती ।
नृसिंहारण्यकश्चैव रामभद्रसरस्वती ।।११८।।

इतः पज्झटिकात्रयम्

जगदानन्द-द्वारिकादासौ, लक्ष्मणभट्ट-गदाधरदासौ ।
पयोव्रतः श्रीयुतकृष्णदासः, पूर्णः श्रीनारायणदासः ।।११९।।
कल्याणसिंहो भगवद्दासः, सन्तदासको माधवदासः ।
आनन्दसिंहः कान्हरदासः, जगतसिंहको गोविन्ददासः ।।१२०।।
दीपकुमारी वासोदेवी, जयसिंहो गोपाली देवी ।
गिरिधरग्वाल-रामदासौ च, रामराय-श्रीभगवन्तौ च ।।१२१।।

उपजाति-वृत्तमेतत्

श्रीरामदासश्च विलासदासः, किशोरदासस्त्रय एव चैते ।
व्यासात्मजा लालमती च भक्ता, पीपाश्रितो भूपतिसूर्यसेनः ।।१२२।।

शार्दूलविक्रीड़ितमेतत्

इत्येषा गदिता मयाऽघदमनी श्रीभक्तनामावली
यां श्रुत्वा मुदितो भवत्यतितरां श्रीकृष्णचन्द्रः स्वयम् ।
तस्माद् येऽभिलषन्ति लब्धुमचिरात् पादाम्बुजं श्रीहरे-
स्ते नित्यं प्रपठन्तु प्रीतिसहिता उद्दिश्य प्रीतिं हरेः ।।१२३।।

१—दोनों पार्वती ।

शिखरिणी वृत्तमेतत्—

हरेर्भक्ता ये सन्त्यपि च भवितारः समभवन्
समस्ताँस्तान्नत्वा लघुमतिरहं प्रार्थय इदम् ।
अये भक्ता ! यूयं कुरुत रतिहीने मयि कृपाम्
ममाऽक्ष्णोः पन्थानं हरिरटतु रामेण सहितः ।।१२४।।

स्रग्धरा-वृत्तमेतत्

यस्याः पाठस्य मुख्यं फलमपि गदितं श्रीहरिप्राप्तिरेव
या दातुं तं समर्था परमपि पुरुषं भोग्यमन्यत्तु किन्नो ।
तस्माद् भावानुसारं सकलजनमनोदोहदं पूरयन्ती
सा नित्यं प्रादुरास्तां मम रसनतरौ चिन्मयी कल्पवल्ली ।।१२५।।

एतां मालां श्रीहरिगले समर्पयति पञ्चचामर-वृत्तेन—

विचित्रवृत्त-गुच्छकैर्विचित्रभाव-गन्धकै-
र्विचित्रनाम-पुष्पकैर्विचित्रभक्ति-सूत्रकैः ।
हरे ! मुदा विनिर्मिता समर्पिता गले च ते
मुदं तनोतु भक्तनाममालिकेयमाशु ते ।।१२६।।

अधुना ग्रन्थसमाप्तिकालमभिधत्ते तूणक-वृत्तेन—

पक्ष-शून्य-शून्य-पक्षकैर्मिते तु वत्सरे
विक्रमार्क-भूपतेश्च मार्गशीर्ष-मासके ।
शुक्लपक्ष-पञ्चमीतिथावियं समापिता
सूर्यजा-तटी-कुटीर-वासिना तु केनचित् ।।१२७।।

अधुना स्वकृतज्ञताप्रकाशनाय यस्य दयया भक्तिभागभवं स इमां मम कृतिं दृष्ट्वा प्रसन्नो भवतु जीयाच्चेत्याह सनामनिर्देशं आर्यावृत्तद्वयेन—

यस्य दयालवबलतो, बलहरिपदयोर्ममाऽनुरागोऽभूत् ।
स कृतिमिमां मम दृष्ट्वा, तुष्टः प्रेष्ठो हरेर्भूयात् ।।१२८।।
श्रीलरामहरिदास, इत्यपराख्याऽपि यस्य विख्याता ।
शिक्षानिदेशिको मे, यः शास्त्रज्ञः स संजीयात् ।।१२९।।

श्रीभक्तनाम-मालिकायाः पाठस्य महत्त्वम्—

श्रीभक्तनामस्रगियं मनुजैः स्वकण्ठे
यैर्धास्यते प्रतिदिनं हरिसंनिधाने ।
भुक्त्वा हरेः करुणया भुवि सर्वसौख्यं
संप्राप्स्यते सुखतया हरिसंनिधिस्तैः ।।१३०।।

भावुक-पाठकेभ्यः प्रार्थना—

श्रीकृष्णानन्ददासाऽनुचर-विरचिता मालिकेयं समाप्ता
भक्तानां सौख्यदात्री प्रतिपदममल-प्रेमपीयूष-पात्री ।
दृष्ट्वेमां भक्तवृन्दाऽऽह्वय-कथनपरां भावुका ! भावसिन्धौ
स्नात्वा पूर्वं ततो मां स्नपयत कृपया बालकं मात्रिकेव ॥१३१॥

इति श्रीनिखिलशास्त्रपारावार-पारदृश्व-सख्यावताराष्टोत्तरशत-स्वामि-
श्रीकृष्णानन्ददासजी-महाराज-शिष्येण काव्य-वेदान्ततीर्थेन
घटिकाशतकेन महाकविना श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा
गुम्फिता "भक्त-सहस्रनाम" इत्युपनाम्नी
श्रीभक्तनाम-मालिका सम्पूर्णा ।

★

ग्रन्थकारगुरोः प्रशस्तिः

[लेखक—श्रीकृष्णचैतन्यदासजी]

भ्रामं भ्राममलं बहिर्मुखजनग्रामान् कृतानुग्रहं
ग्राहं ग्राहमनर्गलं कलिमहामन्त्रं जनान् ग्राहयन् ।
श्रीकृष्णप्रवणीकृतः किल बहूञ्जीवानिहाजीवनं
कृष्णानन्दमहात्मपण्डितमहाराजः स मे जीवनम् ॥१॥
आर्येत्याख्यकलङ्ककारिपुरुषव्रातैरसद्वादिभिः
सत्रा शास्त्रविचारणेऽर्जितजयो जल्पादिभी रीतिभिः ।
सिद्धान्तं हरिभक्तिसाधकतमं सर्वत्र संस्थापयन्
कृष्णानंदमहात्मपण्डितमहाराजः स मे जीवनम् ॥२॥
यः श्रीभक्तिरसामृताम्बुधिकणास्वादेन जातोन्मनाः
क्षारं नीरमिवाऽजहादपि धृतं संन्यासलिङ्गं पुरा ।
पश्चाच्छ्रीलमहाप्रभोः प्रकटितां भक्तिध्वजां धूनयन्
कृष्णानन्दमहात्मपण्डितमहाराजः स मे जीवनम् ॥३॥
यः सख्यात्मकभावमेव परमं गोष्ठे हि दास्यं नव-
द्वीपे श्रीलमहाप्रभोश्च समुपाश्रित्याऽभजच्छ्रीहरिम् ।
शिष्यस्तोममशिक्षयच्च निजवद् भक्तिं हरेस्तादृशीं
कृष्णानन्दमहात्मपण्डितमहाराजः स मे जीवनम् ॥४॥

श्रीगुरुदेवस्मरणाष्टकम्

निर्माणकालः वि० सं० २००० मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष

बुडालाख्ये ग्रामे जनिरपि यदीया समभवत्
यदीयो भोलाराम इति विदितोऽभूद्धि जनकः ।
स्वयं यः सौन्दर्याञ्चित-तनुरभूद् भूसुरवरः
स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥१॥

ततो यातो हित्वा गृहमपि हि यः षोडशसमो
मुदा काशीं तत्राऽप्यलमपठदल्पैरपि दिनैः ।
विपश्चिद्वर्याच्छास्त्रमलघु तिवाडीति विदितात्
स आचार्य किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥२॥

गजानन्दैर्नीतः पुनरपि च संन्यासिसरणिम्
ततो दातुं सर्वे मठपतिपदं यस्य च कृते ।
वभूबुः संसक्तास्तदपि नहि यस्तत्समनयत्
स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥३॥

ततो यातो हित्वा मठपतिपदं यो विषमिव
मुदा वृन्दारण्यं हरिजनशरण्यं शुभकरम् ।
अभूद् यस्तत्राऽपि प्रभुजनप्रसङ्गात् प्रभुजनः
स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥४॥

भुवि भ्रामं भ्रामं श्रुतिशरचयैर्नास्तिकमृगाः
कृताः पापारण्यान्नरकभयदाद् धर्मवनगाः ।
न यत्राऽऽस्ते भीतिः शमनमृगयु-त्यक्तशरजा
स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥५॥

विलुप्तप्राया सख्यरस-परिपाटी प्रकटिता
तथा तद्रक्षायै सखिरसपरो येन रचितः ।
बृहद्ग्रन्थो यस्य प्रणिगदति कीर्तिश्च विमलाम्
स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥६॥

श्रुतीनां पत्री नास्तिकमदविनाशाय लिखिता
तथा भक्तिग्रन्थेष्वपि बहुषु टीका विलिखिताः ।
तथा येन श्रीभागवत-सुविमर्शो विरचितः
स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्तति पुनः ॥७॥

सदा स्वादं स्वादं बलहरिकथाकीर्तनरसम्
प्रियैर्भक्तै रात्रिन्दिवमपि च यो नैव बुबुधे ।
तथा वै यस्याऽजागरुरखिलशास्त्राणि हृदये
स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ।।८।।

गुरूणामस्माकं प्रथितयशसामष्टकमिदम्
शरीरी यो नित्यं पठति मुदितो भावसहितः ।
गुरौ तस्य प्रीतिर्भवति विमला भावविपुला
तथा श्रीमद्रामानुजबलकृपाभाजनमपि ।।९।।

त्रिभिः शून्यैर्द्वाभ्यां खलु परिमिते विक्रमसमे
शुभे मार्गे मासे सितदलवरे चाष्टकमिदम् ।
तथा वृन्दारण्ये तररिदुहितू रोधसि वस-
न्नकार्षीदार्ततमा भुवि हि वनमालीति विदितः ।।१०।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचितं पूज्यपाद-श्रीलश्री १०८ स्वामिश्रीकृष्णानन्ददासजीमहाराज-स्मरणाष्टकं सम्पूर्णम् ।
कृतेनाऽनेन श्रीगुरुदेवः प्रसन्नो भवतु ।

★

प्रातः स्मरणस्तोत्रम्

निर्माण काल—वि० सं० २००४ पौष शुक्ल द्वितीया प्रातः

प्रातः स्मरामि बलकृष्णपदारबिन्दं, वज्रांऽकुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-,ज्योस्नाभिराहतमहद्हृदयान्धकारम् ।।१।।

प्रातः स्मरामि बलकृष्णकरारविन्दं, नेत्राञ्जनाङ्कलगनादिव रूढभृङ्गम् ।
मित्रैः सुदाम-वसुदाम-मुखैरूदूढं, प्रातः प्रबोधपरया च यशोदयाऽपि ।।२।।

प्रातः स्मरामि बलकृष्णमुखारविन्दं, सच्चित्तमानस-सरोवर-रूढमूलम् ।
सेव्यः सदाऽस्य मकरन्द उदात्तभृङ्गैः,सच्छास्त्रकाननविसारिसुगन्धपुञ्जम् ।।३।।

प्रातः स्मरामि बलकृष्णसुनामधेयं, ध्येयं सदैव हृदयेऽपि परावरैश्च ।
मुक्तिं ददानमपि हेलनया गृहीतं, यच्चेतिहासनिगमागमगीतकीर्ति ।।४।।

प्रातः स्मरन्ति भुवि पद्यचतुष्कमेतद्, ये मानवाः स्मरति तानपि रामकृष्णः ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति-,रित्याह तत्सहचरो वनमालिदासः ।।५।।

श्रीवृन्दावनाष्टकम्

निर्माणकालः—वि० सं० २००४

श्रीकृष्णवेणुरवफुल्ललतावितान !, गुञ्जन्मधुव्रत-पिकालि-परीतकुञ्ज !
सौरीसरोरुहसमर्षितवातगन्ध !, वृन्दावन ! प्रशमयाशु मनोरुजं मे ॥१॥
निःश्रेयसाख्यवनतोऽपि विकुण्ठपूःस्थात्, शोभां सहस्रगुणितां दधदप्रमेय ! ।
यद्रामकृष्णचरणाङ्कसमर्चिताङ्ग !, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशुमनोरुजं मे ॥२॥
अश्रान्तपुष्पितलताव्रजपुष्पपुञ्ज-,विस्तारिसौरभ-चमत्कृत-चंचलाक ! ।
वैकुण्ठनाथपरिकीर्तितकीर्तिमाल !, वृन्दावन ! प्रशमयाशु मनोरुजं मे ॥३॥
गोविन्दवेणुकलगीतरसज्ञलोक !, श्यामाङ्ग-दर्शनटद्बहुनीलकण्ठ ! ।
हे मर्त्यलोकसुभगत्वप्रसिद्धकेतो !, वृन्दावन ! प्रशमयाशु मनोरुजं मे ॥४॥
श्रीराधिकारसविवर्धकरासलीला-,तौर्यत्रिकोत्पुलकिताङ्गरुहैर्मनोज्ञ ! ।
सर्वज्ञकृष्णनटलास्यप्रयोगसाक्षिन् !, वृन्दावन ! प्रशमयाशु मनोरुजं मे ॥५॥
गोवर्धनो विजयते हरिदासवर्यः, सूर्यात्मजा च सुषमामधिकीकरोति ।
यत्राऽच्युतोऽपि विजहार सखिव्रजेन, वृन्दावन ! प्रशयमाशु मनोरुजं मे ॥६॥
सर्वत्र नष्टविभवा हरिभक्तिरत्र-,नृत्यं करोति किल वैष्णवमानसेषु ।
दिव्याङ्ग ! दिव्यपशुपक्षिलतादिलोक !, वृन्दावन! प्रशमयाशु मनोरुजं मे ॥७॥
यत्त्यक्तुमिच्छति हरिर्न मनागपि त्वां, यत्रोद्धवो विधिरपीच्छति जन्म तार्णम् ।
कस्ते वनाधिप ! गुणान्कथयरवतो विद्, वृन्दावन ! प्रशमयाशु मनोरुजं मे ॥८॥
वृन्दावनाष्टकमिदं स्थिरधीर्मनुष्यः, श्रद्धाऽन्वितोऽनुशृणुयादथकीर्तयेद् यः ।
वृन्दावनस्य कृपया भुवि लब्धभोगो, भूत्वा हरिप्रणयभाजनमस्तु चान्ते ॥९॥
वेदाभ्रशून्यनयनैश्च मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कवसुधाधिपतेरकार्षीत् ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकबिरवशक्ति-,वृन्दावनाष्टकमिदं वनमालिदासः ॥१०॥

इति श्रीवृन्दावनाष्टकं सम्पूर्णम् ।

श्रीगोवर्धनाष्टकम्

निर्माणकालः—वि० सं० २००४

श्रीकृष्णचन्द्रभुजदण्डवरे विराजन्, सप्ताहमिन्द्रकृतवर्षभयाद् व्रजस्य ।
रक्षां विधाय दलितेन्द्रकृताभिमान !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥१
आविर्भवन् प्रकटरूपतया हरिस्त्वां, प्राभक्षयत् सुबहुगोपकुलार्पितान्नम् ।
तुष्टस्त्वमाशु वरहर्षितगोपलोक !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥२॥
पापक्षयाय धृतमानसजाह्नवीक !, फुल्लद्रसालकुलकोकिलकाकलीक ! ।
राधासरः प्रभृतिदीर्घजलाशयाढ्य !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥३॥

कूजद्विहङ्गमकदम्बकदम्बशोभ !, नृत्यन्मयूरकुलशोभितदीर्घशृङ्ग ! ।
नीलाम्बुदाभहरिगात्रसमानगात्र !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥४॥
दर्पं हरेर्दलयता हरिणा बलेन, नन्दादिगोपनिवहैः सह पूजिताङ्ग ! ।
अद्यापि पूज्यपद ! कार्तिकपक्षतौ हे, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥५॥
कुञ्जैश्च गुञ्जदलिपुञ्जसुमञ्जुपुष्पैः, कृष्णस्य खेलनसुखैः ससखिव्रजस्य ।
शोभाढ्यगह्वरकुलैश्च परीतदेह !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥६॥
छत्रीभवन् हरिकरोपरि स्वं यथार्थम्, नामाऽकरोस्त्वमपि गोकुलवर्धनाद् वा ।
धातुव्रजैरपि च दीपितसानुभाग !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥७॥
यः पूजितो विधिगिरीशमहेन्द्रमुख्यै-,र्देवैश्च तेन हरिणा परिपूजिताङ्घ्रे ! ।
कस्तेऽद्रिराज ! महिमानमतो ब्रवीतु, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥८॥
गोवर्धनाष्टकमिदं कृतधीर्मनुष्यः, श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
गोवर्धनस्य कृपया भुवि लब्धभोगो, भूत्वा हरिप्रणयभाजनमस्तु चान्ते ॥९॥
वेदाभ्रशून्यनयनैश्च मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कवसुधाधिपतेरकार्षीत् ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति-,र्गोवर्धनाष्टकमिदं वनमालिदासः ॥१०॥

इति श्रीगोवर्धनाष्टकं सम्पूर्णम् ।

श्रीरामभद्रदशकम्

निर्माणकालः वि० सं० २००७ भाद्रपद

भूमेरभद्रमवतारयितुं शिवाद्यै-,रभ्यर्थितः सुरगणैर्भगवन् ! सदैन्यम् ।
स्वीकृत्य तत्सुवचनं तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमपैति नो मे ॥१॥

हे भगवन् ! रामभद्र ! त्रेतायुग में भूमि का भार उतारने के लिये शिवप्रभृति देवताओं ने आप से दीनतापूर्वक प्रार्थना की थी, आपने उनके सुन्दर वचनों को अंगीकार करके उस समय भूमी का भार उतार दिया था, किन्तु हा प्रभो ! मेरा अभद्र (अमङ्गल) क्यों दूर नहीं हो रहा है ? ॥१॥

कौशल्यया दशरथेन पुरा भृशं वै, संप्रार्थितः स्वकमभद्रमपावरीतुम् ।
भूत्वा तयोः सुतनयस्तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमपैति नो मे ॥२॥

देखो प्रभो ! कौशल्या एवं दशरथजी ने अपने निःसन्तानतारूप अभद्र उतारने के लिये पहले आप से भारी प्रार्थना की थी, आपने उन दोनों के सुपुत्ररूप में अवतीर्ण होकर उनका वह अभद्र दूर कर दिया था, किन्तु हा रामभद्र ! मेरा अभद्र (अकल्याण) क्यों दूर नहीं होता प्रभो ? ॥२॥

मारीचरूपमधिकं स्वमभद्रजातं, दूरं विधातुमृषिणा भृशमर्थितो वै ।
रक्षन् सवं लघु ऋषेस्तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमपैति नो मे ॥३॥

ऋषिवर्य विश्वामित्र ने अपने यज्ञ के विघातक मारीच राक्षसरूप विशिष्ट अमङ्गल को दूर करने के लिये आपसे भारी प्रार्थना की थी, आपने उनके यज्ञ की रक्षा करते हुए उनके उस अमङ्गल को दूर भगा दिया था, किन्तु हा प्रभो ! रामभद्र ! मेरा अमङ्गल आज भी क्यों दूर नहीं हो रहा है ? ॥३॥

शैली वने निपतिता विजनेऽप्यहल्या, तस्यास्त्वभद्रमिह गौतमशापरूपम् ।
मार्गे व्रजन् करुणया तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमपैति नो मे ॥४॥

अहल्या माता विजनवन में शिलारूप बनकर पड़ी हुई थी, इस संसार में उनका तो श्रीगौतमजी का शाप ही अभद्र था, उसको आपने अपनी अहैतुकी करुणा के द्वारा जनकपुरी के मार्ग में चलते चलते अनायास दूर कर दिया, किन्तु हा प्रभो ! रामभद्र ! मेरा अभद्र आज भी क्यों दूर नहीं हो रहा है ? ॥४॥

सीताविवाहसमये समभद्ररूपं, शैवं धनुः स्वहृदये मिथिलाधिराजः ।
सत्वाऽऽस शोकविकलस्तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥५॥

जगज्जननी जानकी के विवाह के समय मिथिलाधिपति जनकजी अपने हृदय में शिवजी के धनुष को ही विशिष्ट अभद्र मानकर तथा शोक-विकल होकर किं कर्तव्य विमूढ़ होकर बैठे थे; आपने इक्षुदण्ड के समान शिव कोदण्ड के खण्ड बनाकर जनकजी का अभद्र दूर कर दिया था, किन्तु हा प्रभो ! रामभद्र ! मेरा अभद्र (अशुभ) अब भी क्यों दूर नहीं हो रहा है ? ॥५॥

कैकेयिका-कुवररूपमभद्रजातं, ज्ञात्वा पितुर्दशरथस्य सहर्षमाशु ।
संपाल्य पैत्रवचनं तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमपैति नो मे ॥६॥

पिता दशरथजी का तो कैकेयी का कुत्सित वर-रूप ही अमङ्गल था, यह समझ कर आपने पिता के वचनों का सहर्ष शीघ्र ही पालन कर उस अमङ्गल को दूर भगा दिया, किन्तु हा प्रभो ! रामभद्र ! मेरा अभद्र आज भी दूर क्यों नहीं हो रहा है ? ॥६॥

मैत्रीं विधाय ननु सूर्यसुतेन साकं, तस्याप्यभद्रमिह पूर्वजबन्धुरूपम् ।
हत्वाऽपि वालिनमरं तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमपैति नो मे ॥७॥

संसार में सुग्रीव का अभद्र तो उसका बड़ा भाई बाली ही बनकर बैठा था, आपने सुग्रीव के साथ मित्रता करके बाली को शीघ्र ही मारकर उसके अभद्र को दूर कर दिया था, किन्तु हा प्रभो ! रामभद्र ! मेरा अभद्र आज भी क्यों दूर नहीं हो रहा है ? ॥७॥

मैत्रीं विभीषण उपागत आशु कर्तुं, तस्याप्यभद्रमभवद् कविवाक्यरूपम् ।
मैत्रीं विधाय सहसा तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमपैति नो मे ।।८।।

विभीषणजी आप से तत्काल मित्रता करने को जब आये थे उस समय बानरों के निषेधरूप वाक्य ही उनके अभद्र रूप बन गये थे, किन्तु आप ने तो उनसे सहसा मित्रता करके उनके अभद्र को दूर कर दिया था, तथापि हा रामभद्र ! मैं भी तो आपका मित्र ही हूँ किन्तु मेरा अभद्र क्यों दूर नहीं होता सखे ! "निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमागतिः" इस निजी वचन को याद करके दूर कर दीजिये सखे ! ।।८।।

वर्षं तु ते विरहदं जनकात्मजाया, आसीदभद्रमिह राक्षसराजरूपम् ।
शीघ्रं त्वया करुणया तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमैति नो मे ।।९।।

जनकनन्दिनी जानकी का अभद्र तो इस संसार में, आपका एक वर्ष का विरह देनेवाला वह दुष्ट राक्षसराज रावण ही था, उसको भी आपने अपनी कृपा के द्वारा शीघ्र ही दूर कर दिया, किन्तु हा प्रभो ! रामभद्र ! मेरा अभद्र तो उस राक्षसराज को भी नचानेवाला जगत्-विजयी स्मर-पिशाच है, वह क्यों दूर नहीं हो पा रहा है सखे ! ? ।।९।।

श्रीपादयोर्विरहरूपमभूदभद्रं, दीर्घं तवैव भगवन् ! भरतस्य साधोः ।
आलिङ्ग्य तं तु सदयं तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र ! किमभद्रमपैति नो मे ।।१०

हे भगवन् ! राघवेन्द्र ! देखो, साधु-शिरोमणि भरतजी का तो आपके श्रीचरणों का दीर्घकालीन विरहरूप ही अभद्र था, आपने भरतजी को दयापूर्वक आलिङ्गन करके उनके विरहरूप अभद्र को दूर कर दिया था, किन्तु हा रामभद्र ! मेरा भी विरहरूप अभद्र क्यों दूर नहीं हो रहा है ? कृपया निज आलिङ्गन प्रदान करके उसको दूर भगा दीजिये सखे ! ।।१०।।

श्रीरामभद्र-दशकं दशकं मनुष्यो, नित्यं मुदा पठति भावनया समं यः ।
श्रीरामभद्रकृपया भुवि भूरि सौख्यं, भुक्त्वा ततः स हरिधाम समेति नूनम् ।।११

जो मनुष्य दशों दिशाओं में मङ्गलप्रद, "श्रीरामभद्र-दशक" नामक इस स्तोत्र का भावना के साथ नित्यप्रति प्रीतिपूर्वक पाठ करेगा, वह मनुष्य श्रीरामभद्र भगवान् की कृपा से भूमी में बहुत से सुखों का उपभोग करके, अन्त में निश्चय ही उनके धाम को प्राप्त कर लेगा ।।११।।

लोकाभ्रशून्यमिथुनैश्च मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कनृपतेरपि भाद्रमासे ।
वृन्दावने रचितवान् बहुभावपूर्णं, श्रीरामभद्रदशकं वनमालिदासः ।।१२।।

अनेक भावों से परिपूर्ण इस "श्रीरामभद्र-दशक"-नामक स्तोत्र का निर्माण विक्रम संवत् २००७ के भाद्रपद मास में वृन्दावनधाम निवासी कविरत्न श्रीवनमालिदास शास्त्री ने किया है ।।१२।।

टीका निर्माण समय—वि० सं० २०२६
अधिक वैशाख शुक्ला अष्टमी शुक्रवार मध्याह्नोत्तर

इति श्रीरामभद्र-दशकं समाप्तम् ।

श्रीरामकृष्ण-स्तोत्रम्

श्रीमन्मध्वाचार्यवर्यं नमामः, कारुण्याब्धिं कृष्णचैतन्यदेवम् ।
नित्यानन्दं नित्यमानन्दसिन्धुम्, श्रीलाऽद्वैतं व्यासपुत्रञ्च भक्त्या ।।१।।
आनन्दाब्धौ स्वाञ्जनान् मज्जयन्तौ, भूमेर्भारं दूरमापादयन्तौ ।
यौ कुं प्राप्तौ स्वं यशः ख्यापयन्तौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।२।।
यौ वात्सल्यान्नन्दगेहेऽवतीर्णौ, मातृत्वेन प्रेमरश्मौ निबद्धौ ।
स्वीचक्राते रोहिणी-श्रीयशोदे, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।३।।
वृन्दारण्ये चेरतुश्चारयन्तौ, गा गोपैर्यौ लीलया मर्दयन्तौ ।
रक्षोव्यूहान् देवताः प्रीणयन्तौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।४।।
यौ शोभेते नीलपीते दधानौ, वस्त्रे कक्षे शृङ्गवेत्रे दधानौ ।
गुञ्जाहारान् वंशिकां चाऽऽदधानौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।५।।
गौरां श्यामामङ्गशोभां दधानौ, बर्हापीडं मस्तके चाऽऽदधानौ ।
ऊर्ध्वं पुण्ड्रं श्रीललाटे दधानौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।६।।
श्रीनासाग्रे मौक्तिकं चाऽऽदधानौ, मुक्ताहारान् कौस्तुभं चाऽऽदधानौ ।
केयूरे वा बाहुयुग्मे दधानौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।७।।
हैमे बाह्वोः कङ्कणे चङ्कणाख्ये, सौवर्णे वा कर्णयोः कुण्डले द्वे ।
मञ्जीरौ वा हंसहारिप्रणादौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।८।।
शैलूषाणां वेषमात्रं दधानौ, मित्रावेशाद् धातुचित्राणि चाङ्गे ।
रत्नालीढां शृङ्खलां श्रोणिदेशे, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।९।।
भृङ्गाकारैः कुन्तलैरञ्चितौ यौ, यौ सर्वाङ्गैः सुन्दरौ हृद्यवेषौ ।
स्निग्धौ यौ हैयङ्गवीनादपीह, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।१०।।
गोपैः खेलां नृत्यवादित्रगीतैः, बाहुक्षेपैः सेतुबन्धादिभिर्वा ।
यौ चक्राते स्वाञ्जनान् प्रीणयन्तौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।११।।
हस्तौ धृत्वा मित्रयोरंसदेशे, यान्तौ गोष्ठे मोहनं चक्रतुर्यौ ।
गोगोपानां गोपिकानां तिरश्चाम्, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ।।१२।।

गर्वं जिष्णोर्मर्दयाञ्चक्रतुर्यौ, शैलश्रेष्ठं पूजयाञ्चक्रतुर्यौ ।
तन्माहात्म्यं दर्शयाञ्चक्रतुर्यौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१३॥

नन्दग्रामं भूषयाञ्चक्रतुर्यौ, नन्दात्मानं तोषयाञ्चक्रतुर्यौ ।
भक्ताभीष्टं पोषयाञ्चक्रतुर्यौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१४॥

चित्तं स्वानां मोषयाञ्चक्रतुर्यौ, वंशी-नादं घोषयाञ्चक्रतुर्यौ ।
कंसाऽऽत्मानं शोषयाञ्चक्रतुर्यौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१५॥

कान्त्या मारं मोहयाञ्चक्रतुर्यौ, भूषासारं शोभयाञ्चक्रतुर्यौ ।
वृन्दागारं शोभयाञ्चक्रतुर्यौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१६॥

प्रीतौ स्यातामेतया नः सखायौ, स्तुत्या प्रीतौ मित्रभावञ्च दत्ताम् ।
गाढा प्रीतिस्तत्पदाब्जेषु चास्ताम्, धीरास्तान्नः पादपद्मे गुरूणाम् ॥१७॥

स्तोत्रञ्चैतद् रामकृष्णेशयोर्यै-, र्लोके लोकैर्गास्यते भक्तियुक्तैः ।
भूमौ भोगान् प्राप्य भुक्त्वा तथान्ते,गोलोकस्तैः प्राप्स्यते नात्र चिन्ता ॥१८

श्रीश्रीकृष्णानन्ददासाभिधानाम्, शिष्येणेदं मालिदासभिधेन ।
वृन्दारण्ये विक्रमादित्यकेऽब्दे, स्तोत्रं गीतं भूखखद्वन्द्वयुक्ते ॥१९॥

इति श्रीरामकृष्णस्तोत्रं समाप्तम् ।

श्रीराधिका स्तोत्रम्

निर्माणकाल—वि० सं० १९९९ वैशाख

वयं श्रीराधायाः पदकमलयुग्मं प्रतिदिनम्
नमामः शुद्धयर्थं कलिकलुषलिप्तस्य मनसः ।
तथा प्रेम्णा यस्य प्रियसहचरीभिः प्रतिदिनम्
कृता पूजा पुष्पैरपि च मुनिभिर्ध्यातमनिशम् ॥१॥

वयं श्रीराधायाः करकमलयुग्मं प्रतिदिनम्
स्मरामो भक्तेभ्यो वितरति मुहुर्यच्छमतुलम् ।
तथा श्रीकृष्णांसे विलसति सदा रासरसके
सखीवृन्दैर्यस्मिन् विरचितमहो चित्रकुलकम् ॥२॥

मुखाब्जं राधायाः नयनपथमायातु लघु नः
सुनासं सुश्रोत्रं नयनकमलाभ्यामपि युतम् ।
सुकेशं यस्मिंश्च भ्रुकुटियुगलं चापसदृशम्
तथेषद्धासाढ्यं विधिहरिहरैर्ध्यातमनिशम् ॥३॥

जपामो राधाया मुनिजनकुलैर्यत्सुजपितम्
प्रियं दिव्यं शन्दं वयमनुदिनं नाम विमलम् ।
हरिस्तस्मै दत्ते लघु मुदितचेताः स्वभजनम्
ह्यजस्रं यो राधां जपति मुदितः श्रीहरियुताम् ।।४।।

वाक्यपुष्पोपहायोऽयं श्रीमद्राधापदाब्जयोः ।
अर्थ्यते तेन प्रीताऽस्तु दासे तु वनमालिनः ।।५।।

इति श्रीराधिका-स्तोत्रं समाप्तम् ।

★

श्रीयमुना-स्तोत्रम्

निर्माण समय—वि० सं० २०००

त्वयि स्नाता ध्याता तव सलिलपाता नमयिता
स्तुतेः कर्ता धर्ता तव रजसि मर्ता रविसुतेः ।
न चैवाऽऽख्यां वक्ता शमनसदने याति यमुने !
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ।।१।।

मुरारातेः कायप्रतिमललितं वारि दधतीम्
कलिन्दाद्रेः श्रृङ्गादपि पतनशीलां गतिमतीम् ।
स्वपादाब्जं ध्यातुर्जनिमरणशोकं वितुदतीम्
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ।।२।।

कदम्बानां पुष्पावलिभिरनिशं रूषितजलाम्
विधीन्द्राद्यैर्देवैर्मुनिजनकुलैः पूजितपदाम् ।
भ्रमद्गोगोधुग्भिर्विहगनिकरैर्भूषिततटाम्
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ।।३।।

रणन्भृङ्गश्रेणी-विकसित-सरोजावलियुताम्
तरङ्गान्तर्भ्राम्यन्मकर-सफरी-कच्छपकुलाम् ।
जलक्रीडद्रामानुज-चरणसंश्लेष-रसिकाम्
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ।।४।।

तरुश्रेणीकुञ्जावलिभिरभितः शोभिततटाम्
महोक्षाणां श्रृङ्गावलिभिरभितो मर्दिततटाम् ।
स्थितां वृन्दाटव्यां सततमभितः पुष्पितवनाम्
नमामस्त्वां नित्यां सकलसुणयुक्तां रबिसुताम् ।।५।।

निशायां यस्यां विम्बितममलतारागणमहो
विलोक्योत्कण्ठन्ते सकलसफरा अत्तुमनिशम् ।
विकीर्णं लाजानां निकरमिति मत्वा सरभसम्
नमामस्तां नित्यां सकलगुणयुक्तां रतिसुताम् ॥६॥

शरन्मेघच्छाया सकलमनुजैर्यत्सलिलगा
हरेः स्वस्यामाप्तुं स्नपनमिति बुद्ध्या सरभसम् ।
किमायाता गर्भे सुरसरिदहो तर्क्यत इति
नमामस्तां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥७॥

नृणामीक्षामात्रादपि सकलसौख्यं विदधतीम्
अनायासेनैवाऽखिलभुवनभोग्यं प्रददतीम् ।
स्वकान्तीनां व्यूहैर्बलभिदुपलं चापि तुदतीम्
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥८॥

ममैषा विज्ञप्तिः पदकमलयोस्ते तरणिजे !
वटे हा भाण्डीरे तव विमलतोरे निवसतः ।
हरे कृष्णेत्युच्चैरपि च तव नामानि गदतः
सदा वृन्दारण्ये जननि ! जननं यातु मम वै ॥९॥

किमायाता कालः स इह जनने मे हत विधे-
र्यदाऽऽयातः कृष्णो मधुमधुरवाङ्निर्झरजलैः ।
श्रुतेर्मार्गं सिञ्चन् करकमलयुग्मेन सहसा
मदङ्गं स्वाङ्गे हा व्रततिमिव वृक्षो गमयिता ॥१०॥

इदं स्तोत्रं प्रातः पठति यमुनायाः प्रतिदिनम्
शरीरी यस्तस्योपरि भवति प्रीता रविसुता ।
हरेः प्रेष्ठो भूत्वा हरिचरणभक्तिं च लभते
भुवो भागान् भुक्त्वा व्रजति मरणान्ते हरिपदम् ॥११॥

त्रिभिः शून्यैर्द्वाभ्यां खलु परिमिते विक्रमसमे
शुभे ज्येष्ठे मासे सितदलदशम्यामपि तिथौ ।
रवेर्वारे प्रातस्तरणिदुहितुः स्तोत्रममलम्
कृतं तेनेदं यो भुवि हि वनमालीति विदितः ॥१२॥

इति श्रीयमुनास्तोत्रं समाप्तम् ।

श्रीविश्वनाथ-पञ्चकम्

निर्माणकाल—वि० सं० २००७ भाद्रपद

सर्वैः समर्चितपदाम्बुजसर्वकाल !, गंगाकपर्दपरिशोभितचन्द्रभाल ! ।
दाक्षायणी-समभिभूषित-वामभाग !, हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ।।१
जाज्वल्यमानमभितो गरलाग्निना त्वं, लोकं विलोक्य सहसा कृपया परीतः ।
पीत्वा गरं समभिरक्षितसर्वलोक !, हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ।।२
खिन्नं यदा जगदिदं त्रिपुरासुरेण, दृष्टं तदा करुणयाऽपि भृशं परीतः ।
हत्वा द्रुतं तमसुरं सुखितं चकर्थ, हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ।।३
गंगावतारसमयेऽपि भगीरथेन, संप्रार्थितः करुणया जगदुद्धृधर्थं ।
धृत्वा कपर्दविवरे बहु गाङ्गमम्भो, हे विश्वनाथ ! किमनाथ मुपेक्षसे माम् ।।४
गण्डूषवारि-परिप्रेक्षिणि वैजनाम्नि, म्लेच्छेऽपि तुष्टिमगमः किमु पूजके तु ।
नाम्ना ततोऽसि विदितः खलु वैजनाथः,हे विश्वनाथ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ।।५
यः पंचकं त्रिनयनस्य मुदा ब्रवीति, तस्योपरि त्रिनयनः करुणां करोति ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति-,रित्याह शंभुकृपया वनमालिदासः ।।६

इति श्रीविश्वनाथ-पञ्चकं समाप्तम् ।

श्रीमहाराजजी के प्राथमिक उत्सव पर सुनायी जानेवाली समस्यायें—

निर्माणकालः—वि० सं० १९९९

समस्या—'हृदि मे विराजताम्'

दिने यथा खे तु रविर्विराजते, यथा च रात्रौ हि शशिर्विराजते ।
व्रजेद् यया सा हरिसन्निधौ तथा, रतिर्गुरूणां हृदि मे विराजताम् ।।१।।
बलिश्च पातलतले विराजते, यथा च गङ्गा हरके विराजते ।
व्रजेद् यया सा हरिसन्निधौ तथा, रतिर्गुरूणां हृदि मे विराजताम् ।।२।।
यथार्णवे श्रीवरुणो विराजते, यमश्च कीनाशपुरे विराजते ।
व्रजेद् यया सा हरिसन्निधौ तथा, रतिर्गुरूणां हृदि मे विराजताम् ।।३।।
यथा वने सूर्यसुता विराजते, यथा च भक्तिर्वनके विराजते ।
व्रजेद् यया सा हरिसन्निधौ तथा, रतिर्गुरूणां हृदि मे विराजताम् ।।४।।
यथा च नाके मघवा विराजते, विधिर्यथा ब्रह्मपुरे विराजते ।
व्रजेद् यया सा हरिसन्निधौ तथा, रतिर्गुरूणां हृदि मे विराजताम् ।।५।।
यथा च रामो रमया विराजते, बलानुजो राधिकया विराजते ।
व्रजेद् यया सा हरिसन्निधौ तथा, रतिर्गुरूणां हृदि मे विराजताम् ।।६।।

यथा च रामो धनुषा विराजते, बलानुजो वंशक्रिया विराजते।
व्रजेद् यया सा हरिसन्निधौ तथा, रतिर्गुरूणां हृदि मे विराजताम् ॥७॥
यथैष दासो वनमालिनोऽपि नो, विना गुरून् सम्प्रति संविराजते।
व्रजेद् यया सा हरिसन्निधौ तथा, रतिर्गुरूणां हृदि मे विराजताम् ॥८॥

समस्या—'जीवनम्'

येषां श्रीगुरुपादपद्मयुगले भक्तिर्न नैसर्गिकी
जाता श्रीहरिपादपद्म-गुण-लीला-नाम-रूपेषु च।
सत्सङ्गोऽपि कृतो न यैरिह सतां नो सत्कृताः साधवो
यैः किञ्चिन्नहि कीर्तितं हरियशस्तेषां वृथा जीवनम् ॥१॥
यैर्मग्नैः कलिदुस्तरार्णवजले दुर्धर्षकामाहिके
लोभ-क्रोध-कुमीन-दुष्टमकरे मोहाख्यकूर्मैर्युते।
ईर्ष्यादावयुते च यैरधिगता संकीर्तनाख्या तरि-
स्तृष्णीर्मौ बहुमानशैगलयुते तेषामृतं जीवनम् ॥२॥

समस्या—'भासते'

घस्रो नैव यथा विभाति विकलः सूर्येण शोभाकरो
रात्रिर्नैव यथा विभाति रहिता चन्द्रेण चानन्ददा।
क्षोणिर्नैव यथा विभाति रहिता राज्ञा प्रजातोषिणा
तद्वन्नो वनमालिदास उ विना श्रीमद्गुरून् भासते ॥१॥
पातालो न यथा विभाति बलिना रिक्तश्च शोभाकरो
नाको नैव यथा विभाति रहितो देवेन चेन्द्रेण वै।
लोको नैव यथा विधातुरपि शोभाढ्यो विना ब्रह्मणा
तद्वन्नौ वनमालिदास उ विना श्रीमद्गुरून् भासते ॥२॥
लोकस्याऽपि प्रचेतसो नहि यथा शोभा विना पाशिना
कीनाशेन विना विभाति नहि वै कालस्य लोको यथा।
पौलस्त्येन विनाऽलका नहि यथा शोभायुता दृश्यते
तद्वन्नो वनमालिदास उ विना श्रीमद्गुरून् भासते ॥३॥
रामो नैव यथा विना च रमया शोभायुतो दृश्यते
शोभाढ्यो न यथा विभाति चपलः कृष्णोऽपि राधां विना।
भक्तिर्नैव यथा विना च रतिना श्रीकृष्णसम्प्रापिका
तद्वन्नो वनमालिदास उ विना श्रीमद्गुरून् भासते ॥४॥

श्रीवृन्दावनीय-श्रीनिवास-विद्यालयाध्यक्षं—

श्री श्रीधराचार्यं प्रति विज्ञप्तिरियम्

निर्माणकाल—वि० सं० २०००

श्रीरामकृष्ण इति ते विदितः सुपुत्रो, यर्ह्येव लोकमपहाय परं प्रयातः ।
तर्ह्येव शोकलुलितानि नृमानसानि, जातान्यहो ! विधिविचेष्टितमेव सर्वम् ।।१

अतः शोको युष्मद्-विधपुरुषयोग्यो न भवति
कुतो लोकस्येयं कृतिरतिविचित्रा भगवतः ।
न जानीमः कस्माद् विघटयति संयुक्तमनसो
वियुक्तानन्यान् वा पुरुषनिकरान् योजयति सः ।।२।।

एतादृशो नहि पुनर्भवितेति भूमावेवं विचार्य मनुजा विमनी भवन्ति ।
संसारदुःखमपहाय परं प्रयात, एवं विचार्य सुधियः सुखिनो भवन्ति ।।३।।

जयति जयति श्रील-श्रीधराचार्यवर्यः
भुवि विदितयशाः सम्पूजिताचार्यवर्यः ।
जगति भवति वेदान्तस्य चाचार्यवर्यः
प्रवचनकरणे श्रीभाष्यकस्यातिवर्यः ।।४।।

ममैषा विज्ञप्तिः पदकमलयोस्ते गुणनिधे !
समायातोऽहं ते गुणगणमुपाकर्ण्य सविधम् ।
प्रवृत्ती रङ्गाख्ये भुवि विदितविद्यालयवरे
विधेया श्रीमद्भिर्मम सपदि विख्यातविभवैः ।।५।।

यः कश्चिद् भोजराज्ये प्रणयति मनुजो भोजराजस्य गोष्ठ्यां
श्लोकं श्लोकद्वयं वा सपदि स लभते वर्णमात्रस्य लक्षम् ।
श्लोकानां पंचकेनापि हि मम यदि नाल्पीयसी पूरिताशा
ज्ञातं यातं तदा संस्कृतकवि-कविताया अहो मूल्यमेव ।।६।।

विज्ञापको—वनमालिदासशास्त्री

★

श्रीकुरुक्षेत्र-मण्डलान्तर्गत-पुण्डरीग्रामलब्धावताराणां, श्रीहरिप्रियागर्भ-प्रसूतानां, श्रीशालिग्रामोपाध्यायात्मजानां, तर्कवागीश-तर्करत्न-तर्क-तीर्थाद्युपाधिविभूषितानां, श्रीस्वामिनीशरणचरणचञ्चरीकाऽ-मोकरामशास्त्रिणां, पादारविन्दयोर्वाक्पुष्पाञ्जलयः

निर्माणकाल—वि० सं० २००१ पौष शु० पौर्णमासी

नमनीयपदोऽतुलनीयपदः, पृथिवीतलकेतुरभूदपि यः ।
सुयशा विदुषामपि पूज्यतम-,स्तममोलरामबुधं प्रणुमः ।।१।।

यश्चावतीर्य कुरुदेशमलञ्चकार, वृन्दाटवीमपि च यः समलञ्चकार।
यस्तर्ककर्कशधियः शिथिलीचकार, तं स्वामिनीशरणदासमहं प्रपद्ये ॥२॥
यो नास्तिकानपि च सास्तिकतां निनाय, तस्तर्करीतिभिरलं विमुखाञ्जिगाय।
निम्बार्कमार्गमवलम्ब्य हरिं त्वियाय, तं स्भामिनीशरणदासमहं प्रपद्ये ॥३॥
निम्बार्कदेशिकवरस्य च सम्प्रदाय, ऊर्ध्वीकृतो बहुषु ग्रन्थवरेषु टीकाः।
निर्माय येन सरलाः सुखदा वटूनां, तं स्वामिनीशरणदासमहं प्रपद्ये ॥४॥
वृन्दाटवीमणिरमोकरामशास्त्री, यर्ह्येव लोकमपहाय परं प्रयातः।
तर्ह्येव शोकलुलितानि नृमानसानि, जातान्यहो विधिविचेष्टितमप्रतर्क्यम् ॥५॥

सर्वेष्वेव गतेषु पण्डितवरेष्विष्टं पदं भूतलाद्
यं गोप्तारमुपेत्य नैव गणिताः के नास्तिका मादृशैः।
नामाभासत एव यस्य हि पलायन्तेस्म ते नास्तिका-
स्तेनाऽमोलकशास्त्रिणा विरहिता रोदित्यहो मेदिनी ॥६॥

निष्णातः किल तर्कशास्त्रजलधौ यः सर्वसिद्धान्तविद्
विद्वद्वर्यगणाग्रगण्यगणना लब्धा च येनाऽऽत्मना।
नम्रत्वं समदर्शिता च प्रथिता सर्वप्रियो यस्त्वभूत्
शून्येयं प्रतिभात्ति तेन रहिता हा भारती-भूमिका ॥७॥

श्रीनिम्बार्कसभा-विभूषणमणिर्विद्वद्वरेण्योऽपि य
आकृत्या परिचेतुमेव नहि यः शक्योऽस्ति विद्वानिति।
अन्तर्भक्तिरसेन पूर्णहृदयो बाह्ये तु साधारण-
स्तस्याऽमोलकरामशास्त्रिण इहाऽऽकल्पं यशः स्थास्यति ॥८॥

अतः शोकोयुष्मद्विध-पुरुषयोग्यो न भवति
कुतो लोकस्येयं कृतिरतिविचित्रा भगवतः।
न जानीमः कस्माद् विघटयति संयुक्तमनसो
वियुक्तानन्यान् वा पुरुशनिकरान् योजयति सः ॥९॥

एतादृशो नहि पुनर्भवितेह भूमा-
वेवं विचार्य मनुजा विमनीभवन्ति।
संसारदुःखमपहाय परं प्रयात
एवं विचार्य विबुधाः सुखिनो भवन्तु ॥१०॥

काँस्कान् गुणानिह गदाम्यहमलपबुद्धि-
स्तेषां गुणान् कथयितुं भुवि कः समर्थः।
स्वल्पानिहैव कथयत्यनभिज्ञकोऽपि
जिह्वाफलं फलयितुं वनमालिदासः ॥११॥

स्वामि-श्रीअनन्तदासाष्टकम्

निर्माणकाल—वि० सं० २००२

श्रीराधिका-मदनमोहन-पादपद्म-,ध्यानानुरक्तहृदयः स्पृहणीयशीलः।
यो मानदः स्वयमहो बहुमानहीनः, सोऽनन्तदास उदियाद् हृदये सदा नः ॥१
यो नास्तिकानपि च सास्तिकतां निनाय, यस्तर्करीतिभिरलं विमुखाञ्जिगाय।
निम्बार्कमार्गमवलम्ब्य हरिं त्वियाय, सोऽन्तदास उदियाद् हृदये सदा नः ॥२
निम्बार्कदेशिकवरस्य च सम्प्रदाय-,मूर्ध्वीचकार बहुसज्जनसेवया यः।
सत्सेवया पदमवाप दुरापमन्यैः, सोऽनन्तमास उदियाद् हृदये सदा नः ॥३
वैराग्यरागरसिको ह्यपि माठपत्यं, लब्ध्वा गुरोरपि परम्परया स्वयं यः।
प्रेम्णाऽददाद् बुध-धनञ्जयदासकाय, सोऽनन्तदास उदियाद् हृदये सदा नः ॥४
यः सर्वतीर्थ-परिशीलनजागरूको, भक्तिप्रचारणकलाकुशलश्च योऽभूत्।
लब्धाह्वयो जगति भूरि महाशयानां, सोऽनन्तदास उदियाद् हृदये सदा नः ॥५
वृन्दावने भवति सम्प्रति साधुसेवा, श्रीकाठिया इति भुवि प्रथिते पुराणे।
स्थाने च यस्य नितरां जनवन्दनीया, सोऽनन्ददास उदियाद् हृदये सदा नः ॥६
यः सन्तदासगुरुमाश्रयति स्म धीरं, वीरं वरं जगति सज्जनसेविकायाम्।
गूढं गुणैर्निखिलदर्शनलब्धपारं, सोऽनन्तदास उदियाद् हृदये सदा नः ॥७
भूमेः सहिष्णुरपि सागरतो गभीर-,स्ताताद्धितः सुतहितोऽपि च मातृकोटेः।
धीरो महीधर इवाऽमरवृक्षग्तुल्यः, सोऽनन्तदास उदियाद् हृदये सदा नः ॥८
योऽनन्तदास-महिमाष्टकमेतदीशं, संश्रावयत्यतितरां मधुरस्वरेण।
सोऽनन्तकीर्तिधनधान्यमवाप्य लोके, संख्यां समेति बहुमानमनन्तलोके ॥९
काँस्कान्गुणानिहगदाम्यहमल्पबुद्धि-,स्तेषां गुणान्कथयितुं भुवि कः समर्थः।
स्वल्पानुदाहरदसावनभिज्ञकोऽपि, जिह्वाफलं फलयितुं वनमालिदासः ॥१०

श्रीअनन्तदासाष्टकं समाप्तम्।

अथ श्रीविष्णुयज्ञाभिधाने महनीयकीर्तेरनन्तदासस्य स्मृतिमहोत्सवे—समस्यात्रय-पूर्तिः—वि० सं० २००२

१—नित्यलीलानुभावम्—पूर्वं मन्दाक्रान्तावृत्तद्वयेन—

यः संसारे निगडितमतिः कामलीलाविलीनः
पापासङ्गाद् विचलितमतिर्भक्तिभावैर्विहीनः।
स्त्रीणामोतुर्विरसहृदयो राधिकामाधवस्य
ज्ञातुं शक्नोत्यपि स किमु भो नित्यलीलानुभावम् ॥१॥

राधाकृष्णाचरितममलं सन्मुखाद् यः श्रृणोति
तन्नामानं निगदतितरां तत्पदाम्भोरुहालिः ।
वृन्दारण्ये वसति नितरां प्रेमपुञ्जालिकुञ्जे
ज्ञातुं शक्नोत्यपि स मनुजो नित्यलीलानुभावम् ॥२॥

जगति भजनभावे यस्य विख्यातिरुच्चै-
र्हरिपदरतचेता भक्तिवैराग्यसीमा ।
अनुभवतु सदा सोऽनन्तदासोऽपि राधा-
व्रजपतिसुतयोर्वै नित्यलीलानुभावम् ॥३॥

समस्या नं० २—अनन्ता

दुर्वाससात्ववगतो महिमाऽम्बरीष-
सङ्गात्सतामिति न वेत्ति बुधस्तुको वा ।
कृष्णोऽप्यनुव्रजति पादरजोभिलाषी
काँस्कान् गदामि हि गुणाँस्तु सतामनन्ताः ॥४॥

दानेन दातुरपि नैव तथेह जीयाद्, गानेन गातुरपि वक्तुरपि प्रयोक्तुः ।
शास्त्रार्थकर्तुरपि बोद्धुरपि प्रयोद्धुः, कीर्तिर्यथाविजयतेऽपि सतामनन्ता ॥५॥

समस्या नं० ३—पीयते

विषयिभिर्विषयः परिपीयते, हरिजनैर्हरिनाम निपीयते ।
स्वनयनैः सुमहः परिपीयते, श्रुतिपुटैः कविता परिपीयते ॥६॥

सुन्दरीवृत्तद्वयम्—

मधुराकृति विश्वमोहनं, मुखमानीलरुचं विकस्वरम् ।
हरिभक्तिपरायणैर्हरे-,र्नयनाह्वश्रषकैर्निपीयते ॥७॥
इह संसदि ये स्थिता जना, नयनान्तःकरणैकवृत्तयः ।
कविता-रसभाव-कोविदा, अपि तैरेव रसो निपीयते ॥८॥

येषां श्रीगुरुपादपद्मयुगले भक्तिर्न नैसर्गिकी
जाता श्रीहरिपादपद्मगुणलीलानामरूपेषु च ।
सत्सङ्गोऽपि कृतो न यैरिह सतां नो सत्कृताः साधवः
ते मज्जन्ति भवार्णवे विषय-मद्यं यैः सदा पीयते ॥९॥

ते मज्जन्ति न वै भवार्णवजले दुर्धर्षकामाहिके
लोभ-क्रोध-कुमीन-दुष्टमकरे मोहाख्य-नक्रैर्युते ।
इर्ष्यादाव-युते मदोर्मिललिते तृष्णामहाशैवले
यैस्त्यक्त्वाऽन्यसहायतां भगवतो नामामृतं पीयते ॥१०॥

बाल्ये बालविलास-हास-मतिना मातुः पयः पीयते
तारुण्ये तरुणी-विलासमतिना कान्ताऽधरः पीयते ।
वार्द्धक्ये बहुचिन्तयाऽल्पमतिना चिन्तारसः पीयते
नो केनाऽप्यमुकुन्दलीन-मतिना नामामृतं पीयते ॥११॥
श्रीमद्भागवतादिग्रन्थवदनः श्रीकृष्ण-संकीर्तनो
विद्वद्वर्य-सुधामय-प्रवचनः श्रीरासलीलाम्बरः ।
नानागानतरङ्गरङ्गललितः सद्वृन्द-वृन्दारको
विष्णोर्यज्ञमहोत्सवो धृततनुर्भाग्यैर्मया पीयते ॥१२॥

स्वामिश्रीकृष्णानन्ददासपादपद्मानुचरेण वनमालिदासशास्त्रिणा कृता समस्यापूर्तिः ।

श्रीराधाकृष्ण-प्रशंसापत्रम्

वि० सं० २००४ चैत्र कृष्णा २ शुक्रवार

राधा-कृष्णो रमणमकरोद् यत्र धूलौ नितान्तम्
वृन्दारण्ये निगमगदिते प्रेम-पुञ्जालि-कुञ्जे ।
तत्राऽवात्सीद् य उ रमणरेत्यां विनिर्माय हर्म्यम्
राधाकृष्णः स जयति वणिग् दानवीरो महात्मा ॥१॥
नित्यं स्नात्वा तरणि-तनया-वारिणि प्रातरेव
मौनालम्बी हरि-हर-समर्चां सदा यः करोति ।
होमं कृत्वा विधिवदपि चाऽश्नाति कृष्णोपभुक्तम्
राधाकृष्णः स जयति वणिग् दानवीरोमहात्मा ॥२॥
लब्धवैश्वर्यं विपुलमपि यो नोपभोगं करोति
गेहे स्थित्वाऽपि च भरतवन्न्यासिलीलां तनोति ।
तस्मादन्यः क इह विभवे सत्यपीशो विरक्तुम्
राधाकृष्णः स जयति वाणिग् दानवीरो महात्मा ॥३॥
वृन्दारण्यस्थित-हरिजनक्षुद्विबाधानिवृत्यै
यः प्रीत्यैव प्रचुर-सुविधं क्षेत्रमाविश्चकार ।
छात्रस्तोमाऽध्ययन-सुखदां पाठशालां विशालाम्
राधाकृष्णः स जयति वणिग् दानवीरो महात्मा ॥४॥
वस्त्रोपानन्निचयमपि यः शीतबाधानिवृत्यै
सर्वेभ्योऽपि प्रमुदितमनाः प्रत्यहं दातुमीशः ।
अन्यद् वा यो वितरति सदा वाञ्छितस्याऽनुसारम्
राधाकृष्णः स जयति वणिग् दानवीरो महात्मा ॥५॥

दीनाऽनाथान् यवन-दलितान् यश्च पाञ्चालदेश्यान्
वस्त्रैर्हीनानशन-रहितान् बाल-वृद्धान् समेतान् ।
सर्वानेव स्व-शरणगतान् सौख्यभाजश्चकार
राधाकृष्णः स जयति वणिग् दानवीरो महात्मा ॥६॥
राधाकृष्णऽऽचरितमललं प्रत्यहं यः पपाठ
गीतापाठं प्रमदसुधयाऽऽप्लावितश्चाततान ।
वारंवारं हरि-हर-गुणान् सन्मुखाद् यः शृणोति
राधाकृष्णः स जयति वणिग् दानवीरो महात्मा ॥७॥
देशे देशे प्रथितसुयशा दान-सम्मानहेतो-
रस्मिन्काले कलिकलुषितेऽर्थिनां कल्पवृक्षः ।
काँस्काँस्तस्याऽविदित-महिमाऽहं गुणान् वर्णयामि
राधाकृष्णः स जयति वणिग् दानवीरो महात्मा ॥८॥
वेदाऽभ्राऽभ्रश्रवणगणिते वत्सरे वैक्रमीये
चैत्रे मासेऽसितदलवरे शाजहाँ-वाटिकास्थः ।
राधाकृष्णाऽम्बुजकरयुगेऽदात् प्रशंसाढ्य-पत्रम्
दासान्तो यो भुवि हि वनमालीति नाम्ना प्रसिद्धः ॥९॥
यश्चैतच्छृणुयान्नित्यं यश्च भक्त्या पठेन्नरः ।
उभावपि लभेयातां राधाकृष्णार्जितं फलम् ॥१०॥
राधाकृष्णो धानुका यः स जीयात्, पुत्रस्तस्याऽयं हनूमत्प्रसादः ।
यस्यैवाऽयं पूर्णया चेष्टया च, विद्यादाता चाल्यते धर्मसंघः ॥११॥
श्रीभूपनारायण-विज्ञजातः, श्रीराजवंशीतिद्विवेदिविद्वान् ।
श्रीगौतमर्षेरपि वंशरत्नं, विराजते सम्प्रति धर्मसंघे ॥१२॥
साहित्य-सिन्धोरपि पारदृश्वा, शाब्दे परे ब्रह्मणि चाप्यरंस्त ।
अन्येषु शास्त्रेष्वपि लब्धवर्णो, वर्णाश्रमाचार-परायणश्च ॥१३॥
हनुमत्प्रसादजनकं, राधाकृष्णं सुधानुकाभिख्यम् ।
अभिनन्दति रतिपूर्वं, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥१४॥

श्रीसागर-धर्मपत्न्यभिनन्दनपत्रम्

निर्माणकालः वि० सं० २००५

वृन्दावने विविधमञ्जुनिकुञ्जपुञ्जे, निर्माय या रमणरेतितले सुहर्म्यम् ।
श्रीयामुने तटवरे वसतिं चकार, सा श्रेष्ठिनी जयति सागरधर्मपत्नी ॥१॥
लब्ध्वा तमःप्रचुरमप्यबला-शरीरं, प्राचीकटद् बलवतीत्वमघारिभक्त्या ।
दुर्जेय-षड्रिपुजयेन सुशोभमाना, सा श्रेष्ठिनी जयति सागरधर्मपत्नी ॥२॥

नित्यं प्रगे तरणिजा-सलिले सलीलं, स्नात्वा समर्चति रमेश-महेश-मूर्ती ।
रामायणाध्ययनमातनुते स्म भक्त्या, सा श्रेष्ठिनी जयति सागरधर्मपत्नी ।।३।।
दीनाऽन्धदुःखदलितान् पलितान् सबालान्, दृष्ट्वा जनाँस्म दयते धुनुते तदार्तिम् ।
दात्रीषु लब्धगणना गणनाथ-भक्त्या, सा श्रेष्ठिनी जयति सागरधर्मपत्नी ।।४।।
सौम्याकृतिः कृतिषु लब्धपदा पदाढ्या, स्वाढ्याऽपि या निरभिमानगुणेन गुण्या
गण्या सतीषु हरिभक्तिमतीषु तासु, सा श्रेष्ठिनी जयति सागरधर्मपत्नी ।।५।।
रामायणद्वितयकस्य नवाह्पाठं, सप्ताहपाठमपि भागवतस्य सद्भिः ।
याऽकारयद् द्विजवरैर्विविधोपचारं, सा श्रेष्ठिनी जयति सागरधर्मपत्नी ।।६।।
मूर्त्तेव कीर्तिरपि या खलु सागरस्य, प्रेम्णा हठादपि च सागरके लसन्ती ।
गङ्गेव सागर-समागम-शोभमाना, सा श्रेष्ठिनी जयति सागरधर्मपत्नी ।।७।।
एकाद्रिधारिणमसूत सुतं यशोदा, याऽनेककार्यगिरिधारिणमात्मलालम् ।
नाम्ना गुणेन किल याऽपि सरस्वतीति, सा श्रेष्ठिनी जयति सागरधर्मपत्नी ।।८।।
सम्वत्सरे शर-ख-ख-श्रवणैश्च गण्ये, श्रीविक्रमस्य मधुमासि च शुक्लपक्षे ।
प्रेम्णाऽर्पयत्तदभिनन्दनपत्रमेतत्, तस्या करे लघुवया वनमालिदासः ।।९।।

जमीदारी-प्रथोन्मूलन-समितेरध्यक्षस्य श्रीविश्वम्भरदयालत्रिपाठिमहोदयस्य–

प्रशंसा-पत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २००७ चै० शु० ७

शार्दूलविक्रीडितं—

यो विश्वस्य भरः स एवविबुधैर्विश्वम्भरः कीर्तितो
यो वा लाति दयां जनेषु विबुधास्तं वै दयालं जगुः ।
यो वेदत्रितयीं समां पठति वा सोऽयं त्रिपाठी मतो
रूढियौगिकता च शक्तियुगलं नामान्वयं वक्ति ते ।।१।।

उपगीति-चतुष्कमेतत्—

भारतममुं विदधता, स्वतन्त्रं विदेशिशासनतः ।
उद्योगो भवता यो, विहितस्तस्य त ऋणीवाऽयम् ।।२।।
शासनकाले भवतः, शिक्षापद्धतिरियं प्रचुरा ।
वेराट्टक्कान्तारे, कलयति ननु कीर्तिमालां के ।।३।।
क्षेत्रेऽस्मिन्निवसद्भि-,र्भूम्यादेः पूर्णसहयोगः ।
कृतः परन्त्वतिवृष्टेः, पीडामेतेऽगमन् बहुलाम् ।।४।।
क्षेत्रपतित्वोन्मूलन-,समितेः प्रामाण्यता-समितेः ।
हे अध्यक्षमहोदय !, पूरय स्वल्पाऽभिलाषं नः ।।५।।

स्रग्विणी-द्वयम्—

स्वल्पकुल्या-चिकित्सालयोद्घाटनैः, क्षेममस्मिस्थले जायतां नो द्रुतम्।
न्यूनता चाऽपि विद्यालयेनाऽमुना, भाविनी पूरिता हाईसुस्कूलजा ।।६।।

मान्यता चार्थिकः कोऽपि योगः प्रभो !, दापनीयो नु विद्यालयायाऽस्मकै।
प्रार्थनाऽस्माकमेषा ध्रुवं स्वीकृता, स्यादिति श्रीमता धीमताऽऽशास्महे ।।७।।

भुजङ्ग-प्रयातम्—

कृपादृष्टिवृष्टिश्च विद्यालयेऽस्मिन्, सदा श्रीमता सानुकूलं विधेया।
शिलान्यासमुद्घाटनं यस्य कर्तुं, कृताऽस्मासु दीनेषु पूर्णाऽनुकम्पा ।।८।।

उपगीतिरेषा—

विद्याविवर्द्धिनीयं, समितिर्वैराख्य-नगरस्था।
इदं प्रशंसापत्रं, तव करकमले समर्पयति ।।९।।

मन्दाक्रान्ता—

नीचैर्नीचैर्ननु विटपिनां भूरिविद्यालयानाम्
प्रादुर्भूतिं वयमिह करिष्यामहे सा प्रतिज्ञा।
पूर्णा कार्या वयमिति चिरं श्रीमतां स्मारयामः
स्मर्त्तारोऽपि प्रभुकृतिमिह प्रीतिभाजो भवन्ति ।।१०।।

अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीविश्वम्भरदयाल-शर्माणम्।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ।।११।।

श्रीसत्यनारायणाष्टकम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०१० के अन्तिम दिन

वामे यस्य रमा सदा विजयते विघ्नेश्वरो दक्षिणे
प्रसादाद् बहिरङ्गनीजनिरसौ नागान्तकः सम्मुखे।
प्रासादाश्चतुरन्तविंशतियुता यस्य प्रभोः पार्श्वतो
वन्दे तं परमेश्वरं सुरगुरुं श्रीसत्यनारायणम् ।।१।।

रेवा-रोधसि मन्दिरे भृगुपुरे तीर्थेऽश्वमेधे तथा
यस्याऽऽस्ते गदयांचितं कमलयुक् श्रीदोर्युगं दक्षिणम्।
वामं दोर्युगमंचितं च विमलं चक्रेण शंखेन च
वन्दे तं परमेश्वरं सुर-गुरुं श्रीसत्यनारायणम् ।।२।।

श्यामांभोदनिभः किरीटललितः पीताम्बरः सुन्दरो
भक्तानामखिलार्थदोऽतिकरुणः संसारतस्त्राणकृत्।

मंजीरांचितपद्युगः कटितटे काञ्च्याश्चितो यः सदा
वन्दे तं परमेश्वरं सुरगुरुं श्रीसत्यनारायणम् ।।३।।

उत्पत्ति-स्थिति-संहृति-त्रिकमिदं विश्वस्य यस्मात् सदा
ब्रह्माण्डानि तनूरुहेषु गणनातीर्णानि यस्याऽऽत्मनः ।
रक्षार्थं सुर-साधु-सद्द्विज-गवां यस्याऽवतारा मता
वन्दे तं परमेश्वरं सुरगुरुं श्रीसत्यनारायणम् ।।४।।

यः सत्यात्मकवारिराशिनिलयो यः सत्यशेषे स्थितो
यः सत्येन्दिरया सुलालितपदो यः सत्यसंवाहनः ।
यः सत्ये निहितस्त्रिसत्य उदितः सत्यव्रतः सत्यभाक्
वन्दे तं परमेश्वरं सुरगुरुं श्रीसत्यनारायणम् ।।५।।

काशीस्थद्विज-काष्ठविक्रयकरौ तुङ्गध्वजः साधुविट्
तेऽभूवन् यदनुग्रहेण नितरां मुक्ताः सदा संकटात् ।
कर्ताऽद्यापि करोति यो निजजनान् मुक्तान् सदा दुःखतो
वन्दे तं परमेश्वरं सुरगुरुं श्रीसत्यनारायणम् ।।६।।

लोकेशेशशचीपति-प्रभृतिभिर्देवैः सदा पूजितो
यः पूजामधुनापि भावसहितां धत्ते सुभक्तैः कृताम् ।
भक्तेष्टं सदयं प्रदातुमिव यश्चास्ते प्रसन्नाननो
वन्दे तं परमेश्वरं सुरगुरुं श्रीसत्यनारावणम् ।।७।।

स्तोतुं शेष-सरस्वती-गणपति-ब्रह्मादयो यं नहि
शक्तास्तं गुणसागरं कथमहं क्षुद्रः स्तुवेऽशेषतः ।
श्रद्धा-पूर्विकया प्रसीदतितरां नत्याऽपि यः स्वेष्वतो
बन्दे तं परमेश्वरं सुरगुरुं श्रीसत्यनारायणम् ।।८।।

दीनोद्धारपरायणं सकरुणं स्तुत्याऽनया स्तोति यः
श्रद्धाभक्तियुतो गुणैर्विरहितोऽपीष्टं स्वयं मानवः ।
भुक्त्वा भूमितलेऽपि भोगनिचयान् द्राक् पुत्रपौत्रैर्युतः
प्रोत्तीर्यैति भवार्णवं सुरगुरुं श्रीसत्यनारायणम् ।।९।।

ज्योतिर्विद्वरमष्टकं त्विदमलं श्रीमत्तुलाशंकरं
प्रीणात्वष्टकर्तुरेव करणं श्रीभक्तपाशंकरम् ।
शून्येन्द्वभ्रकरैर्मितेऽन्तिमदिने श्रीविक्रमाब्देऽष्टकं
प्रोक्तं श्रीवनमालिदासकविना श्रीयुक्तवृन्दावने ।।१०।।

"श्रीसत्यनारायणाष्टकम्" सम्पूर्णम् ।

श्रीसत्यनारायणजी की आरति

निर्माणकालः—वि० सं० २०११ वैशाख कृ० २

आरति सत्यनारायणजी की। भक्त मनोरथ सुरतरुजी की ।।टेक।।
वामाङ्गे श्रीरमा विराजै, दहिने गणनायक सुख साजै।
वाहिर अंजनि पुत्र विराजै, सन्मुख नागान्तक वाहन की ।।१।।
दक्षिण भुजा युगल में जिनके, गदा कमल सुखदायक जनके।
वायें भुजा सहित कंकण के, शंख चक्र पददेव धुनी की ।।२।।
श्यामांगे पीताम्बर राजै, मस्तक मणिमय मुकुट विराजै।
कटि किंकिणि पग नूपुर बाजे, भक्त मनोरय दानि धनी की ।।३।।
विप्र काष्ठधरवा चन्द्रकेतु, साधु वैश्य तुङ्गध्वज हेतु।
तुम्हरी कृपा विपत्ति निपेतुः, भक्त हेतु अवतार कली की ।।४।।
सुरनर मुनिवर सबही ध्यावैं, पाय मनोरथ अति सुख पावैं।
श्रीवनमालिदास कवि गावैं, भक्तन हेतु कृपा शंकर की ।।५।।

श्रील श्री १०८ श्रीमत्संकर्षणदासाख्य-महतः करकमलयोः सादरं समर्पितमिदमभिनन्दनपत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०११

लेभे जन्म सुरार्चितं द्विजकुले प्रार्थ्यं सुरैर्भारते
कौमारेऽपि मनोऽलिरक्तिमकरोद् रामाङ्घ्रिकंजद्वये।
योऽयं यौवनमेत्य वृत्तिमदधाद् वैराग्यसीमास्पृशाम्
श्रीसंकर्षणदास-सज्जनमणिः सोऽयं सभामध्यगः ।।१।।
बाल्ये यौवनकेऽपि वार्द्धकवरेऽवस्थात्रये यः समो
लोकैर्लोचनगोचरीकृत इतः सौन्दर्यसम्पूजितः।
कालं स्वं समयापयच्च निखिलं श्रीरामनाम्नां जपे
श्रीसंकर्षणदास-सज्जनमणिः सोऽयं सभामध्यगः ।।२।।
यः श्रीमद्रघुनाथ-मन्दिरमिदं वृन्दावनेऽस्थापयत्
विद्यावर्द्धनकारिणीमपि शुभां यः पाठशालां पुरा।
यत्राऽधीत्य विदिक्षु कीर्तय इवच्छात्रा गता मादृशाः
श्रीसंकर्षणदास-सज्जनमणिः सोऽयं सभामध्यगः ।।३।।
प्रत्यब्दं विदधाति यः सहमुदं श्रीराम-पाटोत्सवं
विद्वांसोऽपि सभागता इव सुरा येनार्चिताः सादरम्।

कीर्तिं दिक्षु वितन्वतेऽपि मुदिता गन्धं तु वाता इव
श्रीसंकर्षणदास-सज्जमणिः सोऽयं सभामध्यगः ॥४॥
यस्याऽऽचार-विचार-चारुसरणिः श्रेयोऽर्थिभिर्गम्यतां
यस्य श्रीयुतपादपद्मयुगलं मूर्ध्ना मुदा नम्यताम् ।
यस्य श्रीहरिभक्तिमत् सुचरितं श्रुत्या सदा श्रूयताम्
श्रीसंकर्षणदास-सज्जनमणिः सोऽयं सदा जीयताम् ॥५॥
अभिनन्दति रतिपूर्वं, महतः श्रीसंकर्षणदासाख्यान् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥६॥
यस्योद्यमवशवर्ती, प्रत्यब्दं रामपाटोत्सवो भवति ।
यमुनाप्रसादशास्त्री, सोऽयं सत्प्रबन्धको जयति ॥७॥
महतस्तस्य हि पौत्रः, श्रीरघुवंशभूषणाचार्यः ।
रामाऽऽरामे सोऽयं, सम्प्रति तत्पदं सुशोभयति ॥८॥

श्रीहरिदेव-मन्दिराध्यक्ष-श्रीरामानुजाचार्याणाम् अभिनन्दनम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०११

श्रीकेशवार्यतनयो विनयोक्तिपूर्णो, पूर्णोऽवतार इव चेतसि नः प्रविष्टः ।
इष्टः समस्तजगतामगतां गतानां, तेने हिताय किल भक्तिवितानमत्र ॥१॥
कथा-रीतिं श्रुत्वा प्रणयभरमायान्ति सुधियः
सदाचारं दृष्ट्वा सुमतिततिमायान्ति कुधियः ।
परास्ताः शास्त्रार्थ-प्रवचन-सुरीत्या हतधियः
सदा यस्य प्राज्ञा ! जयति स हि रामानुजमुनिः ॥२॥
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रानन्दाब्धि-निमग्नचेतस इह श्रोतॄन् विधत्ते स्म यः ।
शास्त्रार्थं कथयैव व्यक्तमकरोत् प्रीत्या सुरीत्या च सः
श्रीरामानुजदेशिको विजयते वेदान्तचिन्तामणिः ॥३॥
जीर्णं श्रीहरिदेवमन्दिरमिदं यः सँश्चकाराद्भुतं
यात्रायां खलु यश्च दक्षिणदिशश्चक्रे बहून् वैष्णवान् ।
गोदाम्बां विधिपूर्वकं हरिवने यः स्थापयामास सः
श्रीरामानुजदेशिको विजयते वेदान्तचिन्तामणिः ॥४॥
श्रीरामानुजपद्धतिं प्रकटयन् योऽर्वन्तमुत्तारयन्
प्रेताच्छ्रेष्ठिसुतां पृथग् विरचयन् बन्धाज्जनान् मोचयन् ।
सिद्धान्तं हरिभक्तिसाधकतमं सर्वत्र संस्थापयन्
कालं स्वं समयापयद् विजयते स श्रीलरामानुजः ॥५॥

स्वतुल्यं शिष्यं यः कमलनयनं संप्रकटयन्
जनानां सम्भूत्यै निजसरणि-सन्तानविधये ।
गतोऽपि स्वं लोकं पुनरपि निजश्रीप्रतिमया
सदा वृन्दावरण्ये जयति स हि रामानुजमुनिः ॥६॥

कमलनेत्र इति प्रथितोऽप्ययं, बुधवरः प्रवरैर्निजचेष्टितैः ।
नयति शीघ्रमहो स्मृति-विस्मृतिं, निजगुरुं तत एष हि वन्द्यताम् ॥७॥

अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीमद्-रामानुजाख्यया विदितान् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥८॥

काशीस्थ-श्रीरामानुज-संस्कृत-महाविद्यालयस्य अष्टमवार्षिकोत्सवे
श्रीमत्सभापतिमहोदयानां संस्थापक-संवर्धक-संरक्षक-महोदयानां च कृते,
श्रीवृन्दावनस्थ-महाकवि-श्रीवनमालिदासशास्त्रिभिः प्रेषितमिदं—

अभिनन्दन-पत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २००९

जयति विदितो वाराणस्यां सभापति-पीठगः
सरसहृदयो रामाज्ञाह्वः श्रुति-स्मृति-पारगः ।
गुणजलनिधिः श्रौताऽभ्यासे सदैव परायणो
विमलवचसां व्याहारे वा यशस्विवरः सुधीः ॥१॥

श्रीरामानुज-दर्शित-,पथ-प्रदर्शकेष्वग्रणीरेषः ।
सम्प्रति काशीविद्वत्-,परिषन्मूर्धन्यतां यातः ॥२॥
श्रीरामानुज-संस्कृत-,विद्यालय-स्थापनाप्त-पृथुकीर्तिः ।
स जयति धीराधारः, श्रीलदेवनायकाचार्यः ॥३॥
स जयति मगनीरामो, रामकुमारोऽपि बाँगडोपाधिः ।
श्रीनारायणदासो, ज्येष्ठो मगनीरामात्मजो जीयात् ॥४॥

श्रीगोविन्दो जयति तनुजो गोकुलोऽपि क्रमेण
भीमेऽप्यस्मिन् कलि-कुसमये दानदाता प्रधानः ।
पुत्रैः पौत्रैः परिजनकुलैर्भक्तिमान् यो रमेशे
धर्मस्तम्भो जगति विदितो मूर्तिमान् यो वदान्यः ॥५॥

स सोमाणीवंशोद्भव इह हजारीमल इति
प्रसिद्धो रैदाता जयति च गदाया-धर इति ।
उभावप्येतौ स्तो दृढपरिकरौ सर्वसमये
मुदा विद्योन्नत्यै धन-भवन-दानैः शिवपुरे ॥६॥

बाबूकिशोरीरमणप्रसादो, गिनोडि-नारायणदासवर्यः ।
लाहूटियोपाधि-विभूषि-छोटे-,लालश्च सत्कर्म-विधान-दक्षः ।।७।।

एते हि विद्याभवनाऽम्बुजात-,संकोचदूरीकरणांशुमन्तः ।
जीयासुरत्यद्भुत-कीर्तिजात-,विकाशिताशाः सुचिरं जयन्तः ।।८।।

श्रीरामानुजदासोऽयं श्रीवैष्णवकुलाऽग्रणीः ।
श्रीदेवनायकाचार्यः सर्वश्रेयोऽभिभागसौ ।।९।।

स्वाचार्यस्य प्रथमममलं यश्चरित्रं व्यतानीत्
पश्चाद् राधारमण-शतकं भक्तनामावलीं च ।
सर्वाश्चर्यं कविकुलमुदे श्रीहरिप्रेष्ठकाव्यं
सख्येनाढ्यं सखिसुखकरं सख्यपूर्वं सुधांशुम् ।।१०।।

श्रीमत्सभापतिमुखान् विदुषः प्रणामै-,र्विद्यालयाय धनदानपि धन्यवादैः ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्तिः, प्रेम्णाऽभिनन्दति भृशं वनमालिदासः ।।११

वरवध्वोराशीर्वादात्मकः शुभसन्देशः

निर्माणकालः—वि० सं० २००८

सरसे सरसा-नगरे, पौत्र्या हजारीलालस्य ।
श्रीशिवकुमारजायाः, शुभो विवाहोत्सवो लसति ।।१।।

हजारीलाल-श्रीशिशु-शिवकुमारङ्गजनुषो
विवाहे मालत्याः समधिगत-शोभः शुभगुणः ।
मुरारिर्गोपीजो विपुलकरुणो राम-सहितो
हरिः श्रीराधेशो दिशतु ननु सप्रेम विजयम् ।।२।।

वसु-ख-ख-कर-गण्ये श्रीशुभे विक्रमाब्दे
मधु-मधु-सित-पक्षे द्वादशी-जीव-घस्रे ।
विलसति सरसाख्ये यः पुरे श्रीविवाहः
शुभमति वनमाली तत्र सप्रेम कुर्यात् ।।३।।

शिवेन मनसा दत्ता-मदत्तां कस्यचित् पुरा ।
गृहाण प्रेमसहितां मालिती-मालिकां हरे ! ।।४।।

भिवानी-वास्तव्यो विलसतु स नारायण इव
स्रजा मालत्येव प्रकट-निज-सौभाग्य-भरया ।
सदानन्द कुर्यात् सुभग-वरवध्वोः सकुलयोः
सदा वृन्दारण्ये य इह वनमाली निवसति ।।५।।

वरवध्वोराशीर्वादात्मकः शुभसन्देशः

निर्माणकालः—वि० सं० २०१०

सरसे सरसा-नगरे, पौत्र्या हजारीलालस्य।
श्रीशिवकुमारजायाः, शुभो विवाहोत्सवो लसति ॥१॥

हजारीलाल-श्रीशिशु-शिवकुमाराङ्गजनुषो
विवाहे सौभाग्याश्वित-सुललिताया नरवरः।
स राधागोविन्दो वनभुवि तपोनिष्ठ-यमुना-
प्रसादो बालेन्दुर्दिशतु ननु सप्रेम विजयम् ॥२॥

ख-विधु-ख-कर-गण्ये श्रीशुभे विक्रमाब्दे
शुभगुण-बुधवारे फाल्गुने शुक्ल-षष्ठ्याम्।
विलसति सरसाख्ये यः पुरे श्रीविवाहः
शुभमति वनमाली तत्र सप्रेम कुर्यात् ॥३॥

शिवेन मनसा दत्तां ललितामिव मोहनः।
नारायण! गृहाणेमां कमलां कमलेक्षण! ॥४॥

स बालकृष्णः पुरुषोत्तमेन, नरोत्तमः सर्वगुणोत्तमेन।
रूपेण प्रत्यक्षमिवेड्यमानः, कुर्याद् विवाहे वरकन्ययोः शम् ॥५॥

मदनमोहन-मोहन-विश्वकृच्, शिवकुमार इति प्रथिताह्वयैः।
तव गुणैरिव मोहन! दत्तया, ललितया ललितं सुखमाप्नुहि ॥६॥

वैकुण्ठे रमते यथा कमलया श्रीसत्यनारायणः
कैलासे रमते यथा गिरिजया श्रीशंकरः शंकरः।
साकेते रमते यथा क्षितिजया श्रीरामचन्द्रः प्रभुः
सानन्दं रमतां तथा ललितया वृन्दावने मोहनः ॥७॥

स्वामिश्रीकृष्णबोधाश्रम-करकमलेषु सादरं समर्पितमिदम्—

अभिनन्दन-पत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०११

यं बोधं कृष्णचन्द्रः कुरुभुवि नितरां दत्तवानर्जुनाय
यं वा श्रीद्वारकायां स्वगमनसमयये संदिदेशोद्धवाय।
कालाल्लुप्तं तमागात् पुनरपि कृपया दातुकामो जनाय
यस्तस्मै ते नमः श्रीहरिमयवपुषे कृष्णबोधाश्रमाय ॥१॥

श्रीकृष्णे नित्यलीलां गतवति च कलौ वृद्धिमाप्ते नितान्तं
बौद्धेष्वृद्धिं गतेषु प्रकटितविभवः शङ्कराचार्यवर्यः।

तस्यैवाऽभिन्नदेहो व्रजभुवि पुनरप्याशु प्रादुर्बभूव
ज्योतिष्पीठाधिपोऽयं जगति विजयते कृष्णबोधाश्रमाख्यः ॥२॥

श्रीकृष्णसम्बन्धि-विबोधजातं, ज्ञातुं जनाः किं भ्रमताश्रमेषु ।
सत्यं वदामो भुवि जङ्गमं तं, श्रीकृष्णबोधाश्रममाश्रयन्तु ॥३॥

निजसनातनधर्म-रिरक्षिषा-,वशत एव हरिः स्वयमागतः ।
इति विचारपरैर्व्रजवासिभिः, सविनयं यतिराडभिनन्द्यते ॥४॥

उत्पत्तिं प्रलयं गतिं च विगतिं विद्यामविद्यां तथा
धर्मं ज्ञानविरागभक्तिपरमं वाक्यैर्ददानं नृणाम् ।
सर्वेषामुपकारकं सुचरितं संभुक्तिदं मुक्तिदं
श्रीमद्भागवतं सदा भजत रे ! श्रीकृष्णबोधाश्रमम् ॥५॥

अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीकृष्णबोधाश्रमाख्यया वित्तान् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥६॥

अखिलभारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलनस्य द्वाविंशाधिवेशने देहल्यां पठिताः

समस्यापूर्तयः—

पूर्तिकारकः—काव्यवेदान्ततीर्थ-घटिकाशतक-महाकवि-
श्रीवनमालिदासशास्त्री

निर्माणकालः—वि० सं० २०१२

मुख्यसभापतेरभिनन्दनम्—

गिरिधर इव व्रजदेशं, रक्षति विद्वद्व्रजं प्रीत्या ।
श्रीगिरिधरशर्माऽयं, विद्वन्माणिक्यमूर्धन्यः ॥१॥

द्वितीय-सभापते प्रशस्तिः—

चिन्तामणिरिव नृणां, चिन्तामणिपदमलंकुर्वन् ।
जयति सभापतिवर्यो, देशमुखो द्वारकानाथः ॥१॥

कविगोष्ठीसभापतेः स्तुतिः—

संस्कृतकविगोष्ठीपतिः, कविता-रस-भाव-सारज्ञः ।
जयति कविशिरोमणिरिव, श्रीमथुरानाथभट्टोऽयम् ॥१॥

चरमसभाततेर्वर्णनम्—

श्रीकामेश्वरनामा, श्रीदरभङ्गानरेशोऽयम् ।
जयति सभापतिवर्यः, संस्कृत-सम्मेलनान्तदिने ॥१॥

स्वनत्रताप्रकाशः—

समस्यायामस्यां यदपि न मया पूरिततनौ
रसस्याभासोऽपि प्रकटतरमाभाति सुधियाम् ।
तथाऽपि प्रीताः स्युर्मयि परिषदाप्ताः सुकवयो
नवीनोऽयं बालः कवयतुतरामित्यपि धिया ॥१॥

समस्या नं० १—देहली

पूर्वेषामपि भूभुजां गुणयुजां या राजधानी मता
सौन्दर्येण निजेन देवनगरं याऽऽस्ते तिरस्कृत्य वै ।
देवानामपि मानसं कलयितुं यां सर्वदोत्कण्ठते
पूर्वोपार्जित-पुण्यकैरिह नरैः सा दृश्यते देहली ॥१॥
नाना-दिग्भ्य उपागतैरपि नरैर्नानावचोभाषिभि-
र्नानावेष-विशेष-केश-ललितैर्नानाऽऽकृति-ग्राहभिः ।
नाना-व्यापृतिकारिभिः परिवृता श्रीराजधानी वरा
सर्वं देशमलङ्करोति तदियं गेहं यथा देहली ॥२॥
देवर्षेर्वचसा कुबेरतनयौ यौ वृक्षतां प्रापितौ
तावुद्धर्तुमना मनाक् स्वकृपया मुक्तोऽपि प्रेम्णा हरिः ।
मात्रा बद्ध उलूखलेऽपि नितरामानम्य यां संययौ
नन्तव्या विबुधैर्बुधैश्च सततं नन्दस्य सा देहली ॥३॥
यस्यां धर्मसुतोऽपि यज्ञमकरोच्छ्रीराजसूयाभिधं
यस्यां विश्व-सभाजनोयचरणः कृष्णोऽग्रपूजां ययौ ।
यस्यां श्रीयमुनानदी च परिखाशोभां विधत्ते परां
सा पूज्या नितरां नरैरमरतां प्राप्तैरहो देहली ॥४॥

परजनैः खलु श्वेतपिपीलिका-,सुसदृशैः समयाद् बहुदूषिता ।
निजजनैर्जयहिन्दसुभाषिभि-,र्जयति साऽद्य निजा ननु देहली ॥५॥
तिलक-गांधि-जवाहरलालजि-,भटपटेल इति प्रथितैर्निजा ।
निजजनैर्जननीव विमोचिता, हसति हर्षयुताऽद्य हि देहली ॥६॥

समस्या नं० २—सम्मेलनम्

नानादेशभुवां सदा गुणभुवां शास्त्रार्थ-चिन्ताभुवाम्
सारासारविवेकनिर्णयभुवां वेदान्तविद्याभुवाम् ।
सद्विद्यायुत-वित्त-सत्कुलभुवां नैसर्गमेधाभुवाम्
सर्वेषां प्रतिभाजुषां हि विदुषामद्यास्ति सम्मेलनम् ॥१॥

वाणो भारवि-माघ-हर्ष-भवभूतिः कालिदासो हरि-
रित्येषां जयदेव-मम्मट इति प्राचां कवीनां सताम् ।
पूर्वं याद्दगभूदलं यदमलं राज्ञां सभायां सताम्
काव्येष्वेव श्रुतं तदक्षिविषयं साहित्यसम्मेलनम् ।।२।।
सर्वेषां पयसां समुद्रसलिले यद्वद्धि सम्मेलनम्
श्रीमद्भागवते यथैव निगमार्थानां हि सम्मेलनम् ।
नाना-देशभुवां नृणां खलु यथा दिल्ल्यां हि सम्मेलनम्
सर्वेषां विदुषां तथैव सुधियामद्यास्ति सम्मेलनम् ।।३।।

समस्या नं० ३—यौवनं भारभूतम्—

नहि सुगुणगणानामर्जनं वा धनानाम्
कृतमपि न शुभानां संगतिर्वा जनानाम् ।
पठितमपि न यैर्वा संस्कृतं सारभूतम्
जगति हि ननु तेषां यौवनं भारभूतम् ।।१।।

श्रीतुलसी-जयन्ती पर सुनायी गयी समस्या नं० १—
"मानसराजहंसः"

निर्माणकालः—वि० सं० २०१३ श्रावण शुक्ला सप्तमी

हंसास्तु सन्ति बहवः पयसी विवेक्तुं, किंत्वस्ति शास्त्रजलधिं मतिमन्दरेण ।
निर्मथ्य सारमधिगम्य जनाय दातु-,मेकः प्रसिद्ध इह मानसराजहंसः ।।१।।
आस्वाद्य रामचरितोक्तिसुमौक्तिकानि, वाल्मीकिरूपत इह प्रथमं ततोऽपि ।
आदित्सुरेव किमु मानससमाततान, सोऽयं सदा जयति मानसराजहंसः ।।२।।
धन्यास्त एव मनुजास्तुलसीतिनाम्ना, प्रोद्घाटिते सरसि मानसनामकेऽस्मिन् ।
श्रीरामचन्द्रचरितोक्तिसुमौक्तिकानि, येषां सदा चरति मानसराजहंसः ।।३।।
हे कृष्ण ! ते चरणयोः सततं प्रणम्य, सम्प्रार्थये मुहुरिदं करयुग्मबन्धम् ।
संसारपल्वलमपास्य तवोक्तिसिन्धौ, क्रीडां करोतु मम मानसराजहंसः ।।४।।

समस्या नं० २ 'मशकदशनमध्ये दन्तिनः सञ्चरन्ति' तत्पूर्तिर्यथा—

क्व पतित इह प्राणी तत्क्षणं सीत्करोति
मदमुदितमनस्तः कानने के भ्रमन्ति ।
विदधति किमु प्रातः पक्षिणः सर्वदिक्षु
मशदशनमध्ये दन्तिनः संचरन्ति ।।५।।
मशकमपि विधत्ते यो विरिञ्चेः समानम्
विधिमपि कुरुते वा दंशतो हीनसारम् ।

इति किमपि न चित्रं चित्रकारे मुरारौ
मशकदशनमध्ये दन्तिनः संचरन्ति ॥६॥
रामेन्दुशून्यनयनैश्च मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कनृपतेस्तुलसीजयन्त्याम् ।
वृन्दावने परमहंसनिवासभूमौ, श्लोकानिमानरचयद् वनमालिदासः ॥७॥

व्रजसेवा-समिति-तृतीयोद्घाटने दीयमानम् अभिनन्दनपत्रम्—

निर्माणकालः—वि० सं० २०१३ भाद्र कृष्णा पंचमी

वृन्दाबने भारतपुण्यभूमौ, क्षयाय रोगस्य क्षयाभिधस्य ।
बिनिर्मितं स्थानमतीव रम्यं, विभाति सेवासमितीति नाम्ना ॥१॥
प्राणस्वरूपा हि भवन्ति यस्य, इमे प्रसिद्धाः सुमहानुभावाः ।
ललाम-गुप्तान्त-कन्हैयालाल-,श्रीहर्गुलालेति-स्वनामधन्याः ॥२॥
पूर्वं यस्योद्घाटन-,मासीत्करपात्रिकरकमलैः ।
पश्चाद् भवति चिकित्सा, वर्मा-सर्दार-कर्पूरैः ॥३॥
यस्य विलोक्य व्यवस्थां, कृतां बनवारीलालेन ।
कृता व्यवस्थाऽप्यन्या, भारत-संचालकेनाऽपि ॥४॥
यत्राऽध्यापकछात्राणां निःशुल्का रोगनिर्हृतिः ।
जायते शोभना यस्योद्घाटनं चन्द्रभानुतः ॥५॥
स्वर्गीय-रामजीदास-,सूनुना रामनाथेन ।
विशुद्धानन्द-सरस्वती-,मारवाडी-औषधालयतः ॥६॥
अधुना निर्मितिरेषां, भवनानां शोभना भाति ।
यत्र भवति बहुसेवा, जनताजनार्दनस्याऽऽशु ॥७॥
तस्योद्घाटनमद्य, महतां श्रीरामकृष्णदासानाम् ।
कृपाभाजनं कुरुते, श्रीलकृपासिन्धुदासोऽयम् ॥८॥
श्रीवृन्दावनचन्द्रः, श्रीमत्या राधया सहितः ।
मंगलमातनुतां द्राग्, सर्वेषां कर्तृ-भोक्तृणाम् ॥९॥

अभिनन्दकः—महाकविः श्रीवनमालिदासशास्त्री

गोस्वामि-श्रीव्रजभूषणाभिनन्दनम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०१४ कार्तिक कृष्णा ४

श्रीवैश्वानरवंशपद्मतरणिः श्रीलाऽनिरुद्धात्मजः
शुद्धाद्वैत-मताब्धि-शीतकिरणो वादीभ-पञ्चाननः ।
शास्त्रार्थज्ञविशिष्टवैष्णवजनैः संसेवितः शुद्धधी-
र्गोस्वामी व्रजभूषणो विजयते वृन्दावने संसदि ॥१॥

गोलोकं तु विहाय भक्तजनतासद्भावसम्पूर्तये
प्राक् प्रागान्नु यथा निजे व्रजपदे गो-गोपसंघावृतः ।
यात्राव्याजत एव किं व्रजभुवः सद्भक्तसंघावृतः
सोऽयं श्रीव्रजभूषणः पुनरपि स्वान् नन्दितुं स्वागतः ।।२।।

नानादिग्विदिगागतान्निजजनान् स्वीये प्रबन्धे स्थितान्
सौख्ये स्थापयितुं स्वयं निजसुखं हित्वाऽपि शारीरिकम् ।
कष्टं सोढुमयं परिक्रमणजं यद्यप्यनर्हः कृती
माधुर्यात् तदपि स्वयं प्रथयते यौधिष्ठिरीं प्रक्रियाम् ।।३।।
अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीव्रजभूषणं जाम-नगरस्थम् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ।।४।।

श्रीविष्णुस्वामिस्तोत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०१४ कार्तिक शुक्ला द्वितीया

यशोमत्याः प्रादुर्भवनमपि यस्योक्तमृषिभिः
पिता देवस्वामी भवति हि यदीयोऽतिमतिमान् ।
स्वयं यः सौन्दर्याञ्चिततनुरभूद् भूसुरवरः
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ।।१।।
जनाः प्रादुर्भावे पुरि तु मदुरायां मुदमगु-
स्तथा यस्य प्रेम्णा प्रमदभरपूर्णं जगदभूत् ।
दधद् बालक्रीडामपि च हरिपूजामरचयत्
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ।।२।।
ददातीष्टं विद्या गुरुवरशकाशादधिगता
प्रदातुं तां शिक्षामपठदिव साधारणजनान् ।
सदा वाण्यां यस्य स्वयमपि तु वाणी निवसति
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ।।३।।
हरिः प्रेम्णा लभ्यः प्रथयितुमिमां रीतिमिव कौ
कुमाराऽवस्थातो हरिचरणयोः स्नेहमकरोत् ।
ददर्श स्वप्रेम्णा हरिमपि च प्रत्यक्षमिह यः
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ।।४।।
किशोरावस्थायामपि तु प्रबलां साधनविधां
विलोक्योत्कण्ठन्ते सकलमनुजा यस्य चरितम् ।
ग्रहीतुं चेच्छन्ति प्रकटममलं साधकहितं
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ।।५।।

व्रजानन्दिन् ! नन्दीश्वरदयित ! हे नन्दतनय !
यशोदासूनो ! हे प्रणतजनवात्सल्यजलधे ! ।
हरिप्राप्त्यर्थं यः प्रतिपलमिमां वाचमवदत्
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥६॥

हरेराज्ञां नीत्वा तदनु जनयित्रीजनकयो-
र्ययौ वेदव्यासं सततवदरीवासनिरतम् ।
रहस्यं यो व्यासात् प्रथममगमद् व्यासवचसां
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥७॥

ततस्तत्त्वं सर्वं ननु शुकमुखाद् भागवतगं
गृहीत्वा दीक्षा तु स्वगुरु-त्रिपुरारेरधिगता ।
हरिप्राप्तेर्येन प्रकटतररीतिं प्रथयता
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥८॥

विना सर्वत्यागं भवति भजनं नो मधुरिपो-
रितित्यागं कृत्वा सकलविषयाणां विरतिमान् ।
हरौ गाढं रागं प्रकटमकरोद् यः सविनयं
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥९॥

बभूवुर्यस्योक्त्या हरिपदरता नास्तिकजना
विवादान्तर्मग्ना रसमयहरेर्वादनिरताः ।
विनिर्जित्योवाच प्रणयसरणिं शुष्कमनुजान्
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥१०॥

स्वकं शुद्धाद्वैतं मतमखिलवेदान्तविदितं
समस्तं सद्रीत्या निजशरणमाप्तान् गमयितुम् ।
ससूक्तं यो भाष्यं शुकजनकसूत्रेष्वरचयत्
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥११॥

तथा गीताभाष्यं सरलसरसं चोपनिषदां
जगादाऽन्यान् ग्रन्थान् प्रकृतिसरलान् भक्तिसरसान् ।
नृणां भक्तिस्थित्यै पुरुकरुणया यस्तु निजया
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥१२॥

समेषां तीर्थानामपि च वनयात्रां रचयता
तथा वृन्दारण्ये रसिकजनचेतःसु वसता ।
कृतो वासो येन प्रथितयशसा शान्तवचसा
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥१३॥

स्वसिद्धान्तस्थित्यै प्रथितपरिपाटीमनुसरन्
प्रधाने पीठेऽग्रचं निजमनुचरं यस्तु निदधे।
तथा सर्वं शिष्याः प्रमदभरमापुर्यदुदितैः
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥१४॥

सदा स्षादं स्वादं मधुरिपुकथा-कीर्तनरसं
प्रियैर्भक्तै रात्रिंदिवमपि च यो नैव बुबुधे।
समस्तैः सद्भावैर्वपुरतितरां यस्य शुशुभे
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥१५॥

इतीत्थ संसारे हरि-भजनरीतिं प्रकटयन्
निजं चाचार्यत्वं प्रकटमिह सार्थं सफलयन्।
हरेः पार्श्वं योऽगाद् हरिचरणसेवामभिनयन्
स आचार्यो विष्णुः कृपयतुतरां दैन्यजनके ॥१६॥

इमं विष्णुस्वामिस्तवमतितरां भक्तिसहितो
हरेरग्रे नित्यं पठति मनुजो यः सविनयम्।
हरिः प्रीतस्तस्मिन् भवति नितरां धाम च निजं
प्रदत्ते चैतस्मै निजभजनमाचार्यकृपया ॥१७॥

इति नुतिपरवाक्यपुष्पहारै-,र्व्यतनुत साञ्जलि विष्णुस्वामिपूजाम्।
हरिपदनिरतो वसंश्च वृन्दा-,वनभुवि श्रीवनमालिदासशास्त्री ॥१८॥

श्रीविष्णुस्वामिनां मत-संक्षेपः—

विष्णुस्वामिमते व्रजेशतनयः श्रीब्रह्म सच्चिन्मयः
शुद्धेच्छावशतो जनाननुगतः प्रादुर्भवन् गोकुले।
मुक्तिर्दास्यमितीरितं मधुरिपोस्तत्साधकोऽनुग्रहः
स्वाऽविद्यारहिता हरेरनुचरा ब्रह्मात्मकं सज्जगत् ॥१॥

श्रीहरिदासस्वामिनां मत-संक्षेपः—

आराध्यो भगवान् निकुञ्जसदनस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या सा समुपासना ललितया याऽऽचार्यया कल्पिता।
मुक्तिः श्रीहरिपादयोरधिगतिः प्रेमैव तत्साधनम्
इच्छाद्वैतमिदं मया निगदितं श्रीहारिदासं मतम् ॥२॥

द्वयोरपि मत-प्रदर्शक :—श्रीवनमालिदासशास्त्री

वि० सं० २०१४ चैत्र कृष्णा तृतीया

महात्मा गान्धी प्रशस्तिः

निर्माणकालः—वि० सं० २०१६

आर्यात्रयम्—

जयति महात्मा गान्धी, विमला विपुला च यस्य सत्कीर्तिः ।
लतेव वृक्षस्योपरि, भुवनं व्याप्योर्ध्वमारूढा ॥१॥
आरूढो देवाना-,मपि हृन्मञ्चेषु सर्वथोच्चेषु ।
अपि बहु ऋजुताधारी, धीरो जनकः स्वतन्त्रता-देव्याः ॥२॥
कारुण्यामृतवर्षी, बुधजनहर्षीव वर्षुको मेघः ।
हरिजनहृदयाकर्षी, स्वाधारः सर्वजनतायाः ॥३॥

शिखरिणी—

विना शस्त्रैरस्त्रैः क्वचिदपि न केनापि विजयः
कृतश्चार्वाचीनां विजयपरिपाटीं प्रकटयन् ।
महात्मा गान्धी तु प्रथितसुयशाः शान्ति-सुमना
अहिंसास्त्रेणाराज्जयति निखिलान् गौरवपुषः ॥४॥

धन्यवाद-पत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०१६ कार्तिक शुक्लपक्ष

यत्रैश्वरं मारुति-मन्दिरं वरं, यद्दक्षिणे दक्षिणदिक्पतेः स्वसा ।
स्वलंगृहैरेव सुशोभते च या, विराजते सा हरिदासदासपूः ॥१॥
यत्राऽऽनन्दस्वरूपो निवसति नितरां साधुरानन्ददासो
यस्यैवाऽन्वर्थनाम्नः परम-करुणया वत्सरे वत्सरेऽपि ।
साधूनां सङ्गहेतोः प्रवहति मधुरा हर्षदाऽऽनन्दधारा
यस्यैवाऽहं कृपायाः सकलसुखदमानन्दपूरं वहामि ॥२॥
येनाऽऽहूता महान्तः सरसहरिकथा-माधुरीमावहन्तः
सर्वानानन्दयन्तः स्वमधुरवचनैरासते संसदन्तः ।
हार्दं संनाशयन्तः सकलमपि तमः कान्तिमन्तः किरन्तो
रामानन्देन पूर्णो निरवधि जयतात् सोऽमानन्ददासः ॥३॥
रस-शशि-ख-कर-परिमिते, विक्रमवर्षे च कार्तिके शुक्ले ।
योऽयमुत्सवश्चलति, तस्येमे कार्य-कर्तारः ॥४॥
प्रधानवक्ता चतुरः शुकोक्ते-,र्महाकविः श्रीवनमालिदासः ।
गोविन्ददासः खलु पाठकर्ता, श्रीरामजी-विज्ञवरो वरोक्तेः ॥५॥
श्रीरामदासः करहा-निवासी, विराजते मानस-तत्त्ववेत्ता ।
विराजतेऽसौ रघुनाथदासः, सत्पूजको मारुति-मन्दिरस्य ॥६॥

श्रीनेकरामो हरिनामवक्ता, श्रीसूर्यभानुश्च रमेशनत्थौ।
दिलीपसिंहो हरिदासवासी, ज्योतिःप्रसादो गहरा-निवासी ॥७॥
श्रीनारायणदासनर्तकमणिर्नागोम्प्रकाशोत्तमाः
श्रीमद्राघवदास-सूदकवरो वज्राङ्गदासो महान्।
भक्तः श्रीखुशियाल-सद्गिरिधरावोङ्कारहोलीगिरी
श्रीबद्री च निहालसिंह-जसवन्तौ रामसिहाऽन्तरौ ॥८॥

हरगोविन्दो भवन-पुरस्थः, श्रीरतिरामो महावनस्थः।
राममन्दिरस्याशाबालः, रहलई-वासी गणेशलालः ॥९॥
अध्यापकानां खलु यस्तु मन्त्री, बेरी-निवासी बुधखूबिरामः।
सम्पादकः सैनिक-पत्रकस्य, पुत्रश्च तस्यैव विदोम्प्रकाशः ॥१०॥
श्रीरामदासः खलु प्रेमदासः, श्रीचेतरामः खलु यस्तु नेता।
अन्ती वसन्ती च महासुदेवी, वाक्कीलनी श्रीजगदीश-शान्ती ॥११॥
श्रीरामरक्षादि-महानुरागै-,र्द्विविंशति-ग्रामनिवासि-भक्तैः।
सेवा कृतैभिस्तनु-वाङ्-मनोभिः, सर्वेऽप्यमी धन्यपदाधिभाजः ॥१२॥

श्रीललिताविनयलता-प्रेमलतयोः शुभसम्मतिः

निर्माणकालः—वि० सं० २०१५ अधिक श्रावण ५

ग्रन्थेऽस्मिन् ललितादिनामललिते भाषात्रयोट्टङ्किते
भाषाकाव्यमयेऽपि भाति विमलाऽनुप्रासबाहुल्यता।
छन्दोरीतियुता विशिष्टकविता नव्योपमा-सत्यता
राधावल्लभविज्ञ-विज्ञतमता तारुण्यतामागता ॥१॥

काव्ये प्रेमलताह्वये तु सफला प्रेम्णो लता दर्शिता
भाषायां जनमात्रबोध्यतरता भावप्रसूनच्छटा।
केषां नो मनसो विलास इह भो! ग्रन्थद्वये निर्मले
तस्माच्छ्रीवनमालिदासकविना तेने स्वयं सम्मतिः ॥२॥

श्रीस्वामि-विवेकानन्दाभिनन्दनम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०१६

अद्वैतं प्रतिपादयन्ति च विशिष्टाद्वैतमेवाऽपरे
द्वैताद्वैतमथापरे च विबुधा द्वैतं तु मध्वानुगाः।
भेदाभेदमचिन्त्यमन्ति च विवेकानन्दजन्मोत्सवे
सर्वेषां प्रतिभाजुषां हि विदुषां वेदान्तसम्मेलनम् ॥१॥

जयति विवेकानन्दो, भारतभूमेः शिरोरत्नम् ।
विजयपताका यस्य, दोधूयन्ते विदेशेऽपि ॥२॥

पताकामत्युच्चां विजयजनितां भारतभुवो
विदेशे यस्तेने निजविभवजातं प्रकटयन् ।
विचित्रैर्विज्ञानैरहरदभिमानं स हि मुनि-
र्विवेकानन्दाख्यो जयति चिरसौभाग्यमहिमा ॥३॥

अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीलविवेकानन्दाख्यया विदितान् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥४॥

श्रीकालिदास-जयन्ती-महोत्सवः

निर्माणकालः—वि० सं० २०१६

सकलगुणविशिष्टां यस्य सत्काव्यमालां
दधदिह सकलोऽयं लोकजातो विभाति ।
भुवनमति-गतं सत्सौरभं यस्य कीर्तेः
स जयति कविवर्यः कालिदासो महात्मा ॥१॥

अवन्तिकापुरीपतिं प्रणम्य भूतभावनम्
गुरुं हरेरथापि सादरं प्रणम्य दण्डवत् ।
सभापतेरनन्तरं सभागतान् विचक्षणान्
प्रणम्य नम्रतां गतो व्यनज्मि भावनां निजाम् ॥२॥

अनुपमाभिरहो कृतिभिर्निजै-,रुपकृतं त्विदमेव जगच्चिरम् ।
बहु महाकविना खलु येन तं, क इह विस्मृतिमार्गमुपानयेत् ॥३॥

येन सांस्कृतिका वृक्षाः म्लाना संजीविता इव ।
पुष्पतां फलतां नीताः कस्तं विस्मर्तुमीश्वरः ॥४॥

यत्सत्कृति-रत्नानां, मूल्यं नास्मन्मतेर्विषयः ।
परमिह सादरधारण-,मेवास्तां कृत्यमस्माकम् ॥५॥

यस्यां श्रीकृष्णनामा स परमपुरुषो लोकलीलानुसारं
सारं सच्छास्त्रजातं सकृदपि गदितं प्राप सान्दीपनेस्तु ।
यस्यां मूर्तो व धर्मो नरपतिरभवद् विक्रमादित्यनामा
शिप्रातीरे च यस्यां हरिगुरुमहितो विश्वविद्यालयोपि ॥६॥

तस्यामेवाऽद्य पुर्यां जगति सुविदिते विश्वविद्यालयेस्मिन्
श्रीलश्रीकालिदासाऽभिध-कविसुमणेर्जायते सज्जयन्ती ।

यस्याः सत्प्रेरकोयं रविरिव जयतात् सूर्यनारायणाख्यो
जीयान्नेत्राधिरूढो दिशि दिशि विदितो भारतस्यापि मंत्री ॥७॥
हरिगुरुविद्यालय इव, शिक्षादाने समर्थोऽयम् ।
भवतादित्याशासे, विक्रमविद्यालयो जगति ॥८॥
देशे देशे यद्यपि, जयन्तीयं कालिदासस्य ।
कृतापि शोभां भजते, विमलेऽस्मिन् भारते त्वधिकाम् ॥६॥
कालिदास-जयन्तीय जयन्ती भेदभावनाम् ।
एकसूत्रे हि बध्नातु सर्वेषां हृदयानि नः ॥१०॥

वरवध्वोराशीर्वाददात्मकः शुभसन्देशः

निर्माणकालः—वि० सं० २०१६

गोपाल ! गोपाल-मनोज्ञवेष !, निःशेषिताऽशेषवचोविशेष ! ।
गार्हस्थ-धर्मे पदमादधानः, प्रेम्णा त्विमां प्रेमवतीं गृहाण ॥१॥
शिवेन मनसा दत्तां श्रीगोपाल-विचक्षण ! ।
आचार्य-वासुदेवस्य तनयां रक्ष सर्वतः ॥२॥
श्रीगोवर्धन-वासिनां गुणवतां शोभावतां धीमतां
नन्दग्राम-निवासिभिर्गतगुणैः सम्बन्धमातन्वताम् ।
सेवाऽस्माभिरहो न तत्रभवतां सम्पादिताऽल्पीयसी
क्षन्तव्यास्त्रुटयो निरन्तरगुणप्रेक्षैरसाधारणैः ॥३॥
सम्बन्धिनस्तुल्यधियो भवन्ति, न हीनप्रज्ञाः प्रभवन्ति लोके ।
वयं कृता हीनधियो भवद्भिः, सम्बन्धिनः सोऽपि चिराय भूयात् ॥४॥
गिरिराज-प्रसादेन सम्बन्धोऽयमजीघटत् ।
गिरिराज-प्रसादः स स्वकुले वर्ततां सदा ॥५॥
रस-कु-ख-कर-गण्ये विक्रमादित्यवर्षे
बुधयुत-हरितिथ्यां कार्तिके शुक्लपक्षे ।
रसवति सुविवाहे प्रेम-गोपालयवैं
शुभमति वनमाली तत्र सप्रेम कुर्यात् ॥६॥
वैकुण्ठे रमते यथा कमलया श्रीसत्यनारायणः
कैलासे रमते यथा गिरिजया श्रीशंकरः शंकरः ।
साकेते रमते यथा क्षितिजया श्रीरामचन्द्रः प्रभुः
गोपालो रमतां तथा गिरिवरे श्रीप्रेमवत्याऽनया ॥७॥

श्रीकमलापति-त्रिपाठि-महोदयानां अभिनन्दन-पत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०१७ भाद्र कृष्णा त्रयोदशी

कमलापतित्रिपाठी, कमलापतिरिव हितो नृणाम् ।
स जयति धीराधारः, शिक्षामन्त्री समीचीनः ।।१।।

जयति विदितो वाराणस्यामलंकृतजीवनः
सरसहृदयः शिक्षामन्त्री विचारपरायणः ।
गुणजलनिधिर्नम्रः कम्रः श्रुतिस्मृतिपारगो
विमलवचसां व्याहारे वा यशस्विवरः सुधीः ।।२।।

वृन्दारण्यमुपेत्य सादरमसौ निम्बार्कविद्यालयं
दृष्ट्वा नूतनरीतिविद्विरचितं शिल्पक्रियाशोभनम् ।
विद्वद्भिः परिपूरितं बहुविधैश्छात्रैरनल्पैर्युतं
तस्योद्घाटनमाचरन् विजयते विज्ञस्त्रिपाठी वशी ।।३।।

श्री निम्बार्कमठाधिकारिभिरयं सम्माननीयो महान्
सामग्रीभिरनल्पशिल्परचितैरर्घ्यादिभिः सादरम् ।
अस्माभिस्तु वचोऽनुरूपकुसुमैर्वाङ्मात्र-सद्वैभवै-
स्तैरेवायमसौ प्रसीदतुतरां सद्भावविद्विज्जनः ।।४।।

अभिनन्दति रतिपूर्वं, शिक्षागृहमन्त्रिणं विदितम् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ।।५।।

श्रीभास्करानन्दसरस्वतीकृतिप्रशस्तिपराः श्लोकाः—

निर्माणकालः—वि० सं० २०१८ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया

श्रीवृन्दावनवासिभिर्बुधवरैर्यद्यप्यहं प्रेरितः
श्रीचैतन्यमहाप्रभोः सुचरितं वक्तुं सुराणां गिरा ।
पद्यैर्हृद्यतमैस्तथापि सुतरां माधुर्यधाराधरैः
श्रीमद्भिर्विरचय्य तत्सुचरितं भारोऽपनीतो मम ।।१।।

श्रीकृष्णदासं कविराजराजं, नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपादम् ।
न यस्य जिह्वा हरिभक्तिहीनां, मनागपि स्वां कवितां ततान ।।२।।
तं भास्करानन्दमहाकविं नुमो, यः कृष्णदासाङ्कितगौरलीलाम् ।
प्रदर्शयामास बुधात्ममश्वे, मनोहरैः श्लोकनटैर्जनेभ्यः ।।३।।
यः कृष्णदासः कविराजराज-,श्चैतन्यलीलामृतमाततान ।
भूयस्तदास्वादयितुं स सर्वान्, श्रीभास्करानन्दमुखेन नूनम् ।।४।।
प्रोवोच वाचा सुरसत्तमानां, प्रसादमाधुर्यमयैः सुपद्यैः ।
श्रीभास्करानन्दकृतिं विलोक्य, प्रतीयते मे हृदि निर्विकल्पे ।।५।।

श्रीभास्करानन्दमहाकवेस्तु, श्रीक्षेत्रनाथाऽभिधशिष्यवर्यः ।
गुरोरभावे गुरुणा स तुल्यो, ममापि भावेन स बन्धुवर्यः ॥६॥
श्रीभास्करानन्दसरस्वतीकृतिः, कृती जनो यां सकलः प्रशंसति ।
सैषा सदा मोदवहा मनस्विनां, मनःसु भूयाद् हरिभक्तिमिच्छताम् ॥७॥
इति मयाप्यनुभूय विलिख्यते, कृतिरियं न मुधैव प्रशस्यते ।
इति विचार्य विचारचणा जना, अपि पठन्तु सुभास्करभाषितम् ॥८॥
इति नुतिपर-सत्यवाग्विलासै-,र्व्यतनुत भास्कर-भाषित-प्रशस्तिम् ।
हरिपदनिरतो वसंश्च वृन्दा-,वन भुवि श्रीवनमालिदासशास्त्री ॥९॥

साहित्याचार्य-परीक्षायामन्तिमवर्षे प्रश्नाः तेषामुत्तराणि च यथा—

श्रीवनमालिदासशास्त्रिसंकलितानि

निर्माणकालः—वि० सं० २०२० समाप्तौ

प्र०—परीक्षाभवनं व्याप्तं परीक्षार्थिनिरीक्षकैः ;
गद्यं वा पद्यबन्धं वा समाश्रित्योपवर्णय ॥

उ०—मौनं समाश्रित्य यथैकवृत्तिभी, रहः स्थितैर्योगरतैर्हरीक्षकैः ।
तथा परीक्षार्थि-निरीक्षकैरहो, व्याप्तं परीक्षाभवनं विलोक्यताम् ॥
कुयोगिनो ये नियमेषु न स्थिराः, सुयोगभ्रष्टा हि यथाऽन्तरायकैः ।
तथा परीक्षार्थिजना निरीक्षकै-,रहो क्रियन्तेऽत्र परीक्षया च्युताः ॥

प्र०—अनावृष्ट्याऽतिवृष्ट्या वा सीदतां कृषिजीविनाम् ।
वर्णनीया दशा सम्यगार्ययाऽनुष्टुभाऽथवा ॥

उ०—अनावृष्ट्या तु शुष्यन्ति क्षेत्राणि कृषि-जीविनाम् ।
धनं बलं क्षयं याति, ऋणं दैन्यं च वर्द्धते ॥
क्षेत्रं गृहं विनश्यति, पशवः सीदन्ति जीर्यते यानम् ।
अतिवृष्ट्या कृषकाणां, देहः कृशतामनारतं याति ॥

प्र०—मालिन्या वाऽथ शालिन्या धेनु-सन्ध्ये निरूपय ।
उपमारूपकोत्प्रेक्षाऽन्यतमालंक्रियोज्वले ॥

उ०—प्रातः सम्यग् धार्मिकैः पूजयित्वा, ध्याता पश्चादागमार्थे विसृष्टा ।
पादैस्तुर्यैर्यामरूपैरटित्वा, धेनुः सन्ध्येवाऽऽगता भाति सायम् ॥

प्र०—वीरम्मन्यस्य भीरोस्तु सुहृद्गोष्ठ्यां विकत्थनम् ।
वीरहास्यानुभावानां साहाय्येन प्रदर्श्यताम् ॥

उ०—एकाकिना मया सर्वभटानामिह संगरे ।
करिष्यते स्वहस्ताभ्यां मशकानामिवार्दनम् ॥

वीरम्मन्यैर्भवद्भिस्तु, स्थीयतां भो ! गृहान्तरे ।
मया करिष्यते सर्वं विष्णुनेव जगत्त्रयम् ।।
प्र०—त्वया श्लेषेण वर्ण्येतां यद्याचार्यत्वमिच्छसि ।
केनापि छन्दसाऽनुष्टुबितरेण वृषाकपी ।।
उ०—वृषस्थितौ द्वावपि चक्रधारिणौ, विभूषितौ द्वावपि भूरिभूतिभिः ।
प्रकीर्तितौ द्वावपि शंकराविति, तौ रक्षतां मामभितो वृषाकपी ।।
प्र०—गंगाविषयिणीं काश्चिद् दर्शयापह्नुतिं शुभाम् ।
येनाऽलंकारिकत्वं ते साहित्ये संपरीक्ष्यताम् ।।
उ०—नेयं गंगा हरेः किन्तु कीर्तिस्त्रैकोक्यपावनी ।
मूर्त्ता भ्रमति लोकेषु त्रिषु नित्यं निरन्तरम् ।।

'मृगतृष्णाम्बु शीतलाम्'—इति पंचम-समस्यायाः पुनः पूर्तिर्यथा—
मरीचिका च का प्रोक्ता मेघपुष्पं च किं स्मृतम् ।
जलं च कीदृशं प्रोक्तं मृगतृष्णाम्बु शीतलम् ।।

अधो निर्दिष्टाः समस्याश्च पूरणीयाः

समस्या—"शेते करी मशकपादविपादिकायाम्"
पूर्तिः— कृत्वा सुभोजनमु किं कुरुते सतन्द्रो
मत्तश्च संगरमुखे क उ बृंहितानि ।
रेणुः क्व वा लगति भोः परमाणुरूपः
शेते करी मशकपादविपादिकायाम् ।।

समस्या—"सोऽमृतत्वाय कल्पते"
पूर्तिः— विरक्तिर्यस्य गेहादौ रक्तिश्च परमेश्वरे ।
स्वाचारे यः स्थितो मर्त्यः सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।

समस्या—"निराधारे व्योम्नि प्रचलति रथो वाजिरहितः"
पूर्तिः— रथेनादित्योऽपि व्रजति ननु सप्ताश्वकयुजा
मृगस्थश्चन्द्रोऽपि द्रवति भगवच्छासनपरः ।
तदास्तामाश्चर्यं कलय शिशुभिः कर्गलकृतो
निराधारे व्योम्नि प्रचलति रथो वाजिरहितः ।।

समस्या—"न कल्पते कल्पलता फलाय"
पूर्तिः— न यस्य चित्तं स्थिरतामवाप्तं, विचारयुक्ता नहि शेमुषी च ।
चरित्र-हीनाय जनाय तस्मै, न कल्पते कल्पलता फलाय ।।

समस्या—"मृगतृष्णाम्बु शीतलम्"

पूर्तिः— हृदि येषां न वैराग्यं तप्ता ये विषयाग्निना।
तेषां कृते लगत्येव मृगतृष्णाम्बु शीतलम्॥

समस्या—चण्डांशुचन्द्रतडितो लघवः स्फुलिङ्गाः"

पूर्तिः— कोटीन्दु-सूर्य-तडितां गणतोऽतिभायुक्
कृष्णेन योऽर्जुनकृते स्वक-विश्वरूपः।
प्रादर्शि तस्य पुरतः खलु दिव्यमूर्त्ते-
श्चण्डांशु-चन्द्र-तडितो लघवः स्फुलिङ्गाः॥

काशीवासिनां श्रीगोपालशास्त्रिणामभिनन्दनम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०२०

श्रैमत्के हृदये सदा सरलता दिग्धा वरीवृत्यते
सैवेयं रचनान्तरे तव विभो! मूर्त्ता दरीदृश्यते।
सारग्राहिभिरेव सर्वमनुजैः शीघ्रं जरीगृह्यते
प्राशस्त्यं कथयन् ममापि मुदितं चेतो नरीनृत्यते॥१॥

नो विना काशिकाकारमेतादृशी, क्वापि दृष्टा मया व्याकृतेः पद्धतिः।
याऽऽर्जवाढ्या शुभा शास्त्रिगोपालजे, पाणिनीयप्रबोधेऽल्पके पुस्तके॥२॥

'मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता', हर्षोक्तिरेषा सफलाऽत्र दृश्यते।
अतो बुधाः! पाठयताऽऽत्मपाठकान्, प्रबोधमेतं लघु संस्कृतोक्तये॥३॥

ग्रन्था मया व्याकरणस्य सर्वे, दृष्टा परं दृष्टिपथं न याता।
निर्माण-शैली खलु संस्कृतस्य, प्रयोग-शैली च प्रयोग-सिद्धेः॥४॥

पाणिनीय-प्रबोधे तु सैव दृष्टा पदे पदे।
यां विलोक्यैव विदुषां प्रसीदतितरां मनः॥५॥

पाणिनीयप्रशस्तिं विलोक्यैव मे, मानसोऽयं विचारो दृढो जायते।
उद्दिधीर्षुः कृतिं स्वां पुनः पाणिनिः, शास्त्रि-गोपालरूपेण किं प्राभवत्॥६॥

अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीयुतगोपालशास्त्रिणो विबुधान्।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः॥७॥

उत्तरप्रदेशीय-सर्वसंस्कृत पाठशालानां प्रधाननिरीक्षकस्य एम० ए० व्याकरणाचार्यस्य श्रीप्रकाशचन्द्र-गौडस्य अभिनन्दनरूपा-प्रशस्तिः—

निर्माणकालः—वि० सं० २०२१ भाद्र शुक्ला नवमी

जयत्ययं भारतभूमिरत्नं, प्रकाशचन्द्राभिध-पूर्णचन्द्रः।
प्रकाशयत्येष सदैव लोकं, स केवलं द्वित्रदिनानि रात्रौ॥१॥

नहि गौडान्वयकुमुदं, केवलमेष प्रकाशयञ्जयति ।
अपि तु कुमुदवनमात्रं ब्राह्मणवंशस्य रञ्जयञ्जयति ॥२॥
निरीक्षकः संस्कृतपाठशाला-,व्रजस्य यो मुख्यतमोऽस्ति तस्मै ।
प्रकाशचन्द्राह्व-महोदयाय, समर्पितः सख्यसुधाकरोऽयम् ॥३॥
श्रीमत्प्रकाशविधु-गौड-कराब्जयुग्मे, पद्यावली निनिहिता किल टीकयित्रा ।
दृष्टवैव सादरमिमां च निजाशिषां मां, पूर्णायुषं स कुरुतां वनमालिदासम् ॥४

प्रकाशचन्द्रसंज्ञस्य विदुषः करकंजयोः ।
सर्मापितमिदं कर्त्रा शतकद्वयमादरात् ॥५॥
प्रकाशचन्द्रसंज्ञस्य विदुषः कण्ठसीमनि ।
सर्मापिता गुम्फयित्रा श्रीभक्तनाममालिका ॥६॥
गौडाऽन्वयावतंसस्य विदुषः करकंजयोः ।
प्रकाशचन्द्र-संज्ञस्य काव्यमेतदिहार्पितम् ॥७॥

श्रीमन्मध्वाचार्यपीठाधीश्वर-उडुपी-महाशूरस्थ-अनन्त-श्रीविभूषित-श्रीस्वामि-विद्यामान्यतीर्थवर्य-वर्यकरकमलेषु सादरं सर्मापितम्

प्रशस्ति-पत्रम्

निर्माणकालः--वि० सं० २०२१ चैत्रकृष्णा सप्तमी

श्रीमध्वाचार्यवर्यान्निजहृदि विशदे भावयित्वा नितान्तम्
श्रीकृष्णानन्ददामान् सखिरसविभवांल्लब्धवर्णान् गुरून् स्वान् ।
श्रीविद्यामान्यतीर्थाह्वय-निखिलगुरोर्मध्वपीठाधिपस्य
श्रीवृन्दारण्यमध्ये कतिपयसुपदैः कीर्तिलेशं ब्रवीमि ॥१॥
निजहृदि विनिहितया यो, निरवधि निरवद्यविद्यया मान्यः ।
अत इह सार्थकनामा, विद्यामान्यो यतिर्जयति ॥२॥
विद्याभासुरभूसुरान्वयजनिः सौम्याकृतिः सत्कृति-
र्मायावादनिशानिरासतरणिर्भक्त्यम्बुधेश्चन्द्रमाः ।
मिथ्यादृष्टिमहीध्रपक्षभिदुरोऽशान्ताय शान्तिप्रदो
विद्यामान्यजगद्गुरुर्विजयते श्रीमध्वपीठाधिपः ॥३॥
यो नास्तिकानपि च सास्तिकतां निनाय, यस्तर्करातिभिरलं विमुखाञ्जिगाय ।
श्रीमध्वमार्गमवनौ विमलं वितन्वन्, भक्तिप्रचारणरतः किल सोऽयमास्ते ॥४
भुवि भ्रामं भ्रामं श्रुतिशरचयैनावस्तिकमृगान्
विधत्ते पापाह्वाद् भयदवनतो धर्मवनगान् ।
न यत्राऽऽस्ते भीतिः शमनमृगयुत्यक्तशरजा
स विद्यामान्याह्वो यतिपतिजस्त्रं विजयते ॥५॥

श्रीराधिकामाधवभालयेन, श्रीकृष्णचैतन्यकृपालयेन ।
गोपालभट्टाह्वमहोदयेन, यस्यास्ति सम्बन्धवरः प्रगाढः ॥६॥
यदि भवानुदितो न भवेद् रवि-,र्नवनवैः किल भक्तिमरीचिभिः ।
क इह मध्वमुखादिमहात्मनां, भवति पुस्तकपद्म-विकाशकः ॥७॥
वैराग्यं विभवे त्रिविष्टपभवे भक्तिर्यशोदाभवे
जिह्वामश्वमुरीकरोति सततं विद्यानवद्यानटी ।
शंकापंकनिराकृतिः सुमधुरैर्वाग्वारिभिः सादरं
विद्यामान्यमहाप्रभोर्वदत भोः किं किं न लोकोत्तरम् ॥८॥
श्रीराधारमणान्तिके व्रजभुवि श्रीदिव्यवृन्दावने
यस्य स्वागमनेन चेतसि महान् हर्षः समेषां नृणाम् ।
यस्य श्रीवचनामृतेन नितरां शंकाकलंको गत-
स्तस्य श्रीलजगद्गुरोरवनताः सुस्वागतं कुर्महे ॥९॥
इति नुतिपरवाक्यपुष्पहारैः, र्व्यतनुत मध्वमुनेः पदस्थपूजाम् ।
हरिपदनिरतो वसँश्च वृन्दा-,वनभुवि श्रीवनमालिदासशास्त्री ॥१०॥

विवाहसमये वरवध्वोरधिकार-वचनानि

कन्यां प्रति वर-वचनानि—

निर्माणकालः—वि० सं० २०२२ चैत्र कृष्णा तृतीया

विनाऽनुज्ञां मे त्वं व्रजसि नहि चेत् कह्यु पवनं
तथा साध्वी भूत्वा निज-भवन-कृत्यं च कुरुषे ।
अनाहूता पित्रोरपि गृहमये ! यासि न तदा
प्रिये ! वामाङ्गे मे निवस सततं मङ्गल-युता ॥१॥

समा द्वन्द्वे स्यास्त्वं धरसि यदि धैर्यं स्वमनसि
विपत्तौ स्याः सार्धं निजगृहजनानामपि सदा ।
सदा सेवाकार्ये भवसि विनियुक्ता यदि तदा
प्रिये ! वामाङ्गे मे निवस सततं मङ्गल-युता ॥२॥

कुचैलं कद्रूपं पतिमपि मनस्युज्ज्वलतरं
विजानीषे रूपान्वितमपि परं रूपहितम् ।
सधर्मं वृद्धानां मतमनुसरेश्चेदपि तदा
प्रिये ! वामाङ्गे मे निवस सततं मङ्गल-युता ॥३॥

सदा मम मनोऽनुगा भवसि गेहकार्ये रता
नवाङ्क-गणना-समा यदि रतिस्तवाऽऽस्तां मयि ।

यशः-सुखकरी द्वयोरपि कुले भवेरावयोः
प्रिये ! वस तदा मम त्वयि शुभे तु वामाङ्गके ।।४।।

मनसा वचसाऽपि कर्मणा, पतिसेवा सुखदा कुलस्त्रियाः ।
इति चेतसि चेत् सुधारणा, सुभगे ! तर्हि समेहि मेऽन्तिके ।।५।।

वरं प्रति कन्या-प्रार्थना-वचनानि

आज्ञां धृत्वा शिरसि समुदा पालनं नाथ ! कुर्यां
किन्त्वेकं मे वचनमव भो ! याचनं यद्धि कुर्याम् ।
कार्यं कार्यं ननु सह मया यज्ञ-दानादि सर्वं
याच्ञा दास्या इति दयित हे रक्ष वामाङ्गके माम् ।।१।।

हव्यं दत्त्वा कुरु सुमुदितं मानसं देवतानां
कव्यं कृत्वा कुरु ननु मनः सुप्रसन्नं पितॄणाम् ।
सर्वानन्दं भवति हि तदाऽवेहि हे नाथ ! नित्यं
याच्ञा दास्या इति दयित हे रक्ष वामाङ्गके माम् ।।२।।

रक्षा कार्या निजकुल-गतानां समेषां जनानां
साहाय्यं वा विपदि क्रियतां नाथ ! तेषां सदैव ।
तृप्तिः कार्या निजपशुगणस्याऽपि संभालनं च
याच्ञा दास्या इति दयित हे रक्ष वामाङ्गके माम् ।।३।।

धनस्य धान्यस्य कदापि संग्रहः, क्रियेत चेत् तर्हि ममापि पृच्छनम् ।
परस्य गेहे यदि रक्ष्यते धनं, तदापि कार्यं मम पृच्छनं पुरा ।।४।।

वापी-कूप-तडाग-कुण्ड-खननं देवालयोद्‌घाटनं
कार्यं चेद् हरिवाटिकादि-रचनं पूजाप्रतिष्ठादिकम् ।
मां पृष्ट्वैव पुरा सहैव च मया कार्यं तदा सादरं
दासी ते विनयं करोति भगवन् ! मां रक्ष वामाङ्गके ।।५।।

अहं तव परायणा मम परायणस्त्वं भव
कदापि मनसापि नो पर-कलत्र-सङ्गी भव ।
सदा कुरु मया समं सकलकार्यजातं मुदा
निवेदयति सादरं दयित ! दासिका ते त्वियम् ।।६।।

वरवध्वोरधिकारं, कृत्वा श्लोकानिमानकरोत् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ।।७।।

श्रीगुरुमुखदास-स्तुतिः

निर्माणकालः—वि० सं० २०२३ श्रावण कृष्णा पंचमी

वेदाब्धिनन्दविधुसंवति पौर्णमास्यां, श्रीलेखराजभवने शरदि प्रवृत्ते ।
मातुः पितुश्च सुखदो जगतां सदैव, पूर्णेन्दुभो गुरुमुखः प्रकटो बभूव ।।१।।
आशीर्वादाद् रामादासाभिधस्य, प्रादुर्भूतिर्यस्य चाऽऽस्ते विचित्रा ।
यां श्रुत्वैवायाति श्रद्धातिचित्रा, सोऽयं जीयाद् गौरवाढ्यो महात्मा ।।२।।

उदासीनो जन्मावधि भवरसाद् भक्तिमधुरो
वदान्यो मान्यो वा शिविसम उताहो बलिरिव ।
अपारोदारो यो सुरधुनिविहारो गज इव
सदा सत्सेवी यः स गुरुमुखदासो विजयते ।।३।।

भुवि भ्रामं भ्रामं हरिगुरुगुणग्राममलं
सदा गायं गायं सुखयति पुरा भक्तिनिरतान् ।
अमानी मानेनाऽपरजनगणं मानयति यः
सतां सेवालीनः स गुरुमुखदासो विजयते ।।४।।

सत्पादपङ्कजपरागसुरक्तभृङ्गः, सत्सेवनीयचरणोऽपि विरक्तसङ्गः ।
आद्यन्तमध्यवयसाऽऽहृत-गाङ्गसङ्गः, सोऽयं सदा जयतु सिन्धुपदे पतङ्ग ।।५।।
यस्यान्नदानसवनं स्ववनं चकार, यस्योपदेशनिचयं जनता जगार ।
अद्यापि यस्य भुवि चास्ति गुणप्रचारः, सोऽयं सदा जयतु सत्सुकृतोपचारः ।।६।।
देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं विहाय, जायासुतादिषु कृतां ममतां जिगाय ।
संसार-सिन्धुमतितीर्य परं त्वियाय, तस्याऽऽसतां गुणगुणा जगतां जयाय ।।७।।
वैराग्यरागरसिको रसिकोत्तमो यः, सिन्धुप्रदेशजनि-रीतिविवर्जितो यः ।
भक्ति-प्रचारणरतो विरतो भवाब्धेः, सोऽयं सदा गुरुमुखो विजयं तनोतु ।।८।।

प्रयागे कुम्भादौ दिनमनु हरिद्वारनिलये
सदा यस्य क्षेत्रं प्रचलति सतां सेवनपरम् ।
तथा वृन्दारण्ये हरिजन-शरण्येऽति-मधुरे
सतां सेवाधारी स गुरुमुखदासो विजयताम् ।।९।।

प्रयागमुनिनामको भवति यस्य शिष्यः सुधीः
सुधीरजनरञ्जको विमलभावना-सञ्जकः ।
नमेव निजपद्धतेः सपदि दर्शकं स्वे पदे
निधाय व्रजमण्डले विपिनराजवृन्दावने ।।१०।।

जगाम हरिमन्दिरं प्रकृतिपारमानन्ददम्
महान् गुरुमुखः स नो भवतु भूतये सन्ततम् ।

प्रयागमुनिचालिता चलति साधु सिन्धीकुटी-
व्यवस्थितिरनारतं भवति सौख्यदा धीमताम् ।।११।।
इति नुतिपरवाक्यपुष्पहारै-,र्गुरुमुखदास-यतेश्चकार पूजाम् ।
हरिपदनिरतो वसँश्च वृन्दा-,वनभुवि श्रीवनमालिदासशास्त्री ।।१२।।

श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा विरचिता श्रीगुरुमुखदासस्तुतिः सम्पूर्णा ।

अलीगढ़-निवासि-ला० श्रीगंगाप्रसादस्य नवगृहप्रवेशसमये प्रदत्तं

अभिनन्दन-पत्रम्—

निर्माणकालः—वि० सं० २०२४ बसन्त-पञ्चमी

गंगाप्रसादवणिजः खलु वर्णये किं, सौभाग्यजातममलं भवन-प्रवेशे ।
व्यासोपमा यदिह भान्ति बुधा महान्तो, विज्ञाश्च कर्मकरणेऽतिविचक्षणाश्च ।।१
यत्राऽऽचार्यो भीष्मदत्तो वरीयान्, ब्रह्मा भाति श्रीलसंकर्षणाख्यः ।
राधेश्यामो विज्ञवर्यो विभाति, प्यारेलालः सर्व-संयोजकश्च ।।२।।
मथुरानाथ-विधिज्ञो, विज्ञो यः सर्व-शास्त्राणाम् ।
मूर्त्तं शास्त्रज्ञानं, श्रीयुत-संकर्षणाचार्यः ।।३।।
श्रद्धावित्तो यादृशो याज्ञिकोऽयं, सर्वे विज्ञास्तादृशा ऋत्विजश्च ।
सर्वं कार्यं वैधरीत्या हि जातं, जातं कर्तुर्मङ्गलाशंसनाय ।।४।।
लोका मया तु बहवो जगति प्रदृष्टा, गंगाप्रसादसदृशो नहि कोऽपि दृष्टः ।
श्रद्धाधनो धनिषु सर्वजनेषु सत्सु, तस्मादयं भवति धन्यजनेषु मान्यः ।।५।।
अभिनन्दति रतिपूर्वं, गुप्तं गंगाप्रसाद-नामानम् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ।।६।।

'सुदामा-श्रीदामा'—ग्रन्थे सम्मतिः

निर्माणकालः—वि० सं० २०२५ आषाढ कृष्णा षष्ठी

'सुदादा-श्रीदामा' इति समभिधानं तु सरसं
कृतं खण्डं काव्यं सरस-सुधियां खण्डमिव यत् ।
कृतं येनाऽपूर्वं प्रथममपि 'सिद्धान्तशतकं'
स मित्रानन्दाख्यः सुकविरमलात्मा विजयते ।।१।।
मित्रभावयुतमागतमात्रं, नैव त्यजामि जनं क्षणमात्रम् ।
दोषी यदपि भवेदतिमात्रं, महतामेतद्गर्हितमात्रम् ।।२।।
इति राघववचसामनुसारं, मित्रभावमय-शुद्धविचारम् ।
चक्रे प्रकटं मित्रानन्दं, तमभिश्लाघे मित्रानन्दम् ।।३।।
मित्रद्वय-चरिताढ्यं, मित्रानन्दं कृतं च मित्रेण ।
काव्यमिदं प्रथतां भुवि, सलिले स्नेहस्य बिन्दुरिव ।।४।।

मित्रभावमयमास्ते, देहं गेहं च मित्रस्य ।
मित्रानन्दं मित्रं, मित्रं वनमालिदासस्य ॥५॥

श्रीउडुपीकृष्णक्षेत्रे पर्याय-महोत्सवे प्रेषिता कविता—

निर्माणकालः—वि० सं० २०२६

निज-द्वैताऽमृतवृष्ट्या, निखिलो येनाऽपि जीवितो लोकः ।
स जयति धीराधारः, श्रीमन्मध्वाऽऽह्वयो मेघः ॥१॥

ब्रह्माद्यैर्वन्दितो यो निजहृदि मुनिभिर्ध्यात-पादारविन्दो
हेतुं त्यक्त्वैव भूमौ निज-पद-निरतान् मोक्तुमेवाऽवतीर्णः ।
सौन्दर्यं कामकोटेः परिभवकरणं यस्य श्रीविग्रहस्य
वन्दे तं बालकृष्णं व्रजपति-वनिता-मूर्तिमद्-भागधेयम् ॥२॥

गोपीचन्दनखण्डतश्च प्रथमं यः प्रादुरासीन्मुदा
स्तोत्रैर्द्वादशभिः कृतैः सुमधुरैरानन्दतीर्थाऽभिधैः ।
आचार्यैः परितोषमेति नितरां दामोदरः श्रीहरि-
र्वन्देऽहं तमशेषकारणमजं मन्थानदण्डाश्रयम् ॥३॥

यशोदया यः प्रथमं निबद्ध, आनन्दतीर्थैस्तदनु स्वहार्दैः ।
दामोदरः श्रीपतिरेव नः स, यशो-दयाऽलंकृतमूर्तिरव्यात् ॥४॥

कृपापारावारं भवजलधिपारं सुखकरं
जनानामाधारं प्रणतशिरसां शान्तमनसाम् ।
सदा भक्त्या लभ्यं प्रणयपरमाऽनुग्रहपरं
चिदानन्दं नन्दात्मजममर-सेव्यं श्रयत भोः ॥५॥

भगवद्-विमुख-सम्मुखयोः स्वरूपम्—

न जानन्त्येव त्वामसुरमतयः शास्त्रविदितं
त्वदीया माया तान् भ्रमयति नितान्तं व्रजपते ! ।
त्वदीस्त्वामेव प्रणयभर-शैथिल्य-मनसः
समीक्षन्ते साक्षात् त्वदपगत-मायाजवनिकाः ॥६॥

जीव-ब्रह्म-स्वरूपं यथा—

अणुं जीवात्मानं हरिचरणदासं न जननं
विभिन्नं जानीत प्रतितनु स-ज्ञानांश-विभवम् ।
चिदानन्दाकारं व्रजपतिकुमारं क-जनकं
गुणौघं निर्दोषं भजत मनुजा ! ब्रह्म सदयम् ॥७॥

श्रीमन्मध्व-मताऽनुगामिनमहं मध्वाऽध्वगश्चाप्यहं
श्रीमन्मध्व-मताऽनुपोषणपरं श्रीकृष्णपादाश्रयम् ।
तद्राद्धान्त-विवर्धिनी-समितिगं विद्वज्जनानां चयं
साष्टाङ्गं प्रणिपत्य साधु करवै सर्वस्य सम्माननम् ॥८॥

श्रीमध्व-सिद्धान्त-विवर्धिनीयं, सभा सुधर्मोपमया विभाति ।
यस्यामनेके विबुधोत्तमा वै, समासते सञ्चित-पुण्य-पुञ्जाः ॥९॥
मठद्वयस्याऽधिपतिश्च यस्यां, बृहस्पतेरप्यधिको विभाति ।
सभापतित्वेन विराजमानः, सम्माननीयः खलु तत्त्वविद्भिः ॥१०॥
येषामहं वेद्मि न भागधेयं, न रूपधेयं न च नामधेयम् ।
अनेकदेशाच्च समागता ये, तेऽप्यत्र सर्वे मम वन्दनीयाः ॥११॥
श्रीयुक्तपर्याय-महोत्सवेऽस्मिन्, समागतेभ्य खलु सर्वदिग्भ्यः ।
नमो नमः श्रीहरिभक्तिमद्भ्यः, सद्भ्यः सुहृद्भ्यो मम बान्धवेभ्यः ॥१२॥
भाण्डारकेरी-पलिमार-नाम्नोः, समृद्धयोः श्रीमठयोर्द्वयोर्यः ।
शुभाधिपत्यं समलं करोति, विद्यासुमान्यः स सदैव जीयात् ॥१३॥

श्रीमन्माधव-तत्त्व-चिन्तनपरो वेदान्तचिन्तामणि-
र्मध्वाध्वेन्दुरभाव-नोदनपरः शंका-कलंकान्तकृत् ।
सिद्धान्तं हरिभक्तिसाधकतमं संस्थापयन् भूतले
विद्यामान्य-जगद्गुरुर्विजयते पर्यायपूजोत्सुकः ॥१४॥
येनोक्तां सुकथां विचार्य मनुजो हर्षाऽम्बुधौ मज्जति
यं दृष्ट्वा निखिलाघमुक्तिसहितः सम्प्राप्नुयाद् दृक्फलम् ।
सङ्गं यस्य विधाय दैववशतः किं किं न सम्प्राप्नुयात्
विद्यामान्य-जगद्गुरुर्विजयते श्रीकृष्ण-पूजोत्सुकः ॥१५॥

विश्वेशतीर्थचरणा अपि विश्ववित्ता
विश्वेशपादसरसीरुह-मग्नचित्ताः ।
ये मध्व-पद्धति-समागमराति-दक्षा-
स्ते कस्य नो वदत भो ! नहि माननीयाः ॥१६॥

रामाचार्यः पादपद्मे गुरूणां, कुर्वन् भक्तिं निस्पृहां भाति नम्रः ।
यस्याऽऽचारं वीक्ष्य सर्वेऽपि भक्ता, एवं कुर्युश्चेत् तदाचार्यभक्तिः ॥१७॥
रामाचार्याऽभिधानो निजगुरु-परिचर्यानिधानो विमानः
सर्वेषां मानधानो निरवधि च हरेस्तत्त्व-शिक्षा-विधानः ।
सौजन्यं यस्य दृष्ट्वा प्रमदमुपययौ भूरि चेतो मदीयं
सोऽयं नो कस्य मान्यः कथयत मनुजा ! श्रीहरेर्भक्तिभाग् यः ॥१८॥

श्रीकृष्ण-प्राप्त्यभिलाषः—

श्रीकृष्णाऽहं तवाऽस्मि प्रकटमिति सकृद् योऽभिधत्ते शरीरी
तं निर्भीकं विधत्ते भवभयनिकराद् यो दयावारिराशिः ।
यं नित्यं श्रीयशोदा निजहृदि निहितं चुम्बतीवाऽतिप्रेम्णा
तस्याऽहं पादयुग्मं शरणमतितरां प्रीतियुक्तः करोमि ॥१९॥

कदा बालं कृष्णं सखिभिरखिलैः साग्रजमहं
मिलित्वा खेलन्तं तरणितनयारोधसि मुदा ।
यशोदायाः क्रोडे व्रजपतिपुरः क्वापि ललितं
विराजं राजन्तं नयनपथमाप्तास्मि समुदम् ॥२०॥

श्रीमत्सभापतिमुखान् विदुषः प्रणामैः, कृष्णोत्सवाय धनदानपि धन्यवादैः ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्तिः, प्रेम्णाऽभिनन्दति भृशं वनमालिदासः ॥२१

वरवध्वोराशीर्वादात्मकः शुभसन्देशः

निर्माणकालः—वि० सं० २०२७ पौष कृष्णा प्रतिपदा

श्रीमद्वृन्दारण्यकल्पद्रुमाधः, श्रीगोविन्दस्याऽन्तिके सौम्यदेशे ।
मंजूषायाः केशवाचार्यपुत्र्याः, सौम्ये लग्ने भाति सौम्यो विवाहः ॥१॥

ऋषि-कर-ख-कराढ्ये विक्रमाब्देऽपि पौषे
प्रतिपदि रविवारे श्रीलगोविन्दपादे ।
शुभविजयकुमारस्यापि मंजूषिकाया
विमलपरिणयोऽयं सन्ततं सौख्यदोऽस्तु ॥२॥

स विजयो हरिदर्शनसंभवो, विहरतां ननु केशवदत्तया ।
तनयया गुणमंजुमनोज्ञया, विमलया गृहकर्मणि दक्षया ॥३॥

भवति परिणयो योद्य, मंजूषा-विजययोरत्र ।
परमानन्दं तत्र, तनुतां विपुलं स वनमाली ॥४॥

वैकुण्ठे रमते यथा कमलया श्रीसत्यनारायणः
कैलासे रमते यथा गिरिजया श्रीशंकर शंकरः ।
साकेते रमते यथा क्षितिजया श्रीरामचन्द्रः प्रभुः
सानन्दं रमयां तथैव विजयो मंजूषया स्वे पुरे ॥५॥

वरवध्वोः शुभेच्छुः—श्रीवनमालिदास शास्त्री

श्रीवृन्दावनवास्तव्यः दि० १३-१२-७०

श्रीप्रभुपाद-स्मरणस्तोत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०२७

समुद्भूतिर्भक्तेरपि खलु विनोदात् समभवत्
यदीया सम्पूज्या सुमतिरिव माता भगवती ।
स्वयं यः सौन्दर्याञ्चिततनुरभूद् वैष्णववरः
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ।।१।।
जगन्नाथक्षेत्रे जननसमये यस्य निटिले
बभावूर्ध्वं पुण्ड्रं विमलमुपवीतं च वपुषि ।
प्रसादान्ता संज्ञा भवति विमला यस्य च पुरा
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ।।२।।
जगन्नाथस्यांघ्र्योर्ग्रहणमनु तत्कण्ठपदतो
गृहीत्वा तन्मालां लघुनिजकराभ्यां शिशुतया ।
शिशुत्वेऽपि स्वीयं सहजमनुरागं गदति यः
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ।।३।।
प्रमाणैः शास्त्राणां सदसि वदति स्माऽल्पवयसि
द्विजेभ्यः श्रेष्ठा भो ! जगति नितरां वैष्णवजनाः ।
विशुद्धां भक्तिं यः स्वयमवति वक्तिस्म च पुरा
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ।।४।।
द्विजानां भक्तानां भवति च कियान् भेद इति सत्
सुसिद्धान्तेनाढ्यं रचयति पुरा पुस्तकमपि ।
सदाचाराऽऽचार्याऽऽचरण-कथकं ग्रन्थमपि यः
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ।।५।।
निजाचार्यत्व यः प्रथयति सदाचार-निवहैः
शचीसूनोस्तुल्यं मधुर-हरि-संकीर्तनमपि ।
गुरोः सेवां मुख्यां निगदति पुरा कृष्णगतये
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ।।६।।
महामन्त्रस्याऽनुष्ठिति-परिसमाप्तौ सितहरिः
प्रचारार्थं यस्मै स्वयमुपदिदेश स्वपनके ।
तथा शक्तेः सञ्चारणमपि ददौ यस्य वपुषि
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ।।७।।
विलुप्ता तीर्थानां पुनरपि च कीर्तिः प्रकटिता
प्रसिद्ध-क्षेत्राणां भ्रमणमपि येन प्रकटितम् ।

हरेर्धाम्नां नाम्नां सव-सकल-माहात्म्यमपि च
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥८॥
तथा 'जन्माद्यस्य'—प्रथमतर-पद्यस्य मधुरा
कृता त्रिंशद्व्याख्या विवृतिरपरा भागवतभाक् ।
तथा ज्योतिर्वित्सु प्रथमतर-ज्योतिर्विदपि यः
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥९॥
तथा पञ्चोपास्तेरपि खलु हरेर्भक्तिरधिका
सदा कार्या रूपाऽनुगतिपरलोकैस्तदुदिता ।
इतीमं सिद्धान्तं प्रकटमपि चक्रे जगति यः
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥१०॥
भुवि भ्रामं भ्रामं परिभवति यो नास्तिकचयं
कथा द्वारा नित्यं सुखयतितरामास्तिकचयम् ।
हरेस्तत्त्वज्ञो यो भवति नितरामेव च पुरा
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥११॥
भुवि भ्रामं भ्रामं श्रुतिशरचयैर्नास्तिक-मृगाः
कृताः पापारण्यान्नरक-भयदाद् धर्मवनगाः ।
न यत्राऽऽस्ते भीतिः शमन-मृगयु-त्यक्तशरजा
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥१२॥
श्रुतीनां पत्री नास्तिक-मदविनाशाय लिखिता
तथा भक्तिग्रन्थेष्वपि बहुषु टीका विलिखिताः ।
तथा येन श्रीभागवत-सुविमर्शो विरचितः
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥१३॥
सदा स्वादं स्वादं सितहरि-कथा-कीर्तन-रसं
प्रियैर्भक्तै रात्रिन्दिवमपि च यो नैव बुबुधे ।
तथा वै यस्याऽजागरुरखिल-शास्त्राणि हृदये
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥१४॥
सदों विष्णोः पाद-प्रतिम-पवनो यः समुदितः
स्वरूप-श्रीरूपानुग-विमल-लिद्धान्त-सरणिः ।
तथा श्रीराधाया-दयित-दयितः प्रेमजलधिः
स आचार्यत्वेम स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥१५॥
हरेश्चैतन्यस्य प्रबलकृपया पूरिततनु-
स्तथा धीराऽधीराश्रित-निरभिमानो भवति यः ।

हरेर्गौराङ्गस्य स्मरणगुणतो जातजडिमा
स आचार्यत्वेन स्फुरतु प्रभुपादो मम पुरः ॥१६॥
स्मृतेः स्तोत्रं चैतत् प्रथित-प्रभुपादस्य विमलं
शरीरी यो नित्यं पठति मुदितो भावसहितः ।
गुरौ तस्य प्रीतिर्भवति विमला भावविपुला
तथा श्रीमद्राधा-रमण-करुणा-भाजनपि ॥१७॥
श्रीभक्तिसिद्धान्तसरस्वतीति-,नाम्नां हरेर्नाम-प्रचारकाणाम् ।
स्तोत्रं स्मृतेः संलिखति स्म भक्त्या, महाकविः श्रीवनमालिदासः ॥१८॥

श्रीस्वामि-हरिदास-स्तुतिः

यद्भक्तिभाव-वशतः प्रकटो विहारी, ह्यद्यापि यस्य सुयशः प्रकटीकरोति ।
श्रीआशुधीर-तनयो विनयोक्तिपूर्णः, सोऽयं सदा विजयतां हरिदासवर्यः ॥१॥
इच्छाद्वैतमताचायः सर्वाचार्य-प्रकाशकः ।
रसिकाचार्यवर्योऽयं मयि कृपयतु प्रभुः ॥२॥

भारत-संस्कृति-प्रशंसा—

यामास्थाय समस्त-मस्तकमणिर्जायेत जीवोऽधमो
यस्या रक्षण-रक्षितो विमलधीः स्वर्गेऽपि सम्पूज्यते ।
पारे व्योम्नि विराजते च सततं यस्याः समालोचनात्
सैषा भारत-संस्कृतिर्विजयतामित्यन्तराशास्महे ॥१॥

दशकुमारचरितोक्त-दशकुमाराणां नामानि—

श्रीराजवाहनः पूर्वं प्रमितिश्च ततः परम् ।
मन्त्रगुप्तो मित्रगुप्तो विश्रुतश्च ततः परम् ॥१॥
पुष्पोद्भवश्चाप्यपहारवर्मा, श्रीसोमदत्तोऽप्युपहारवर्मा ।
इमान् कुमारान् दशमार्थपालाँ-,ल्लिलेख विद्वान् वनमालिदासः ॥२॥

'कल्याण'-पत्रिकाया आदि संपादकस्य श्रीहनुमान्प्रसाद-पोद्दारस्य अभिनन्दनम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०२६

यस्योपदेशनिवहैर्भगवत्प्रसादः, संजायते मनसि तिष्ठति नो विषादः ।
यस्यैव भावनिवहं जनताऽऽससाद, सोऽयं सदा जयति भो ! हनुमत्प्रसादः ॥१॥
कल्याणमावहति यस्य निदेशभाजां, 'कल्याण'-पत्रमखिले जगति प्रशस्तम् ।
गोरक्षनामनि पुरेऽपि प्रकाशमानं, सोऽयं सदा जयति भो ! हनुमत्प्रसादः ॥२॥
अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीयुत-हनुमत्प्रसाद-पोद्दारम् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥३॥

श्रीस्वामि-गङ्गेश्वरानन्दाऽभिनन्दनम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०३०

स जयति श्रौतमुनीति, विख्यातो ह्याश्रमो जगति ।
यस्यप्राङ्गणमध्ये, नृत्यति श्रौतः सुसिद्धान्तः ॥१॥
गङ्गेश्वरानन्दमहोदया इमे, वेदान्तसिद्धान्तनितान्तपारगाः ;
एषां हि सौजन्यबलेन शोभते, श्रीवेदमूर्तेरधिका प्रतिष्ठा ॥२॥
एषां समक्षे किमु वक्तुमीशो, भवामि चात्यन्तसुमन्दबुद्धिः ।
तथापि सौशील्यमहो अमीषां, वक्तुं मुदा मां मुखरीकरोति ॥३॥
सर्वेषां पयसां समुद्रसलिले यद्वद्धि सम्मेलनं
श्रीमद्भागवते समस्तनिगमार्थानां हि सम्मेलनम् ।
नानादेशभुवां नृणां खलु यथा दिल्ल्यां हि सम्मेलनं
भात्येतत्तदिव प्रकाण्डविदुषां श्रीवेदसम्मेलनम् ॥४॥
अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीयुत-गङ्गेश्वरानन्दान् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥५॥

श्रीहरेकृष्णशास्त्री की वंशीपर सम्मतिः—

निर्माणकालः—वि० सं० २०३०

श्रीबाबूरामेत्युपसंज्ञकस्य, श्रीमद्हरेकृष्ण-महोदयस्य ।
मनो हरत्येव जनस्य 'वंशी', वंशीधरस्याशु सुवंशिकेव ॥१॥

सुदामाकुटीरे श्रीसीताराम-प्रतिष्ठायां समागतानां सर्वेषां महानुभावानां सुस्वागतम्—

निर्माणकालः—वि० सं० २०३०

समागता ये शुभ-चित्रकूटात्, साकेततो येऽपि च दिव्यधाम्नः ।
वृन्दावनाद् ये च महानुभावाः, सुस्वागतं सर्वजनस्य कुर्वे ॥१॥
श्रीकृष्णचन्द्रमित्रस्य सुदाम्नस्तु यथा पुरा ।
स्थितिरास्ते तथैवाऽस्य रामचन्द्रपरात्मनः ॥२॥
सुदामा श्रीकृष्णं सहचरतया पूर्वमभजत्
सुदामा श्रीरामं पुनरपि च सोऽयं भजति किम् ।
सुदामा साधूनां परिचरणतः प्राप सुयशो
न सेवा साधूनां व्रजति हि कदाचिद् विफलताम् ॥३॥
गंगादासो नृत्यगोपालदासो, द्वावप्येतौ साधुसेवानिमग्नौ ।
अन्येऽप्येते साधु-सन्तो महान्तः, केषां न स्युर्वन्दनीयास्त्रिकालम् ॥४॥

आयुर्वेदाचार्यः, श्रीयुतबलरामदासोऽयम् ।
श्रीमान् परमानन्दो, यजमानो मुख्यतां यातः ।।५।।

अनिन्दति रतिपूर्वं, सर्वानन्यान् समागतान् महतः ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ।।६।।

श्रीकृष्ण-स्तोत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०३०

यो वै चिन्तामणिमयतले कल्पवृक्षावृतेऽस्मिन्
वृन्दारण्ये सकलसुरभीः पालयत्येव नित्यम् ।
भक्तैर्दृश्यो विहरति सदा गोप-गोपीभिरेव
सोऽयं कृष्णो जयति नितरां ब्रह्म ज्योतिः स्वरूपम् ।।१।।

देवैः सर्वैः श्रुतिभिरखिलैः साधुभिः सर्वदैव
पूज्यो वन्द्यः सरसमनसा ध्यातपादारविन्दः ।
वेदैर्वेद्यः सम-निगमविद् वेद वेदान्तकृद् यः
सोऽयं कृष्णो जयति नितरां ब्रह्म ज्योतिः स्वरूपम् ।।२।।

विश्वं चेदं सृजति निखिलं ब्रह्मरूपेण यो वै
सर्वाञ्जीवानवति सततं विष्णुरूपेण पूर्णः ।
यः सर्वं संहरति समये शंकरः सन् कपर्दी
सोऽयं कृष्णो जयति नितरां ब्रह्म ज्योतिः स्वरूपम् ।।३।।

वेदैर्लभ्यो भवति न च यः प्रेममात्रैकलभ्यो
नैवाधिक्यं नहि न समतां येन कोऽपीह धत्ते ।
यस्मात् तत्त्वं नहि परतरं किञ्चिदस्तीह लोके
सोऽयं कृष्णो जयति नितरां ब्रह्म ज्योतिः स्वरूपम् ।।४।।

दिव्यं यस्य प्रकटमखिलं जन्मकर्मादिरूपं
हेयाभावाद् भवति ननु यः सच्चिदानन्दरूपः ।
तस्मादुक्तो भवति निगमैर्निर्गुणो निर्विकारः
सोऽयं कृष्णो जयति नितरां ब्रह्म ज्योतिः स्वरूपम् ।।५।।

यो वै कृष्णं भजति नितरां पूर्वरूपेण मत्वा
तस्यैवाऽऽस्ते सकलमवनौ सार्थकं जन्म कर्म ।
ज्ञानी ध्यानी भवति कथितो दिव्यकर्मा महात्मा
तस्यैवाऽयं भवति विदितो ब्रह्म ज्योतिः स्वरूपम् ।।६।।

श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू-प्रकाशन-समये भारतशिक्षामन्त्रालयाऽध्यक्षं प्रति विज्ञप्तिः—

निर्माणकालः—वि० सं० २०३०

वस्तूनां द्विगुणं क्षणं क्षणमहो मूल्यं वरीवृध्यते
चेतःप्राङ्गण-सङ्गिनी-विकलता नित्यं नरीनृत्यते।
स्वास्थ्यं मे विमलं जरा बलवती वेगाज्जरीगृह्यते
किन्त्वेका भवतां प्रकाश-विधये स्वाशा वरीवृत्यते ॥१॥

श्रीस्वतःप्रकाश-स्तोत्रम्

अर्थात्—'श्रीहरि बाबा' की स्तुतिः

निर्माणकालः—वि० सं० २०३१ भाद्रपद द्वादशी

हरि हरि हरिरिति कथनाद्, 'हरिबाबा' इत्युपाधिमायातः।
तं श्रीस्वतःप्रकाशं, स्वात्माभासं नमस्यामः ॥१॥
एकत्रदेशेऽपि प्रकाशमायन्, समस्तदेशं स्वप्रकाशयुक्तम्।
चकार नाम्नैव हरेरजस्रं, स्वतःप्रकाशं तमहं नमामि ॥२॥
गवाँदि-ग्रामेषु निरीक्ष्य गंगा-,प्रवाह-मग्नान् बहु-जीवसंघान्।
बबन्ध गंगां निज-प्रेमरज्ज्वा, स्वतःप्रकाशं तमहं नमामि ॥३॥
हस्ते गृहीत्वा हरिकीर्ति-घण्टां, नृत्यन् हि यो नर्तयति स्म सर्वान्।
प्रेम्णा प्रगायन् हरिनाममन्त्रं, स्वतःप्रकाशं तमहं नमामि ॥४॥
रिक्तश्च जन्मावधि लोकभावैः, पूर्णः सदा श्रीहरि-भक्तिभावैः।
विनम्रतायाः परिपूर्ण-मूर्तिः, स्वतःप्रकाशं तमहं नमामि ॥५॥
ततान गौराङ्गहरेः पदाब्जे, भक्तैर्वितानं बहु भृङ्गवद् यः।
तस्यैव लीलाऽभिनयादिभावैः, स्वतःप्रकाशं तमहं नमामि ॥६॥
नीचीन-भावेन मुखेन तिष्ठन्, प्रोच्चैः सतां चेतसि यः प्रविष्टः।
विनम्रभावं भजतां तनोति, स्वतःप्रकाशं तमहं नमामि ॥७॥
हरे कृष्णेत्युच्चैर्निगदति सदा प्रेम-विवशः
कदाचिद् रामेति प्रणयविकलो गौर इति च।
सदा भक्तैर्भावैर्विकलित-तनुः स्तम्भ-प्रमुखैः
तमेतं गौराङ्ग-प्रणय-विवशं नौमि सततम् ॥८॥
स्वतःप्रकाशस्य हि स्तोत्रमेतं, पठत्यपूर्वं बहु-भावपूर्वम्।
हरेरनन्तस्य पदारविन्दे, स्वतःप्रकाशं हि समाप्नुयात् सः ॥९॥
एकाग्निशून्यकर-सम्मित-विक्रमाब्दे, वृन्दावने हरिदिने शुभ-भाद्रमासे।
वृन्दाटवी-वसति-लब्ध-कवित्वशक्तिः,स्तोत्रं त्विदं रचितवान् वनमालिदासः॥१०

श्रीराम-कृष्णयोरैक्य-निदर्शन-स्थले श्रीवृन्दावने दीयमानं

अभिनन्दन-पत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०३१ फाल्गुन

श्रीमद्भागवत-परमहंस-परिव्राजकाचार्यवर्य ! वर्यसमस्त-शास्त्रपारावार-पारदृश्व-यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानाद्यष्टाङ्ग-योगानुष्ठाननिष्ठ ! निष्ठजन इव श्रीहरिहरानन्दमय-पादारविन्द-द्वन्द्व-मकरन्द-मिलिन्दवर ! वरचरित ! चरितानुरञ्जितसाधुलोक ! लोकख्यात-यशः-शीतकर ! करभाजन इव करभाजन ! सभाजनसभाजित ! जित-नास्तिकलोक ! लोकलोकान्तरख्यात-सनातनधर्मरक्षणैकदीक्षागुरो! स्वामिन्! श्रीमते दीयमानमभिनन्दनपत्रमिदं सादरमङ्गीक्रियतम्—

सनातनं धर्ममिहोपदर्शयन्, आनन्दसिन्धुं परितः प्रवर्धयन् ।
समन्ततो नास्तिकलोकमर्दयन्, विराजते श्रीकरपात्र-साधुराट् ॥१॥
निजसनातन-धर्मरिरक्षिषा-,वशत एव हरिः स्वयमागतः ।
इति विचारपरैर्व्रजवासिभिः, सविनयं यतिराडभिनन्द्यते ॥२॥
तुलसिदास-महात्मवराय यद्, भगवता खलु दर्शितमादरात् ।
मुरलिकाधरके निजरूपके, रघुवरस्य धनुर्धररूपकम् ॥३॥
स्थलस्य तस्यैव पुनः प्रकाशे, समागतानां करभाजनानाम् ।
वृन्दावने रामनिदर्श-केते, सुस्वागतं भो ! वयमाचरामः ॥४॥
यत्र सन्दर्शितं रूपं वृन्दावन-विहारिणा ।
ज्ञानकन्था-स्थलं तद् वै श्रीसाकेतविहारिणः ॥५॥
गवेषणं यस्य सुदीर्घकालं, कृतं सयत्नं मनुजैरनेकैः ।
प्रमाण-बाहुल्य-निदर्शनेन, प्राचीकटत् तद् बलराममिश्रः ॥६॥
अभिनन्दति रतिपूर्वं, श्रीयुत-करपात्र-संज्ञया विदितान् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥७॥

संस्कृत-प्रशस्तिः

निर्माणकालः—वि० सं० २०३१ चैत्र कृष्ण

संस्कृतं देवभाषा भोः श्वासरूपं च ब्रह्मणः ।
सर्वदा सर्वलोकेषु चैकरूपं विराजते ॥१॥

वेदोपवेदोपनिषत्समूहः, सूत्राणि सर्वाण्यपि संस्कृते वै ।
स्मृतीतिहासाश्च पुराणजातं, तथैव सर्वाण्यपि दर्शनानि ।
मन्त्राश्च तन्त्राण्यपि यन्त्रकाणि, सुनीति-शास्त्राणि च नाटकानि ॥२॥

खगोल-भूगोल-कगोलकं च, सामुद्रिकं वैद्यकमर्थशास्त्रम् ।
यत्किंच भूतं च भवद् भविष्यद्, विज्ञायते संस्कृत एव सर्वम् ।।३।।
अलौकिकं लौकिकमर्थजातं, ज्ञानं सविज्ञानमथापवर्ग्यम् ।
ब्रह्मात्मतत्त्वं प्रकृतेश्चतत्त्वं, विशिष्टतत्त्वं च समस्ततत्त्वम् ।।४।।
तस्मात् समस्तैरपि सर्वतत्त्व-,विज्ञातुकामैर्मनुजैः सयत्नम् ।
यथाधिकारं पठनीयमेव, सुसंस्कृतं संस्कृतिरक्षणाय ।।५।।
इदानीन्तनानां जनानां विचित्रा, दशा वर्तते खेदयत्येव विज्ञान् ।
पठन्तीह नो पाठयन्त्येव सम्यक्, ततस्ते निजाऽज्ञानतां ख्यापयन्ति ।।६।।
तस्मात् सर्वैर्भारते भारतेऽस्मिन्, दिव्या भव्या भारती पाठनीया ।
त्यक्त्वाऽऽलस्यं मानसं वा विरोधं, संघीभूयैवाऽऽशु कार्यं विधेयम् ।।७।।

श्रीभगवत्कृपा का महत्त्व एवं स्वरूप

[लेखक—महाकवि श्रीवनमालिदास शास्त्री, वृन्दावन]

'पृथ्वी'—नामकं छन्दः

समस्त-पुरुषार्थतः पृथुतमा सतां सम्मता
समस्तजनतारिणी प्रतिसमीक्ष्यमाणैव या ।
हरिं निजवशे यथा शुभ-यशोदयाकारिणी
हरेर्हृदि विहारिणी भगवतः कृपा तां नुमः ।।

हम सब भक्तजन, भगवान् की उस कृपा को बारम्बार नमस्कार करते हैं कि, जो भगवत्कृपा, शास्त्रों के मर्मज्ञ सन्तों की दृष्टि में, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप समस्त पुरुषार्थों की अपेक्षा, अतिशय श्रेष्ठ मानी गयी है, एवं जो प्रतीक्षा करनेमात्र से ही समस्त जनों का उद्धार करनेवाली है; एवं जो अपनी स्वतन्त्र शक्ति की प्रेरणा से, मङ्गलमयी श्रीयशोदा मैया के द्वारा, श्रीहरि को भी अपने वश में करनेवाली है; तथा सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा जो भगवत्कृपा, श्रीहरि के हृदय-प्राङ्गण में, सदा विहार करनेवाली है ।

इस श्लोक की विशिष्ट व्याख्या—

"श्रीचैतन्यमहाप्रभु और भगवत्कृपा" इस शीर्षकवाले लेख में 'श्रीभगवत्कृपा-अङ्क' में प्रकाशित है ।

'कल्याण'-पत्रिकायाः प्रधान-सम्पादकस्य साधुशिरोमणेः श्रीरामसुखदासस्य

अभिनन्दन-पत्रम्

निर्माणकालः—वि० सं० २०३३

स जयति साधुशिरोमणिः, स्वामि-श्रीलरामसुखदासाख्यः ।
रामस्नेह-चितात्मा, श्रीकृष्णानन्द-मग्नो यः ।।१।।

श्रीरामचन्द्र-पदपङ्कज-राजहंसः, श्रीकृष्णचन्द्र-पदपङ्कज-राजभृङ्गः।
भक्तिप्रचारण-कलाकुशलो य आस्ते, तं स्वामिरामसुखदासमहं नतोऽस्मि ॥२
गीता-भाषाभाष्यमाविश्चकार, सौम्याकारः कर्मसंविद्-विहारः।
वैराग्याक्तः साधुवृत्तः सुचित्तः, श्रीगीतायास्तत्त्ववेत्ता सुवित्तः ॥३
यः सर्वशास्त्र-परिशीलनजागरूकः, सत्सर्वशास्त्र-हृदयङ्गम-वावदूकः।
सन्मात्र-देवपरितर्पण-यायजूक-,स्तं स्वामिरामसुखदासमहं नतोऽस्मि ॥४
सत्पादपङ्कज-पराग-सुरक्त-भृङ्गः, सत्सेवनीयचरणोऽपि विरक्तसङ्गः।
आद्यन्तमध्यवयसाऽऽहृतगाङ्गसङ्गः, सोऽयं सदा जयतु भक्तिकजे पतङ्ग ॥५
यद्भक्ति-दानसवनं स्ववनं चकार, यस्योपदेशनिचयं जनता जगार।
अद्यापि यस्य भुवि चास्ति गुण-प्रचारः, सोऽयं सदा जयतु सत्सुकृतोपचारः ॥६

उदासीनो जन्मावधि भवरमाद् भक्तिमधुरो
वदान्यो मान्यो वा शिविसम उतारो बलिरिव।
अपारोदारो यो सुरधुनिविहारो गज इव
सदा सत्सेवी यः स हरिसुखदासो विजयताम् ॥७॥

भुवि भ्रामं भ्रामं हरिगुरुगुणग्राममलं
सदा गायं गायं सुखयति मुहुर्भक्तिरसिकान्।
अमानी मानेनाऽपरजनगणं मानयति यः
सतां सेवालीनः स हरिसुखदासो विजयताम् ॥८॥

श्रीमन्माधव-तत्त्व-चिन्तनपरो वेदान्तचिन्तामणिः
स्नेहाऽऽब्वेन्दुरभावनोदनपरः शंका-कलंकान्तकृत्।
सिद्धान्तं हरिभक्तिसाधकतमं संस्थापयन् भूतले
स्वामी रामसुखः सदा विजयतां कल्याण-सम्पादकः ॥९॥

येनोक्तां सुकथां विचार्य मनुजो हर्षाम्बुधौ मज्जति
यं दृष्ट्वा निखिलाघमुक्तिसहितः सम्प्राप्नुयाद् दृक्फलम्।
सङ्गं यस्य विधाय दैववशतः किं किं न सम्प्राप्नुयात्
स्वामी रामसुखः सदा विजयतां कल्याण-सम्पादकः ॥१०॥

यदङ्घ्रिनखमण्डलं हृदि कृतं सुसत्सेवकै-
र्विनाशयति हृत्तमः प्रबलशक्तिमद् भानुवत्।
य एवमपि सर्वदा भजति नम्रता-कम्रतां
स रामसुखदासको जयति साधु-संसन्मणिः। ११॥

ममोपरि कृपालुतां निरभिमानितां दर्शयन्
तनोति निरपेक्षया सहजदीन-वात्सल्यतः।

य एवमपि सर्वदा भजति राधिका-माधवं
स रामसुखदासको जयति साधु-संसन्मणिः ॥१२॥
आयुर्वेदाचार्यवर्यो महात्मा, रामद्वाराऽध्यक्ष-संस्थापकश्च ।
दूरादेव स्नेहमय्याऽऽत्मदृष्ट्या, शक्तं भक्तं नीरुजं मां करोतु ॥१३॥
अभिनन्दति रतिपूर्वं, स्वामिनं रामसुखदास-नामानम् ।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्यः ॥१४॥

श्रीपूर्णानन्दतीर्थ (श्रीउड़ियाबाबाजी) जन्म-शताब्दी-महोत्सवे

कृता स्तुतिः

निर्माणकालः--वि० सं० २०३१ जन्माष्टमी

स जयति पूर्णानन्दो, नैज-शताब्दीमहोत्सवानन्दैः ।
आनन्दयति हि सर्वान्, नानाभावान् सतः पुरुषान् ॥१॥
श्रीपूर्णानन्दतीर्थोऽयं श्रीपूर्णानन्दतीर्थभाक् ।
श्रीपूर्णानन्दतीर्थानां श्रीपूर्णानन्दतीर्थदः ॥२॥
अखण्डानन्दपूर्णो योऽखण्डानन्दसरस्वती ।
संचालकश्च सर्वस्य मयि कृपयतु प्रभुः ॥३॥

श्रीमद्वनमालि-त्रितयम्

येषां काव्य-विनिर्मितौ पटुतरा मेधा वरीवृत्यते
येषां वैष्णवशास्त्रतत्त्वमखिलं चेतो जरीगृह्यते ।
तान् सर्वश्रुतिवेदिनो गुरुवरानाप्तुं शुभाशीर्वचः
श्रीश्रीमद्वनमालिशास्त्रिचरणान् संस्तौम्यहं केशवः ॥१॥
येषां काव्य-सुसौरभं बुधजनस्वान्तं चरीकृष्यते
येषां श्रीव्रजराजसूनुचरितं चित्ते नरीनृत्यते ।
येषां काव्यमभीक्ष्य काव्यरचनागर्वो दनीध्वस्यते
तान्श्रीमद्वनमालिशास्त्रिचरणान् संस्तौम्यहं केशवः ॥२॥
येषां वाचि सरस्वती प्रतिदिनं शुद्धा प्रतेष्ठीयते
येषां नाम निशम्य सद्गुणयुतं चेतः प्रसासद्यते ।
वृन्दारण्य-निवास एव सततं चित्तेन यैः काम्यते
तान् श्रीमद्वनमालिशास्त्रिचरणान् संस्तौम्यहं केशवः ॥३॥
येषां सरस्वती वश्या तेषां किल महात्मनाम् ।
कवीन्द्राणां त्रिभिः पद्यैर्नूनमलपायते स्तुतिः ॥४॥

तत्रभवतां भवतां कृपाकटाक्षलवाभिलाषुकः केशवशरणः

॥ श्रीराधाकुंजविहारिणे नमः ॥

॥ श्रीमते निम्बार्काचार्याय नमः ॥

श्रीपञ्चामृतम्

संग्राहक :

श्री श्री १०८ स्वामी श्रीचक्रपाणिशरण देवाचार्यजी महाराज

★

सम्पादक :

महाकविः श्रीवनमालिदास शास्त्री

★

प्रकाशक :

श्रीचतुर्भुजदासः युगल भवन, वृन्दावन

वि० सं० २०२८

प्रति १०००

न्योछावर

प्रेमपूर्वक पाठ

श्रीसर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन।

॥ सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम् ॥

भूमिका

विकराल कलिकाल कुठार जन्य आघात से सदा सर्वदा बचने के लिये सर्वतोभावेन श्रीहरि चरणारविन्द छत्र छाया में, आश्रित हो जाने के सिवाय श्रुति-स्मृति पुराणादि तथा सन्त महापुरुष आदि कोई भी अन्य उपाय स्पष्टतया नहीं बतलाते हैं। श्रुति स्मृतियों का परम उद्देश्य मुख्यावृत्ति द्वारा केवल श्रीभगवच्चरणाश्रित होने में ही है। जैसे "यद्बिभेति स्वयं भयम्" जिस परमात्मा से काल भी स्वयं भयभीत होता है। तथा, यत्र निवर्तते भीः—जिस परमात्मा के शरण जाने पर काल रूपी भय स्वयमेव लौट आता है। भगवत् साधक उनके शरणागत होने पर ही भगवत्प्रेमरूपी दिव्य औषध का नित्य पान कर सकता है। जिस दवाई को नित्य सेवन करने से कालरूपी भयङ्कर रोग का प्रवेश, उनके ऊपर नहीं हो सकता है। उस दिव्य अमूल्य वस्तु रहने का आश्रय स्थान भी शास्त्रों में दिव्य अमृत'अमर' स्वरूप बताया गया है। अतः उस अमृत (अमर) स्वरूप

आश्रय स्थान का लेखक द्वारा यहाँ पर पाँच रूप में विभाजन किया गया है। जिनकी नामावली इस प्रकार है । वृन्दावनमहिमामृत, वैष्णवमहिमामृत, भगवन्नाममहिमामृत, गुरुमहिमामृत, सत्सङ्गमहिमामृत, धाम द्वारा ही धामी का सूक्ष्म स्वरूप ज्ञान होता है । अतएव धामी का निज धाम के ऊपर ममताधिक्य रहता है । अतः भगवत्प्रेम प्राप्ति के लिए भगवद्धामाश्रित हो जाना साधकों का परम कर्तव्य है । इसी उद्देश्य को लेकर लेखक द्वारा सर्वप्रथम वृन्दावन-महिमामृत दर्शाया गया है । कोई भी उपासक उपासना बिना उपास्य वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता है । जो निज इष्ट प्राप्ति के लिए आचार्य परम्परागत साधन पद्धति को अपना कर आगे बढ़ता है वही अविलम्बतया इष्ट वस्तु को प्राप्त कर सकता है । अतः इष्ट प्राप्ति के लिए परम्परागत वैष्णव धर्म का आश्रय लेना साधकों का परम कर्तव्य है । इसी उद्देश्य को लेकर लेखक द्वारा यहाँ वैष्णव महिमामृत दर्शाया गया है । किसी मनुष्य का नाम लेने पर वह नाम स्वयं खड़ा होकर उत्तर नहीं देता है, वल्कि उस नाम का अभिमानी पुरुष खड़ा होकर उत्तर देता है । इसी हेतु से नाम और नामी में अभेदत्व सिद्ध होता है ।

अतः भगवत्प्राप्ति के लिए दिन रात भगवन्नाम संकीर्तन करना साधकों का परम कर्तव्य है। इसी उद्देश्य को लेकर लेखक द्वारा यहाँ 'भगवन्नाम महिमामृत' दर्शाया गया है। किसी को भी यदि अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचना है, तब उस मार्ग के अनुभवी व्यक्ति से पूछ-कर उनके उपदेशानुकूल चलने से लक्ष्य स्थान पर पहुँच सकता है। अतः भगवत्प्रेम प्राप्ति के लिए उस मार्ग के अनुभवी सत्गुरु के शरण में साधक को अवश्यमेव जाना चाहिए। इस उद्देश्य को लेकर लेखक द्वारा "गुरुमहिमामृत" दर्शाया गया है। किसी वस्तु में यदि अखण्ड प्रेम करना हो तो उस वस्तु की अखण्ड चर्चा से ही केवल अखण्ड प्रेम हो सकता है। अतः अखण्ड भगवत्प्रेम प्राप्ति के लिए अखण्ड भगव-च्चर्या होनी अनिवार्य है। सन्त महापुरुष को छोड़कर अन्यत्र अखण्ड भगवच्चर्चा नहीं होती है। अतः सन्त महापुरुषों का सङ्गत करना साधकों के लिए परम कर्तव्य है। इसी उद्देश्य को लेकर लेखक द्वारा यहाँ "सत्सङ्ग महिमामृत" दर्शाया गया है। उपरोक्त पाँच प्रकार के दिव्य रसमय अमृत सेवन द्वारा भगवत्साधक सदा के लिए अमर हो जाता है। अतः लेखक द्वारा इस ग्रन्थ का नाम "पञ्चामृत" रखा गया है। मुझे

विश्वास है कि कोई भी साधक स्वकीय आत्म कल्याण के लिए इस ग्रन्थ का सुन्दर अध्ययन करके इसी मार्ग को अनुसरण करने से वह अविलम्बतया लक्ष्य वस्तु को प्राप्त कर लेता है। अतः साधकवर्ग उपरोक्त "पञ्चामृत" को नित्य सेवन करेंगे, यही मेरा करवद्ध विनम्र निवेदन है।

भवदीय—

चक्रपाणिशरण

काका काको धन हरे, कोयल काको देय।
मीठी वानी बोल के, जग अपनो कर लेय॥
वेला न कुवेला घरि २ आउने।
विश्वासः फलदायकः।

* श्रीराधाकुंजविहारिणे नमः *

मङ्गलाचरण

श्रीमद्हंससमारम्भां सनकादिश्चमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्य्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरंपराम् ॥१॥
वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिंधुभ्य एव च ।
पतितानां पापनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥२॥
वृन्दावनकलानाथौ हृदयानन्दवर्द्धनौ ।
सुखदौ राधिकाकृष्णौ भजेऽहं कुञ्जगामिनौ ॥३॥

श्रीवृन्दावन महिमामृत

अनाथजनपावनं सकलपापविद्रावणं
महारतिसुधाभरैः सकलचित्तविद्रावणम् ।
महेशकृतभावनं सहरिराधिकाजीवनं
महापतितपावनं जयति धाम वृन्दावन् ॥१॥
विशुद्धसत्त्वपरमे श्रीमद्वृन्दावन ! त्वयि ।
कृतानन्तापराधस्य त्वमेव शरणंमम ॥२॥
नित्यं कामः किमपि कुरुते दुःसहां मर्मपीड़ा-
मान्ध्यंक्रोधः किमपि कुरुते क्षोभयेल्लोभ उच्चैः ।
दम्भासूयामदपिशुनतामत्सराद्यैः सुपूर्णः-
स्वार्थात्भ्रष्टस्त्वदिह शरणंयामि वृन्दावन ! त्वाम ॥३

गृहान्धकूपे पतितं कदा मा,मुद्धृत्यमूढं कृपयास्वयैव ।
कामादिकालाहिगर्णनिगीर्णं,
मातेव वृन्दाटपि ! न्यस्यसेऽङ्कम् ॥४॥

श्रीवृन्दावन मम पावनं त्वमेव,
श्रीवृन्दावन मम जीवनं त्वमेव ।
श्रीवृन्दावन मम भूषणं त्वमेव,
श्रीवृन्दावन मम सद्यशः त्वमेव ॥५॥

श्रीवृन्दावनकुञ्जभूषण ! सदा वृन्दावनाविष्टधीः
श्रीवृन्दावननागरोन्मदमहा प्रेमान्धराधाङ्कगः
श्रीवृन्दावनमोहन ! स्मरसदावृन्दाटवी जोवन
श्रीवृन्दावनचन्द्रखेल ममहृद्व्यञ्जन्निकुञ्जेऽनिशम् ॥६॥

रुददपि पितृमातृवन्धुपुत्रा,-
दिकमपहाय निशम्यनार्हदुक्तीः ।
हृदि परमकठोरतां दधानो,
द्रुतमवलोकय कृष्णकेलिकुञ्जम् ॥७॥

अनादौ संसारे कति नरकभोगा न विहिताः
कियन्तो व्रह्मेन्द्राद्यतुलसुखभोगाश्च न कृताः ।
तदस्मिन्नेकस्मिन् वपुषि सुखदुःखे न गणयन्
सदैव श्रीवृन्दावनमखिलसारं भज सखे ! ॥८॥

दुःखान्येव सुखानि विदध्यपयशोजानीहि कीर्तिं परां
मन्येथाअधमैश्च दुष्परिभवान्सन्मानवत् सत्तमैः ।

दैन्यादेव महाविभूतिमतिसल्लाभानलाभान् सदा
पापान्येव च पुण्यवन्ति यदि ते वृन्दावनं जीदनन् ॥६

अरे शीघ्रं शीघ्रं सुतधनकलत्रादिममता–
प्रतानेकालोऽयं नहि वपुरिदं मृत्यनुगतम् ।
समस्तालभ्याना परमिदमलभ्यं स्वकृपया
भुवि व्यक्तं वृन्दाविपिनमभिधावाऽतिहठतः ॥१०॥

वृन्दाटव्यामटनमिहचेत् कोटितीर्थाटनैः किं
पक्ष्यादीनां यदि रुतमिहार्काणि तत्तु श्रुतैः किम् ।
वृक्षाद्याख्याप्रकथनरुचौ स्तोत्र मंत्रादिकैः किं
दृष्टिर्यत्र क्वचिदिह रता चेदलं ध्यानलक्षैः ॥११॥

त्यक्त्वा वृन्दावनमिदमहो चेद् बहिर्यासि नूनं
क्षिप्त्वा कल्पद्रुमवरवनं हन्त शाखोटमेषि
हित्वा वृन्दावनरसकथामन्यवार्त्तारुचिश्चेत्
ज्ञातं क्षिप्त्वा परमममृतं भोक्तुमिच्छुः श्वविष्ठाम् ॥१२

ऐसे प्रमाण बहुत हैं ।

श्रीवृन्दावन सतलीला में श्रीध्रुवदासजी कहते हैं—

वृन्दावन वैभव जितौ, तितौ कह्यौ नहिं जात ।
देखत संपति विपिन की, कमला हू ललचात ॥१॥

वृन्दावन की लता सम, कोटि कल्प तरु नाहिं ।
रज की तुल वैकुण्ठ नहीं, और लोक किहि माहिं ॥२॥

शिव विधि उद्धव सबनि के, यह आशा हैं चित्त ।
गुल्म लता ह्वै शिर धरैं, वृन्दावन रज नित्त ॥३॥
लोक चतुर्दश ठकुरई, संपति सकल समेत ।
सब तजि वस वृन्दाविपिन, रसिकन को रस खेत ॥४॥
छाड़ि स्वाद सुख देह के, और जगत की लाज ।
मर्नहि मारि तन हारि कैं, वृन्दावन में गाज ॥५॥
वृन्दावन के वास कौ, जिनके नाहिं हुलास ।
माता मित्र सुतादि तिय, तजि ध्रुव तिनकौ पास ॥६॥
वृन्दावन के बसतहीं, अन्तर करे जो आन ।
तिहि सम शत्रु न और कोउ, मन वचकै यह जान ॥७॥
और देश के वसत ही, अधिक भजन जो होइ ।
इहि सम नहि पूजत तऊ, वृन्दावन रहे सोइ ॥८॥
वसिये वृन्दाविपिन में, जिहि तिहि विधि दृढ़ होइ ।
नहि चूकै ऐसो समै, जतन कीजिये सोइ ॥९॥
नहि सो माता पिता नहि, मित्र पुत्र कोउ नाहिं ।
इनमें जो अन्तर करै, बसत वृन्दावन माहि ॥१०॥
नाते जेते जगत के, ते सब मिथ्या मानि ।
सत्य नित्य आनन्दमय, वृन्दावन पहिचानि ॥११॥
बसिके वृन्दाविपिन में, ऐसे मन में राख ।
प्राण तजौं वन ना तजौं, कहो बात कोउ लाख ॥१२॥

खण्ड खण्ड होइ जाइ तन, अंग अंग सत टूक ।
वृन्दावन नहिं छाड़िये, छाड़िवो है बड़ि चूक ॥१३॥
वृन्दावन इहि विधि बसै, तजि कै सब अभिमान ।
तृण ते नीचो आपको, जाने सोई सयान ॥१४॥
कोमल चित्त सबसौं मिलै, कबहुं कठोर न होई ।
निस्प्रेही निरवैरता, ताको शत्रु न कोई ॥१५॥
वसिकै वृन्दाविपिन में, इतनौ बड़ो सयान ।
युगल चरण के भजन बिनु,निमिष न दीजै जान ॥१६॥

श्रीश्रीभट्टदेवजी महाराज कहते हैं—

रे मन वृन्दाविपिन निहार ।
यद्यपि मिले कोटि चिन्तामणि, तदपि न हाथ पसार ॥
विपिन राज सीमा के बाहिर, हरि हू को न निहार ।
जय श्रीभट्ट धूलि धूसर तन, यह आसा उर धार ॥१॥

राधा-सप्तशती ग्रन्थे—

धिक् पानमशनं धिक् धिक् शयनं जीवनं च धिक् ।
मरणं शरणं चैकं श्रीवृन्दाविपिनं विना ॥१॥
हे वृन्दावन हे निकुञ्जपरिधे हे रासलीलाङ्गण !
हे श्रीधाम धराविभूषण ! सतां सर्वस्व ! प्राणप्रिय ! ।
हे वृन्दारकवृन्दवन्दित ! यशोदानन्दनानन्दद !
हे माधुर्यमहोदधे ! गुणनिधे ! मां दीनमानन्दय ॥२॥

स्नातं च तेनाखिलतीर्थतोये
दत्ता च सर्वा धरणी द्विजेभ्यः ।
प्रीत्या च सर्वानयजिष्ट यज्ञान्
वृन्दावने यः क्षणमप्यवात्सीत् ॥३॥

भागवते–आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

ऐसे बहुत प्रमाण हैं ।

अथ वैष्णव महिमामृत

ब्रह्माण्डपुराणे उमामहेश्वरसंवादे वैष्णवमहिमा–

तीर्थस्नानफलं व्यर्थं महादानफलं तथा ।
अवैष्णवस्य विप्रस्य कर्म व्यर्थं भविष्यति ॥१॥

यत्कण्ठे तुलसी नास्ति ते नरा मूढमानसाः ।
अन्नं विष्ठा जलं मूत्रं पीयूषं रुधिर भवेत् ॥२॥

स्कान्दे–यज्ञोपवीतषद्धार्या कण्ठे तुलसिमालिका ।
नाशौचं धारणे तस्या यतः सा ब्रह्मरूपीणोति ॥३॥

यजुर्वेद हिरण्यकेशिशाखायाम्–
हरेःपदाकृतिमात्मनोहिताय मध्ये छिद्रमूर्द्ध्वपुंड्रं-

यो धारयति स परस्य प्रियो भवति स पुण्यवान् भवति-स मुक्तिभाग् भवति—इति ।।४।।

पाद्मे श्रीनारदेनोक्तम्—

ऊद्ध्र्वपुंड्र विहीनस्तु संध्या - धर्मादिकं चरेत् ।
तत्सर्वं राक्षसं नित्यं नरकं चाधि गच्छति ।।५।।

स्कान्दे—अछिद्रमूद्ध्र्वपुंड्रं तु ये कुर्वन्ति द्विजाधमाः ।
तेषां ललाटे सततं शुनः पादो न संशयः ।।६।।

न दत्त्वा हरये भक्त्या भुञ्जते चेद् प्रमादपि ।
पुरीषं सदृशं वस्तु जलं मूत्रसमं भवेत् ।।७।।

अदीक्षितस्य वामोरु ! कृतं सर्वमनर्थकम् ।
पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाहीनो मृतो नरः ।।

आस्फोटयन्तिपितरः प्रनृत्यन्ति पितामहाः ।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति ।।८।।

पूर्वान् सप्त परान् सप्त सप्त मातामहादिकान् ।
सोदरानुद्धरेद् भक्तः स्वप्रसूं च प्रसूप्रसूम् ।।९।।

गारुड़े—धारयन्ति न ये मालां हैतुकाः पापबुद्धय ।
नरकान् विनिवर्त्तन्ते दग्धा कोपाग्निना हरेः ।।१०।।

महाकुलप्रसुतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः ।।११।।

नारदपंचरात्रे—

वैष्णवानां त्रयं कर्म दया जीवेषु नारद ।
श्रीगोविन्दे पराभक्तिस्तदीयानां समर्चनम् ।।१२।।

आदिपुराणे—

शंख चक्रोद्ध्र्वपुंड्रादि–रहितं ब्राह्मणाधमम् ।
गर्दभं तु समारोप्य राजा राष्ट्रात्प्रवासयेत् ।।१३।।

पद्मपुराण–उ० ख०—

उद्ध्र्वपुंड्र-धरं विप्रं दृष्ट्वा पापैः प्रमुच्यते ।
नाम स्मृत्वा तथा भक्त्या सर्वदान-फलं लभेत् ।।१४।।

।। इति वैष्णव-महिमामृतम् ।।

भगवन्नाम महिमामृत

विष्णुधर्मग्रन्थे—

कृष्णेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते ।
भष्मीभवन्ति तस्याशु महापातक-कोटयः ।।१।।

वराहपुराणे प्रह्लादवलि संवादे—

अतीताः पुरुषाःसप्त भविष्याश्च चतुर्दश ।
नरस्तारयते सर्वान् कलौ कृष्णेति कीर्त्तनात् ।।२।।
हरेर्नामानि संजल्पन् प्रकरोति प्रदक्षिणाम् ।
पदे पदे स लभते कपिलादानजं फलम् ।।३।।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥४॥
गो–कोटिदानं ग्रहणेषु काश्यां,
माघे प्रयागे यदि कल्पवासः ।
यज्ञायुतं मेरु - सुवर्णदानं,
गोविन्द-नाम्ना न भवेच्च तुल्यम् ॥५॥
नाम लियो जिन सब कियो, योग यज्ञ आचार ।
जप तप तीरथ परशुराम सबैं नाम की लार ॥६॥
वाद विवाद विष घना बोले बहुत उपाध ।
मौन गहे सबकी सहे सुमिरे नाम अगाध ॥७॥
नाम भजो मन वस करो यही बात है सन्त ।
काहे को पढ पच मरो कोटिन ज्ञान ग्रन्थ ॥८॥
नारायण तू भजन कर कहा करेंगे कूर ।
अस्तुति निन्दा जगत की दोऊन के मुख धूर ॥९॥
तेरे भावे कुछ करो भलो बुरो संसार ।
नारायण तू बैठि के अपनो भवन बुहार ॥१०॥
नारायण हरि भजन में, ये पांचों न सुहात ।
विषय भोग निन्दा हंसी, जगत प्रीति बहु बात ॥११॥

भैया नाम के बराबर तो कोई वस्तु नहीं है, नाम अपराध से बच के नाम जपना चाहिये ।

प्रश्न—भैयाजी नाम अपराध कितने हैं—

उ०—सन्तों की निन्दा १-ठाकुरजी के नाम में छोटा बड़ा भेद भाव मानना २-गुरु का अपमान ३-शास्त्र निन्दा ४-नाम में अर्थवाद ५-नाम के आश्रय लेके पाप करना ६-धर्म व्रत यज्ञादि को नाम से तुलना करना ७-अश्रद्धालु को उपदेश करना ८-नाम महात्म्य सुनके भी प्रेम न करना ९-अहंकार ममता विषय भोगादि में आसक्त रहना १०-गुरु महाराजजी से मौन रहना ११-नाम अपराध से बच के नाम जपना चाहिये ॥

श्रीगुरुमहिमामृत चौपाई

श्रीगुरुदेव चरण चित लावौ ।
हृदय ध्यान धरि शीश नवावौ ॥१॥
करि अस्तुति प्ररिक्रमा दीजै ।
तन मन धन सब अर्पण कीजै ॥२॥
गुरु हैं ब्रह्मा सुर तेतोसा ।
गुरु बिन जानै को जगदीशा ॥३॥
गुरु हैं नेम धर्म सब केरा ।
गुरु हैं आवागमन निवेरा ॥४॥
गुरु हैं सब तीर्थ व्रत पूजा ।
गुरु बिना और नहीं हरि दूजा ॥५॥

गुरु त्यागी जो और गुण गावै ।
सो सूधो यमपुर को जावै ॥६॥
गुरु मंत्र हृदय न धरहीं ।
सहज जाइ नरक में परहीं ॥७॥
गुरु मंत्र को करै जो त्यागा ।
निकसी कोढ़ सो मरै अभागा ॥८॥
सात जन्म कोढ़ी को पावै ।
गुरु निन्दा जो सुनै सुनावै ॥९॥
गुरु निन्दा जाके मुख होई ।
ताको मुख देखो मति कोई ॥१०॥
हरि रूठे तो गुरु बचावै ।
गुरु रूठे कहूँ ठौर न पावै ॥११॥

प्रमाण—हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न कश्चनः ।

गुरु विनु सकल क्रिया जग माहीं ।
भक्ति मुक्ति फल उपजत नाहीं ॥१२॥
ताते प्रथम गुरु कौ मानै ।
गुरु के वचन हृदय में आनै ॥१३॥
निशि दिन गुरु को ध्यान करिये ।
गुरु मंत्र जप सदा करिये ॥१४॥
गुरु के वचन मानिये प्यारे ।
गुरु गोविन्द मत जानो न्यारे ॥१५॥

गुरु चरणामृत पिवो मन लाई ।
गुरु उच्छिष्ट पाये गति भाई ॥१६॥
श्रीगुरु चरण नित करि सेवा ।
गुरु गोविन्द एक ही देवा ॥१७॥
गुरु सेवा से परम पद पावै ।
गुरु सेवा मिथ्या नहिं जावै ॥१८॥
गुरु सौं विमुख सो अति अज्ञानी ।
विषय वासना सों रुचि मानि ॥१९॥
गुरु महिमा को को कही आवै ।
शेष महेश पार नहीं पावै ॥२०॥
शिव सनकादिक मुनि शुकदेवा ।
नारद शारद उहै न भेवा ॥२१॥
गुरु आवत आगे ह्वै लावै ।
विदा होत पहुँचावन जावै ॥२२॥
ध्यान मूल गुरु मूरति जानो ।
पूजा मूल गुरू पद मानो ॥२३॥
मंत्र मूल गुरु वाक्य विचारो ।
भक्ति अमल गुरू वदन निहारो ॥२४॥
गुरु मूरति को करिये ध्याना ।
गुरु चरित्र नित पढ़ै सुजाना ॥२५॥

गुरु सौं वाद करै नर कोई ।
ह्न कर तू कर जीतै जोई ।।२६।।
अगम घोर जंगल में जावै ।
विकट ब्रह्म राक्षस गति पावै ।।२७।।
जो कछु वस्तु भली करि जानै ।
गुरुहि अर्पि मन अति सुख मानै ।।२८।।
गुरु करौ दक्ष सवर्ज्ञ रसीलौ ।
विरक्त और वनराज वसीलौ ।।२९।।
तन मन धन अपनो कछु नाहीं ।
गुरु गुरु सुमर लेहु मन माहीं ।।३०।।
सात समुद्र करै मसियानी ।
लेखनी भार अठारहो जानी ।।३०।।
कागज भूमि समस्त बनावै ।
सकल पात वृक्षन के लावै ।।३१।।
वरनै सहस्त्र सारदा आई ।
लिखै कोटि चतुरानन धाई ।।३२।।
गुरु महिमा को पार न पावै ।
शेष सहस्त्र युग अमित जु गावै ।।३३।।
एक दिन हरि पास गये नारद ।
ज्ञान भक्ति में सर्व विशारद ।।३४।।

हाथ जोरि विन्ती हरि सौं करे।
मोहि गुरु महिमा बतावहु हरे ॥३५॥
प्रसन्न भये हरि सुनि नारद वानी।
कहो नारद सौं तुम भक्ति पहचानो ॥३६॥
गुरु बिनु है जग में कछु नाहीं।
गुरु ही सर्वस्व मानो मन माहीं ॥३७॥
गुरु पूजा मेरी सम होई।
यामें संदेह नहीं कोई ॥३८॥
गुरु के अभक्त जे नर नारी।
तिन मुख देखत दोष अति भारी ॥३९॥
गुरु करी निन्दा जे नर करहीं।
ते नर घोर नरक में परहीं ॥४०॥
गुरु भक्त मोय लगे अति प्यारो।
गुरु भक्त से न होऊँ मैं न्यारो ॥४१॥
गुरु भक्त को निन्दा जे करहीं।
ते नर घोर नरक में परहीं ॥४२॥
गुरु सेवा को मोते अधिक मानो।
गुरु सेवा में ही मेरी सेवा जानो ॥४३॥
गुरु को मन लै करो सेवा।
अपनो सर्वस्व जानो गुरुदेवा ॥४४॥

सत् गुरु को कीजै सत-संग ।
सत्गुरु बिना मिले न प्रेम रंग ।।४५।।
मेरी सेवा भजन में जो लगावे ।
सो गुरु ही सद्गुरु कहावे ।।४६।।
सद्गुरु की गारी मारि सब सहिये ।
सद्गुरु के संग सदा रहिये ।।४७।।
सद्गुरु को स्वार्थी मत ठानो ।
सद्गुरु को मोते अधिक मानो ।।४८।।
सर्व वेद पुराण को सार ।
कही हमने सब स्वविचार ।।४९।।
सुनी हरि की जब यह वानी ।
नारद तवहों सद्गुरु पहचानी ।।५०।।
हाथ जोरि विन्ती हरि सौं करे ।
जय जय जय श्रीगुरुदेव उच्चरे ।।५१।।

।। इति श्रीगुरुमहिमामृत ।।

दीक्षातत्वप्रकाशे—

गुर्वर्थं यस्य प्राणादि यौवनं धनमेव च ।
आत्माऽऽत्मीयेषु निर्विण्णोऽधिकारी सम्यगीर्यते ।।

शरीरं वासु विज्ञानं वासः कर्म गुणानसून् ।
गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः ।।

श्रीनारद वाक्यम्—

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यबुद्धिः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥

॥ इति ॥

सत्सङ्ग महिमामृत

प्रश्न—भैयाजी ठाकुरजी की सेवा भजन में मन कैसे लगेगा ।

उ०—सुनो भैया-निष्कपट भाव से ठाकुरजी की सेवा भजन करने वाले जो सन्त हैं उनकी सेवा करो और सत्संग करो, सत्संग उनसे करना । सुनो—

इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस रीति ।
मिलिये तहाँ निसंक ह्वै, कीजिये तिन सौं प्रीति ॥

और इष्ट, समय, मार्ग, विचार करके सत्संग करना, जिससे भविष्य में दुःख न हो । सत्संग के बराबर कोई भी नहीं है । सुनो—

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुर्हरेत् ।
पापं तापं तथा दैन्यं सद्यः साधुसमागमः ॥१॥

प्र०—भैयाजी कौन कौन वस्तु को त्याग करें—

उ०—सुनो भैया-काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषय में आसक्ति का संग, विषय भोग की चर्चा,

निन्दा, बहुवात, अधिक निन्दा, अपनी बड़ाई, दूसरे की वस्तु में लोभ, संसारी से प्रेम, ईर्ष्या, मत्सर ये सब भजन में विघ्नकारी हैं। इन सबको सावधान होके त्यागने की चेष्टा करना।

लोभमूलानि पापानि रसमूलानि व्याधयः।
स्नेहमूलानि दुःखानि तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥

और—दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः। दुःसंग को सब तरह से त्यागना चाहिये। दुःसंग कहने से केवल दुष्ट मनुष्यों का संग मात्र नहीं है, काम क्रोध लोभ मोह विषयी का संग ये सब दुःसंग हैं। इन सबको सावधान होके त्यागने का प्रयत्न करना चाहिये। और हर समय भजन सेवा करनी चाहिये।

प्र०—भैयाजी भजन किसको कहते हैं।

उ०—भजसेवायाम्—भजन का अर्थ है—सेवा। प्रेम से ठाकुरजी की सेवा करना और ठाकुरजी की सेवा में आसक्त जो महात्मा हैं उनके संग सत्संग करना और शक्ति अनुसार उनकी सेवा करना।

प्र०—भैयाजी सेवा क्या है—

उ०—भैया, "सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" सेवा धर्म बहुत गुप्त है बड़े २ योगी लोग भी सेवा धर्म को नहीं समझ सकते हैं तो हम क्या समझ

सकें—हाँ हम तो इतने ही जानते हैं प्रेम से प्रभु की समय अनुसार सेवा करना, जिह्वा से नाम जपना, सर्वाङ्ग सेवा में लगाना उसी का नाम भजन है।
तुलसीदासजी कहते हैं—

वारि मथे घृत होय बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल॥

प्र० मैं सुन्दर नहीं हूँ,संपति भी नहीं है, आचार-विचार भी नहीं जानता हूँ, उ० सुनो भैया—प्रभु को तो भक्ति ही प्यारी है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयोविद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।
जातिःका विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्
भक्त्या तुष्यति केवलं न तु गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

प्र०—भैयाजी कीर्तन का मृदङ्ग क्या कह रहा है—

उ०—सुनो—

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ
धिक्तान् धिक्तान् धिगेतान् कथयति
सततं कीर्त्तनस्थो मृदंगः॥

प्र०—भैयाजी भजन कैसे करें।

उ०—सुनो-अमृत का भोजन करो, गद्दा में सोओ, किला में रहो।

प्र०—भैयाजी मरने के बाद संग में क्या जाता है।

उ०–धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनाःश्मसाने।
देहश्चितायां परलोक-मार्गे
कर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

गोकर्णजी अपने पिताजी से कहते हैं—

असारः खलु संसारो दुखरूपी विमोहकः।
सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवान् ज्वलतेऽनिशम्॥
न चेन्द्रस्य सुखं किञ्चित् न सुखं चक्रवर्त्तिनः।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्त-जीविनः॥२॥
मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं मोहतो नरके गतिः।
निष्पतिष्यति देहोऽयं सर्वं त्यक्त्वा वनं व्रज॥३॥
तद्वाक्यं तु समाकर्ण्य गन्तुकामः पिताऽब्रवीत्।
किं कर्तव्यं वने तात! तत्वं वद सविस्तरम्॥
अन्धकूपे स्नेहपाशे बद्धः पङ्गुरहं शठः।
कर्मणा पतितो नूनं मामुद्धर दयानिधे॥५॥

गोकर्ण उवाच—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं,
जाया-सुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं,
वैराग्य-राग-रसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥६॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोक-धर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि काम-तृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवा-कथा-रसमहो नितरां पिब त्वम् ॥७॥
एवं सुतोक्तिवशतोपि गृहं विहाय,
यातो वनं स्थिरमतिर्गतषष्टिवर्षः ।
युक्तो हरेरनुदिनं परिचर्यासौ,
श्रीकृष्णमाप नियतं दशमस्य पाठात् ॥८॥

प्र०—मनुष्यों का परम धर्म क्या है ।

उ०—सवै पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति ॥९॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयात्यासु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥१०॥
जातिर्विद्या महत्वं च रूपयौवनमेव च ।
यत्नेन परितस्त्याज्या पंचैते भक्तिकंटकाः ॥

ये पांच भक्ति के कांटे हैं ।

श्रीगुरु चरणामृत पान करने का मन्त्र—

अज्ञानतिमिर–हरं सर्व-मंगल-दायकम् ।
श्रीकृष्णाङ्घ्रिप्रदं नित्यं श्रीगुरोश्चरणामृतम् ॥

तुलसी उतारने का मन्त्र—

तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया ।
केशवार्थे चिनोमि त्वां वरदा भव शोभने ! ॥

प्र०—भैयाजी कितने शास्त्र हैं और कौन शास्त्र को मानें—

उ०—अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्या,
स्वल्पश्च कालो बहुविघ्नता च ।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं,
हंसै र्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मंत्रस्तस्य नामानि यानि,
कर्माण्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥

यस्मिञ्छास्त्रे पुराणे वा हरिभक्तिर्न दृश्यते ।
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत् ॥

चतुराई चूल्हे परौ, भार परौ आचार ।
तुलसी हरि के भजन बिन, चारौं वर्ण चमार ॥
अर्व खर्व लौं सम्पति, उदय अस्त लौं राज ।
तुलसी हरि के भजन बिन, सवै नरक को साज ॥

प्रेमी प्रेमी सब कहें, प्रेम को जाने न कोई।
करे करावे जो भजन, सांचो प्रेमी सोई ॥

शस्त्रवद् घातकं शास्त्रं—कीनाशमिव मानुषम्।
गुणाढ्यमपि जानीहि येन राधा न कीर्तिता ॥

पर निन्दा के किये ते, आवत नहीं कछु हाथ।
मूरख पर्वत पाप कौ, लै चल्यौ अपने साथ ॥
भक्तनि निन्दा अति बुरी, भूलि करो जिन कोई।
किये सुकृत सब जन्म के, क्षण में डारत खोई ॥
और सकल अघ मुचन कौ, नाम उपाय है नीक।
भक्त द्रोह को यतन नहीं, होत वज्र की लीक ॥
निन्दा भक्तन की सुनै, करत है जे अघ राशि।
वे तो एकै सँग दोउ, बँधत भानु सुत पाशि ॥
जब लग मन छाड़त नहीं, सब बातन को लोभ।
तब लग हिये उपजत नहीं, युगल प्रेम को गोभ ॥
साधु सताये हानि त्रय, धर्म अर्थ अरु वंश।
टीला नीके देखिये, कौरव रावण कंस ॥
भूल चूक सब रसिकजन, लीजै आप सुधार।
जड़ मति हीन दीन अति, राखौ चरन मझार ॥

यह पञ्चामृत पढ़े सुने जो कोई।
तिनके हृदय में निश्चय प्रेम भक्ति होई ॥

॥ इति पञ्चामृतम् ॥